महात्मा गांधी के धर्म-दर्शन
को
आलोचनात्मक व्याख्या

(इलाहाबाद विश्वविद्यालय की डी० फिल्० उपाधि हेतु प्रस्तुत)

•

शोध-प्रबंध

•

निर्देशक
डा० शिवशंकर राय
एम्० ए०, डी० लिट्०

•

प्रस्तुतकर्त्री
विजयश्री पाण्डेय
एम्० ए०

•

दर्शन विभाग
इलाहाबाद विश्वविद्यालय
इलाहाबाद

•

१९७३

प्राक्कथन

प्राक्कथन

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध का शीर्षक महात्मा गांधी के धर्म-दर्शन की आलोचनात्मक विवेचना है. इसमें मैंने महात्मा गांधी के धर्म-दर्शन की सुव्यवस्थित, तुलनात्मक एवं आलोचनात्मक व्याख्या प्रस्तुत की है. आलोचनात्मक व्याख्या का संकुचित अर्थ मात्र आलोचना हो सकता है, किन्तु दार्शनिक पृष्ठभूमि में किसी भी सिद्धान्त की सही-सही व्याख्या, उसकी तुलनात्मक विवेचना एवं उसका सही मूल्यांकन करना आलोचनात्मक अध्ययन कहा जा सकता है. यहाँ विस्तृत अर्थ में आलोचना शब्द का प्रयोग किया गया है.

प्लेटो की तरह महात्मा गांधी के विचार भी विविध स्थलों पर बिखरे हुए हैं. बुद्ध और सुकरात, ईसामसीह और गांधी ने दर्शन को लिखा नहीं, बल्कि दर्शन को जीवन में प्रयुक्त किया. उनके प्रशंसकों का कार्य यह है कि उनके दर्शन को व्यवस्थित करें और उसकी विवेचना करें. गांधी ने कोई भी दर्शन की पुस्तक नहीं लिखी, बल्कि धार्मिक सिद्धान्त उनकी जीवन-गाथा, उनके भाषणों में, उनके लेखों में भरे पड़े हैं. मैंने उन सब का अध्ययन करके महात्मा गांधी के धर्म-दर्शन को एक व्यवस्थित रूप दिया है.

वर्तमान युग की यह विशेषता है कि मानव अत्यधिक बौद्धिक हो गया है. जो धर्म या धर्म-दर्शन बुद्धि को ग्राह्य नहीं है, उसे आधुनिक युग का मानव स्वीकार नहीं करता. इस कारण मैंने ऐसा विचार किया कि महात्मा गांधी की धार्मिक अनुभूतियों एवं नैतिक सत्यों की बौद्धिक विवेचना की जाय. आधुनिक दर्शन में बुद्धि का प्रमुख स्थान है. तर्क की कसौटी पर सभी सत्यों को कसा जाता है और जो बुद्धि की कसौटी पर खरा नहीं उतरता उसे दार्शनिक

अग्राह्य बतलाते हैं, इस कारण मैंने आलोचनात्मक विधि का प्रयोग किया है तथा उनके धर्म-दर्शन को बुद्धिसम्मत एवं तर्क सम्मत रूप दिया है. दूसरी बात है कि मैंने गांधी के धर्म-दर्शन में तुलनात्मक विधि का प्रयोग किया है. महात्मा गांधी के धर्म-दर्शन के सम्बन्ध में तुलनात्मक विधि अत्यन्त ही उपयोगी प्रतीत हुई. महात्मा गांधी का धर्म विश्व के अन्य धर्मों से प्रभावित है. ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म, बौद्ध आदि का स्पष्ट छाप उनके धर्म पर परिलक्षित होता है. यहां पर आवश्यकतानुसार मैंने प्राचीन एवं अर्वाचीन पश्चिमी तथा पूर्वी धार्मिक तथ्यों की तुलनात्मक विवेचना की है. पूर्वी विचारों का पश्चिमी विचारों से तुलना महात्मा गांधी के धर्म-दर्शन के लिए आवश्यक है. तुलनात्मक अध्ययन इस कारण भी उपयोगी प्रतीत होता है कि सभी धर्म आंशिक सत्य को प्रस्तुत करते हैं और ईश्वर पूर्ण एवं एक है, जिसे भिन्न-भिन्न धर्मवेत्ताओं ने भिन्न-भिन्न रूप दिया है. महात्मा गांधी इस बात को स्पष्ट रूप से घोषित करते हैं कि सभी धर्म एक ही सत्य की ओर इंगित करते हैं.

इस शोध कार्य को मैंने छः परिच्छेदों में विभाजित किया है. पहला परिच्छेद भूमिका है. इसमें गांधी के जीवन, व्यक्तित्व, उनके दर्शन का विकास एवं भारतीय स्रोत तथा पश्चिमी स्रोत को बताने की चेष्टा की गई है. गांधी के धर्म-दर्शन के तथ्यों को उपनिषद्, भगवद्गीता, बौद्ध, जैन धर्म जैसे भारतीय स्रोतों से जोड़ने की चेष्टा की है. पुनः गांधी के विचारों की थोरो, रस्किन, टालस्टाय, ईसाई धर्म तथा इस्लाम धर्म से भी तुलना की गई है. दूसरे परिच्छेद में मैंने धर्म-दर्शन क्या है, धर्म-दर्शन का इतिहास, धर्म-दर्शन और ईश्वर-शास्त्र के सम्बन्धों को तथा धर्म और दर्शन के भेद को बताने का प्रयास किया है. तीसरे परिच्छेद में धर्म का स्वरूप, धर्म की उत्पत्ति एवं विकास, धर्म की परिभाषायें एवं गांधी का धर्म-विचार प्रस्तुत किया है. पुनः धार्मिक मनुष्य का स्वरूप, बुद्धि एवं श्रद्धा का सम्बन्ध, महात्मा गांधी का नैतिक धर्म एवं उनकी धार्मिक अनुभूति की भी विवेचना की गई है. चौथे परिच्छेद में ईश्वर का स्वरूप

क्या है ? ईश्वर की सत्ता के प्रमाण, क्या ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है ? ईश्वर और मानव, ईश्वर और विश्व, प्रार्थना की उपयोगिता, ईश्वर को पाने के साधन एवं रामनाम की उपयोगिता की चर्चा की गई है. पांचवें परिच्छेद में चरम सत्ता, सत्य का स्वरूप, सत्य ही ईश्वर है-- इन समस्याओं का अध्ययन किया गया है. छठवें परिच्छेद में आत्मा के स्वरूप की विवेचना की गई है. आत्मा और ईश्वर, देह और आत्मा के सम्बन्ध को बतलाया गया है, संकल्प-स्वातन्त्र्य, अशुभ विचार, कर्म सिद्धान्त, आत्मा की अमरता, पुनर्जन्म, मोक्ष जैसी समस्याओं पर विस्तृत विचार किया है. तत्पश्चात् शोध कार्य का निष्कर्ष है. जिसमें महात्मा गांधी को एक धार्मिक दार्शनिक के रूप में स्थापित करते हुए उनकी मौलिक देन का उल्लेख किया है. अन्त में सहायक ग्रन्थ-सूची दी गई है, जिसमें प्रयुक्त पुस्तकों की सूची है.

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध श्रद्धेय डा० शिवशंकर राय जी, दर्शन विभाग, इलाहाबाद विश्वविद्यालय के सुयोग्य निर्देशन में लिखा गया है. उन्होंने न केवल अनेक कठिनाइयों में प्रोत्साहन ही दिया, वरन् अत्यन्त व्यस्त समय में से पर्याप्त समय निकाल कर शोध-प्रबन्ध को भली भांति पढ़ा और उचित परामर्श दिया. श्रद्धेय डाक्टर साहब के ही बहुमूल्य सहयोग एवं समुचित निर्देशन के फलस्वरूप ही प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध को प्रेषित करते हुए उनके प्रति अपनी अगाध श्रद्धा व्यक्त कर रही हूं. पूजनीया चाची जी (श्रीमती राय) की मैं अत्यन्त आभारी हूं, जिन्होंने स्नेहपूर्वक समय-समय पर मुझे प्रेरणा दी और अनेक सुझाव दिये.

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध में मेरे पति डा० रमेशचन्द्र, पटना विश्व-विद्यालय, पटना का अमोघ योगदान रहा है, उनके प्रति कुछ भी व्यक्त करना औपचारिकता सिद्ध होगा, यह शोध-प्रबन्ध उन्हीं की सतत् प्रेरणा और सत्प्रयास द्वारा प्रेषित कर पाई हूं.

इलाहाबाद विश्वविद्यालय के श्री कुंवरदेव सिंह के प्रति मैं आभारी हूं, जिन्होंने अपने सुझावों तथा सहायता से मुझे अनुगृहीत किया है.

ा रामहित त्रिपाठी, 'विशारद', हिन्दी टंकक को मैं आभारी हूं, जिन्होंने
स्तुत शोध-प्रबन्ध को सुव्यवस्थित ढंग से टंकित कर मेरी पर्याप्त सहायता
ा है.

मैं इलाहाबाद विश्वविद्यालय पुस्तकालय, पब्लिक लाइब्रेरी,
गानाथ झा पुस्तकालय के कर्मचारियों के सहयोग के प्रति आभार प्रकट करती
. गांधी भवन के निदेशक एवं पुस्तकाध्यक्ष के प्रति भी अपना आभार व्यक्त
रती हूं.

मैं यूनिवर्सिटी ग्राण्ट्स कमीशन के प्रति आभार प्रकट करती
, जिसने मुझे जूनियर रिसर्च फेलोशिप प्रदान कर मेरे इस कार्य को सम्पन्न
रने में मुझे सहयोग दिया है.

उन लेखकों एवं विद्वानों के प्रति भी आभारी हूं, जिनकी
तियों की सहायता से यह कार्य सम्पन्न हो सका है. उन सब के प्रति भी
तज्ञता ज्ञापित करना आवश्यक है, जिन्होंने जाने-अनजाने पुस्तकों की
यवस्था की है अथवा विचार-विमर्श में सहायता प्रदान की है.

अन्तत: मैं इस बात को स्वीकार करती हूं कि मानव त्रुटियों
ा अछूता नहीं रहता और इसमें जो भी त्रुटियां रह गई हों, उनका एकमात्र
ायित्व मुझपर ही है. विद्वज्जनों की सेवा में यह शोध-प्रबन्ध प्रेषित
र उनकी सहृदयता की अपेक्षा रखती हूं.

विनम्र

दिनांक १६७३६० (विजयश्री पाण्डेय)

-0-

विषयानुक्रमणिका

विषयानुक्रमणिका

-0-

प्रथम अध्याय

-0-

भूमिका

(१) जीवन और व्यक्तित्व

(२) गांधी का दर्शन : उसका विकास-क्रम

(३) भारतीय स्रोत --

गांधी और उपनिषद्

महात्मा गांधी और भगवद्गीता

महात्मा गांधी और बौद्ध धर्म

गांधी और जैन धर्म

(४) पश्चिमी स्रोत --

गांधी और थोरो

गांधी और रस्किन

गांधी और टाल्सटाय

महात्मा गांधी और ईसाई धर्म

महात्मा गांधी तथा इस्लाम

-0-

प्रथम अध्याय

-0-

भूमिका

(१) जीवन और व्यक्तित्व

भारतवर्ष में अनेक महापुरुष अवतरित हुए और उन लोगों ने यहां के जीवन को समृद्ध किया. इन महापुरुषों को अन्तिम कड़ी के रूप में और भविष्य में आने वाले महापुरुषों में प्रथम गिने जाने वाले गांधीजी हैं. डा० भगवानदास ने अपनी पुस्तक गांधी अभिनन्दन में कहा है --"बीसवीं शताब्दी के इन अन्तिम चालीस वर्षों का मनुष्य-जाति का तूफानी इतिहास केवल बीस-बाईस नामों का ही खेल है । इनमें से आधे से कम आज भी जीवित हैं । महात्मा गांधी केवल उनमें से एक ही नहीं हैं, अपितु उनमें भी अद्वितीय हैं । कारण कि वह स्वयं राजनीति और अर्थशास्त्र के क्षेत्र में अहिंसक आध्यात्मिकता के एकमात्र पुजारी हैं । बुद्ध को छोड़कर भारतीय इतिहास में ऐसा कोई भी व्यक्ति नहीं दिखाई पड़ता, जो नैतिक शक्ति में गांधीजी से बड़ा हो, अथवा उनके बराबर भी हो । 'वर्तमान' को सदा ही बहुत महत्त्व दिया जाता है, इसलिए जब हमारा वर्तमान युग बीतकर 'भूतकाल' बन जायेगा, शायद तभी यह संभव हो सके कि भावी इतिहासकार कुछ ऐसे व्यक्तियों के नामों का उल्लेख कर सकें, जो महात्मा गांधी के बराबर हों, यह बात जरूर है कि गांधीजी के साथ इन भिन्न-भिन्न ऐतिहासिक पुरुषों की तुलना करते समय इस बात का ध्यान रखना पड़ेगा कि ये लोग विभिन्न युगों में हुए हैं, और इनकी परिस्थितियां भिन्न-भिन्न थीं और उनके लक्ष्य भी और और थे । परन्तु आज महात्मा गांधी की टक्कर का दूसरा व्यक्तित्व नहीं ।[१] गांधीजी ऐसे महापुरुष हैं, जिनके व्यक्तित्व में पुरातन परम्परा का फल और नूतन परम्परा का बीज एकसाथ प्राप्त होता है.

गांधीजी का जन्म पोरबंदर, सुदामापुरी काठियावाड़ में २ अक्टूबर

१८६६ ईसवी को हुआ. महात्मा गांधी जाति के वणिक थे. उत्तमचन्द गांधी उर्फ ओता गांधी उनके दादा थे. ओता गांधी की पहली पत्नी से चार तथा दूसरी पत्नी से दो लड़के हुए. इन छ: भाइयों में पांचवें का नाम कर्मचन्द गांधी उर्फ कबा गांधी था, जो पोरबंदर में प्रधानमन्त्री थे. कर्मचन्द गांधी की चार शादियां हुईं. चौथी पत्नी ही महात्मा गांधी की माता थीं. उनका नाम पुतली बाई था. गांधी जी की माता एक साध्वी स्त्री थीं. वे बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति की स्त्री थीं.

महात्मा गांधी का विकास एक साधारण बालक की तरह हुआ. पढ़ने में गांधीजी तेज नहीं थे, परन्तु ईमानदारी से काम करने वाले थे. वे सदाचार के पालन पर बहुत ज़ोर देते थे. सत्यवादी हरिश्चन्द्र और श्रवण-पितृ-भक्ति इन दो नाटकों का गांधीजी पर बहुत प्रभाव पड़ा. हरिश्चन्द्र की कथा से उन्होंने सत्य के पालन का महत्त्व समझा और आजन्म उसका पालन किया. श्रवण की कथा सुनकर माता-पिता की सेवा का व्रत उन्होंने अन्त तक निभाया.

गांधीजी ने धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने पर ज़ोर दिया. गांधीजी ने तुलसीदास रचित रामायण को धार्मिक साहित्यों में श्रेष्ठ माना. राजकोट में भागवत् का पाठ प्रत्येक एकादशी को होता था. गांधीजी के अनुसार भागवत् धार्मिकता को जगा सकता है.

राजकोट में गांधीजी को हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्मों के बारे में भी थोड़ी जानकारी का अवसर प्राप्त हुआ. उनके माता-पिता शिव तथा राम के मंदिरों में भी जाते थे. जैन ऋषि भी गांधीजी के पिता के पास आते थे. वे लोग धार्मिक तथा व्यावहारिक बातें भी करते थे. मुसलमान तथा पारसी लोग भी गांधीजी के पिता के मित्र थे. वे लोग अपने-अपने धर्मों के बारे में बातें किया करते थे. गांधीजी अपने पिता के सम्पर्क में रहे, अत: उनपर इन सभी का बहुत प्रभाव पड़ा.

गांधीजी हर तरह की साधना को श्रद्धा से ग्रहण करते थे. साधु-संतों के अनुभवों पर और वचनों पर उनकी असीम श्रद्धा थी. लेकिन जिस किसी भी चीज़ को उन्होंने स्वीकार किया, उसे तर्क,बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर कसे बिना वे नहीं रहे.

लोक सेवा करते हुए गांधीजी ने जो कुछ भी राज-काज का और राजनीति का अध्ययन किया, उसके कारण उनकी व्यवहार कुशलता बड़ी ही तीव्र हुई. यह व्यवहारकुशलता उन्हें जो कुछ भी मार्ग सुझाती थी,उसपर चलने से पहले गांधीजी

उन बातों को सत्य और अहिंसा की कसौटी पर अच्छी तरह कसकर देखते थे. सत्य और अहिंसा की कसौटी पर जो खरी न उतरी उनका त्याग करने में वे कभी भी संकोच नहीं करते थे. सब धर्मों के प्रति, शास्त्रों के प्रति, साधु-सत्पुरुषों के वचनों के प्रति असीम आदर रखते हुए भी उनकी अनन्य निष्ठा तो सत्य नारायण के प्रति ही थी. इस निष्ठा का पालन करते हुए उनमें कर्मयोग की कुशलता आ गई थी. योग: कर्मसु कौशलम् इस व्याख्या के अनुसार उनकी सत्य निष्ठा ने उनको योगी बना दिया. अपने चित्त को संभालना यह जो व्रत था उन्होंने इसका पालन जीवनपर्यन्त किया.

गांधी जी की विशेषता यह है कि उनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि के अनुसार देखता है. किसी की दृष्टि में वे दार्शनिक हैं, तो किसी की दृष्टि में एक धार्मिक पुरुष. कोई उन्हें एक समाज-सुधारक मानता है तो कोई एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, किसी को वह एक क्रान्तिकारी मालूम पड़ते हैं, तो किसी को एक महात्मा अथवा ईश्वर का अवतार और इतना ही नहीं, गांधी जी को पाखंडी, एक धर्म विरोधी राजनीति के क्षेत्र में एक अराजनीतिज्ञ और एक प्रतिक्रियावादी के रूप में देखने वाले व्यक्ति भी हैं. इस प्रकार लोगों ने उन्हें विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा और समझा. पर सच बात तो यह है कि महात्मा गांधी ने जीवन का कोई पक्ष नहीं छोड़ा, चाहे उसका संबंध नीति और सदाचार से हो, चाहे कला और साहित्य से और चाहे विज्ञान और राजनीति से, जिसे उन्होंने एक नई दिशा में न मोड़ दिया हो. डा० राधाकृष्णन् महात्मा गांधी के सम्बन्धमें कहते हैं --"अनुभव का प्रयोगशाला में वह न एक राजनीतिज्ञ रहते हैं और न एक समाज-सुधारक, न एक दार्शनिक या नीतिज्ञ, किन्तु एक ऐसा व्यक्ति जो इन सबसे मिलकर बना है, मूलत: एक धार्मिक पुरुष जो सर्वोच्च और अत्यधिक मानवीय गुणों से सुशोभित है और जो अपनी अपूर्णताओं के प्रति अपनी जागरूकता और अपनी सदा पाई जाने वाली विनोदी वृत्ति के कारण और भी अधिक प्रिय हो गया।"[२]

वास्तव में देखा जाय तो गांधी जी एक दिशासूचक हैं, मानव-विकास और मानव-प्रगति की उस दिशा की ओर संकेत करने वाले, जो मनुष्य को अपूर्णता से पूर्णता की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर तथा अस्वास्थ्य से गतिशील स्वास्थ्य की ओर जाने का मार्ग दिखाता है. चूंकि

१८६६ ईसवी को हुआ. महात्मा गांधी जाति के वणिक थे. उत्तमचन्द गांधी उर्फ ओता गांधी उनके दादा थे. ओता गांधी की पहली पत्नी से चार तथा दूसरी पत्नी से दो लड़के हुए. इन छ: भाइयों में पांचवें का नाम कर्मचन्द गांधी उर्फ कबा गांधी था, जो पोरबंदर में प्रधानमन्त्री थे. कर्मचन्द गांधी की चार शादियां हुईं. चौथी पत्नी ही महात्मा गांधी की माता थीं. उनका नाम पुतली बाई था. गांधी जी की माता एक साध्वी स्त्री थीं. वे बहुत ही धार्मिक प्रवृत्ति की स्त्री थीं.

महात्मा गांधी का विकास एक साधारण बालक की तरह हुआ. पढ़ने में गांधीजी तेज नहीं थे, परन्तु ईमानदारी से काम करने वाले थे. वे सदाचार के पालन पर बहुत ज़ोर देते थे. सत्यवादी हरिश्चन्द्र और श्रवण-पितृ-भक्ति इन दो नाटकों का गांधीजी पर बहुत प्रभाव पड़ा. हरिश्चन्द्र की कथा से उन्होंने सत्य के पालन का महत्व समझा और आजन्म उसका पालन किया. श्रवण की कथा सुनकर माता-पिता का सेवा का व्रत उन्होंने अन्त तक निभाया.

गांधीजी ने धार्मिक ग्रन्थों के पढ़ने पर ज़ोर दिया. गांधीजी ने तुलसीदास रचित रामायण को धार्मिक साहित्यों में श्रेष्ठ माना. राजकोट में भागवत् का पाठ प्रत्येक एकादशी को होता था. गांधीजी के अनुसार भागवत् धार्मिकता को जगा सकता है.

राजकोट में गांधीजी को हिन्दू धर्म तथा अन्य धर्मों के बारे में भी थोड़ी जानकारी का अवसर प्राप्त हुआ. उनके माता-पिता शिव तथा राम के मंदिरों में भी जाते थे. जैन ऋषि भी गांधीजी के पिता के पास आते थे. वे लोग धार्मिक तथा व्यावहारिक बातें भी करते थे. मुसलमान तथा पारसी लोग भी गांधीजी के पिता के मित्र थे. वे लोग अपने-अपने धर्मों के बारे में बातें किया करते थे. गांधीजी अपने पिता के सम्पर्क में रहे, अत: उनपर इन सभी का बहुत प्रभाव पड़ा.

गांधीजी हर तरह की साधना को श्रद्धा से ग्रहण करते थे. साधु-संतों के अनुभवों पर और वचनों पर उनकी असीम श्रद्धा थी. लेकिन जिस किसी भी चीज़ को उन्होंने स्वीकार किया, उसे तर्क,बुद्धि और अनुभव की कसौटी पर कसे बिना वे नहीं रहे

लोक सेवा करते हुए गांधीजी ने जो कुछ भी राज-काज का और राजनीति का अध्ययन किया, उसके कारण उनकी व्यवहार कुशलता बड़ी ही तीव्र हुई. यह व्यवहारकुशलता उन्हें जो कुछ भी मार्ग सुझाती थी,उसपर चलने से पहले गांधीजी

उन बातों को सत्य और अहिंसा की कसौटी पर अच्छी तरह कसकर देखते थे. सत्य और अहिंसा की कसौटी पर जो खरी न उतरी उनका त्याग करने में वे कभी भी संकोच नहीं करते थे. सब धर्मों के प्रति, शास्त्रों के प्रति, साधु-सत्पुरुषों के वचनों के प्रति असीम आदर रखते हुए भी उनकी अनन्य निष्ठा तो सत्य नारायण के प्रति ही थी. इस निष्ठा का पालन करते हुए उनमें कर्मयोग की कुशलता आ गई थी. योग: कर्मसु कौशलम् इस व्याख्या के अनुसार उनकी सत्य निष्ठा ने उनको योगी बना दिया. अपने चित्त को संभालना यह जो व्रत था उन्होंने इसका पालन जीवनपर्यन्त किया.

गांधी जी की विशेषता यह है कि उनको प्रत्येक व्यक्ति अपनी दृष्टि के अनुसार देखता है. किसी की दृष्टि में वे दार्शनिक हैं, तो किसी की दृष्टि में एक धार्मिक पुरुष. कोई उन्हें एक समाज-सुधारक मानता है तो कोई एक दूरदर्शी राजनीतिज्ञ, किसी को वह एक क्रान्तिकारी मालूम पड़ते हैं, तो किसी को एक महात्मा अथवा ईश्वर का अवतार, और इतना ही नहीं, गांधी जी को पाखंडी, एक धर्म विरोधी राजनीति के क्षेत्र में एक अराजनीतिज्ञ और एक प्रतिक्रियावादी के रूप में देखने वाले व्यक्ति भी हैं. इस प्रकार लोगों ने उन्हें विभिन्न दृष्टिकोणों से देखा और समझा, पर सच बात तो यह है कि महात्मा गांधी ने जीवन का कोई पक्ष नहीं छोड़ा, चाहे उसका संबंध नीति और सदाचार से हो, चाहे कला और साहित्य से और चाहे विज्ञान और राजनीति से, जिसे उन्होंने एक नई दिशा में न मोड़ दिया हो. डा० राधाकृष्णन् महात्मा गांधी के सम्बन्धमें कहते हैं --"अनुभव की प्रयोगशाला में वह न एक राजनीतिज्ञ रहते हैं और न एक समाज-सुधारक, न एक दार्शनिक या नीतिज्ञ, किन्तु एक ऐसा व्यक्ति जो इन सबसे मिलकर बना है, मूलत: एक धार्मिक पुरुष जो सर्वोच्च और अत्यधिक मानवीय गुणों से सुशोभित है और जो अपनी अपूर्णताओं के प्रति अपनी जागरूकता और अपनी सदा पाई जाने वाली विनोदी वृत्ति के कारण और भी अधिक प्रिय हो गया।"[2]

वास्तव में देखा जाय तो गांधी जी एक दिशासूचक हैं, मानव-विकास और मानव-प्रगति की उस दिशा की ओर संकेत करने वाले, जो मनुष्य को अपूर्णता से पूर्णता की ओर, अंधकार से प्रकाश की ओर, अज्ञान से ज्ञान की ओर तथा अस्वास्थ्य से गतिशील स्वास्थ्य की ओर जाने का मार्ग दिखाता है. चूंकि

गांधी एक दिशा है इसलिए वह चलने का एक मार्ग है, जिसपर निरन्तर चलना ही चलना है, उस मार्ग पर कौन कितना चल सकता है, यह उस चलने वाले की क्षमता और श्रद्धा पर निर्भर है पर यह क्षमता और श्रद्धा उस मार्ग से पृथक् होकर नहीं प्राप्त की जा सकती, वह तो उसपर चलने के फलस्वरूप ही उत्पन्न हो सकता है, इसलिए गांधी जी चाहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक समाज उसपर चलने का प्रयास करें और उसपर चलकर अपनी मानवीय क्षमता का विकास करें, गांधी जी का उद्देश्य मानव समाज के ढांचे को बदलना उतना नहीं है, जितना मानव को स्वयं को बदलने का है, वह उस कुम्हार की भांति है, जिसका ध्यान अपने बर्तनों के स्वरूप और उनके आकार-प्रकार में परिवर्तन करने की ओर उतना नहीं है, जितना कि उस मिट्टी में सुधार करने का, जिससे कि अन्ततोगत्वा वे बर्तन बनते हैं,

गांधी जी ने भारतीय जीवन तथा साहित्य पर अमिट छाप छोड़ी है, उन्होंने धर्म तथा नीति दर्शन को अपने विचारों से सम्पन्न किया है, वे साधारण जीवन तथा उच्च विचार के समर्थक रहे हैं, उन्होंने सदा मनुष्य के नैतिक तथा धार्मिक चरित्र पर बल दिया है, अपने मन, वचन और कर्म के प्रत्येक हल्के-से उद्वेलन के प्रति भी गांधी जी सदैव सतर्क और जागरूक रहते हैं, यही सतर्कता और जागरूकता गांधी जी की महानता का आधार है, ज्ञान और कर्म के, भावना और विवेक के, मन, वचन और कर्म के इस अद्भुत सन्तुलन ने ही गांधी जी को महान् बनाया है,

महात्मा गांधी को सेवा ग्राम का संत भी कहा जाता है, संत इसलिए कि वे मनसा, वाचा और कर्मणा ~~से~~ संत थे या होने की कोशिश कर रहे थे, इसी का पर्याय महात्मा है, जिस नाम से वे आज अधिक विख्यात हैं, पर उन्हें अपने महात्मपन का कभी घमंड नहीं था, उन्होंने कहा है कि यह तो व्यर्थ का बोझा है, इसमें उन्हें लाभ के बजाय नुकसान ही हुआ है, क्योंकि वे स्वेच्छा से कहीं चल-फिर नहीं सकते थे, लोग उनको घेरे रहते थे, महात्मा न कहकर वे सदा अपने को अल्पात्मा ही कहते रहे, वे वस्तुतः इस अर्थ में महात्मा हैं कि वे मन, वचन और कर्म से सदा एक से रहते हैं, सबसे बढ़कर गांधीजी महामानव हैं, गांधी जी का

व्यक्तित्व इतना विशाल है कि वे जगत के समस्त पापों को अपने सिर ओढ़कर उसे पापमुक्त करने के लिए आतुर रहते हैं. वे कहते हैं कि यदि हम सब एक ईश्वर की सन्तान हैं और एक ही सत्ता से पालित हैं तो हमें प्रत्येक के पाप का भागी भी होना चाहिए. गांधी जी ने अपनी सारी शक्ति जगत् की क्लेश मुक्त करने में लगा दी, फिर भी उनमें अहंकार नहीं है, अभिमान नहीं है, सफलता-विफलता की चिन्ता नहीं है, आसक्ति नहीं है.

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गांधी जी एक महान् आध्यात्मिक उपदेष्टा थे, जैसे कि ईसा और बुद्ध हुए हैं. वे अपने काल और संभवत: मनुष्य मात्र के लिए एक नित्य सन्देश छोड़ गये हैं. वह मनुष्यमात्र के एक उत्तम हितैषी माने जायगे. वह केवल कांट अथवा ह्यूम की तरह सिद्धांत रचना का कार्य ही नहीं करते रहे, न ही उन्होंने प्लेटो, एरिस्टोटल, शंकर और कपिल आदि की रचनाओं के समान कोई सैद्धान्तिक ग्रन्थ ही लिखे, किन्तु उनका भी एक दर्शन है और वह दर्शन बहुत ही सर्वोत्कृष्ट और आध्यात्मिक प्रतीत होता है. उन्होंने अपने दार्शनिक मत नैतिक, सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक समस्याओं के सम्बन्ध में व्यक्त किए हैं.

महात्मा गांधी के हृदय में करुणा और परसेवा इतनी अधिक थी कि विश्वविख्यात विज्ञानवेत्ता आइंस्टाइन ने गांधी जी की ७५ वीं वर्षगांठ के अवसर पर कहा था कि -- आगे आने वाली पीढ़ियां शायद ही विश्वास कर सकेंगी कि उन जैसा हाड़-मांस का पुतला कभी इस भूमि पर पैदा हुआ था । बात सोलहों आने सत्य है । गांधी जी का जीवन इतना उदात्त और मानवता के सुख-दु:ख के साथ इतना ओत-प्रोत था कि वह किसी एक देश के नहीं, बल्कि समूचे विश्व के आत्मीय बन गये थे । तभी तो उनकी मृत्यु पर राष्ट्रसंघ के साथ-साथ मानवता ने अपनी ध्वजा नीची कर दी थी, सब देशों में करोड़ों लोगों ने ऐसा शोक मनाया, मानों उनकी व्यक्तिगत हानि हुई हो ।[3]

यह है ऐसे व्यक्ति की एक पावन कहानी, जिनकी शिक्षा मैट्रिक्युलेशन तक समाप्त हो गई थी, जो पहली ही पेशी में अदालत का मुंह ताकने

लगे थे और जिन्हें अफ्रीका में `काला कुली` कहकर पुकारा गया था और उनका उग्र तपश्चर्या के परिणामस्वरूप अफ्रीका में उनका विजय हुई, भारत में उनका विजय हुई, भारत को उन्होंने स्वतंत्र कराया, हरिजनों को मौका दिलाया, फूलों पर पले हुए लोगों को जेल जाना सिखाया, स्वार्थियों को त्यागी बनाया, निर्धनों को ऊंचा किया और धनिकों को विनीत किया. गांधी जी ने मनुष्य को सच्ची मनुष्यता का पाठ पढ़ाया और उन्होंने खाली हाथों वह काम किया, जिसे वीर हिटलर अपनी दिव्य सेनाओं द्वारा न कर सका. गांधी जी ने ब्रिटिश साम्राज्य से भारत को जिसपर कि इंगलैण्ड का असीमित साम्राज्य बना और ठहरा हुआ है-- स्वतन्त्र कराया. भारत में अनेक महात्मा हुए और सुधारक हुए, अनेक राजनीतिज्ञ हुए और अनेक विद्वान् हुए, किन्तु उन सब में भारत-भू का एक-एक पहलू ही दिखा था, परन्तु गांधी जी में भारत-भू स्वयं आकर विकसित हुआ है.

जिन पुस्तकों का प्रभाव गांधी जी पर पड़ा वे निम्नलिखित हैं :--

(१) भगवद्गीता
(२) तुलसी- रामायण
(३) ईशोपनिषद्
(४) उत्तर (उत्तर) उपनिषद्
(५) योगसूत्र
(६) मनुस्मृति(गांधी जी को बहुत पसंद नहीं आई)
(७) रामायण और महाभारत के अनुवाद
(८) गुजराती और अन्य संतों के भजन
(९) रामचन्द्र के ग्रन्थ
(१०) रविबाबू के कुछ गीत और कुछ लेख
(११) बाइबिल
(१२) टाल्सटाय के ग्रन्थ : खास करके दि किंगडम ऑफ़ गॉड इज़ विदिन यू, क्रिश्चियन टीचिंग, इवान- दि फूल, वाट शेल वी डू देन, वाट इज़ आर्ट, टाल्सटाय एज़ ए टीचर ।

(१३) थौरो के निबन्ध : आन दि ड्यूटी ऑफ सिविल डिसओबिडियन्स, केप्टेन जॉन ब्राउन वाल्डेन

(१४) एडवर्ड कारपेंटर : सिविलाइजेशन- इट्स कॉज़ एण्ड क्योर

(१५) रस्किन : अन टू दिस लास्ट, सीसेम एण्ड लिलीज़

(१६)हेनरा ड्रमंड : दि ग्रेटेस्ट थिंग स्वर नोन

(१७) ऐथिकल रिलीजन

(१८) ट्रायल एण्ड डेथ ऑफ साक्रेटीज़

(१९) रेवo लिविंग्स्टन : लेटर्स ऑफ जॉन चाइनामेन ।

(२०) सर गिल्बर्ट : एक उपन्यास, ख्वारामेन सिराज़

(२१) लाला हरदयाल : कांन्वेस्ट ऑफ दि हिन्दु रेस

(२२) आनन्दकुमार स्वामी : एस्थेटिक ऐंड क्राफ्ट्स एण्ड कल्चर

(२३) सीकर्स आफ्टर गाड-- जिसमें सिनेका मार्कस आरेलियस तथा
ऐपिक्टीटस के विषय में लिखा गया
है ।

(२४) पाल ब्यूरो : टुवर्ड्स मारल बैंकरप्टसी, जिसका सार गांधी जी
ने 'सेल्फ-रेस्ट्रेंट वर्सेस सेल्फ इंडल्जेन्स' में किया
है ।

(२५) एडविन आर्नोल्ड : सांग सेलेस्टियल, लाइट ऑफ एशिया ।

(२६) लाइफ ऑफ मोहम्मद, इरविंग--कृत उर्दू में मौलाना शिबला
कृत.

(२७) अमीर अली : स्पिरिट ऑफ इस्लाम.

(२८) सात्ट : निरामिषाहार सम्बन्धी पुस्तक.

(२९) विलियम आर० थर्स्टन : थर्स्टन फिलासफी ऑफ मैरेज-- एक
३०-३२ पृष्ठों की पुस्तिका । 'सेल्फ-
रेस्ट्रेंट वर्सेस सेल्फ इंडल्जेन्स' में गांधीजी
ने 'स्टार्टलिंग कान्क्लूजन्स' शीर्षक
प्रकरण में इसका सार दिया है.

(२) गांधी जी का दर्शन : उसका विकास-क्रम

महात्मा गांधी का जीवन-दर्शन, वेद, उपनिषद्, गीता, बौद्ध, जैन तथा ईसाई धर्मों से बहुत प्रभावित हुआ है. वेद, उपनिषद् और गीता का पूर्ण अभिव्यक्ति गांधी जी के जीवन-दर्शन में मिलती है. भारतीय दर्शन ने सत्य के जिस शाश्वत रूप की चर्चा की है, गांधी जी ने उसी को अपने जीवन में अनुभव करने का प्रयत्न किया है. उसी को प्राप्त करने के लिए सदाचरण और साधना को महत्ता दी है. लन्दन टाइम्स ने गांधी जी की मृत्यु पर सम्पादकीय टिप्पणी लिखते हुए कहा कि अन्य देश नहीं, बल्कि भारत तथा कोई अन्य धर्म ने नहीं, बल्कि हिन्दू धर्म ने महात्मा गांधी को जन्म दिया है. इसी प्रकार राधाकृष्णन् कहते हैं कि यह सत्य है कि हम महात्मा गांधी में उन गुणों को पाते हैं जो भारत की विशेषताएं मानी जाती हैं. इसका अर्थ यह हुआ कि भारतीय विशेषताएं उनमें अभिव्यक्त रूप ले लेती हैं.

महात्मा गांधी कर्मयोगी थे. उनके जीवन में भक्ति एवं कर्मयोग का अद्वितीय समन्वय मिलता है. यह गीता के निष्काम तथा अनासक्त कर्म पर आधारित है. उनकी भक्ति का केन्द्रबिन्दु श्रीराम का पवित्र चरित्र रहा है. उनकी दृष्टि में सत्य ही ईश्वर है. सत्य के सिवा ईश्वर कहीं नहीं है. गांधी जी रहस्यमय अनुभूति तथा आध्यात्मिक वार्तालाप से अधिक नैतिक कर्म करने में विश्वास रखते थे. आत्म-त्याग, अहिंसा, भ्रातृत्व-भावना, अपरिग्रह एवं मानव-प्रेम किसी भी जीवन-दर्शन की आवश्यक चीजें हैं. जीवन-दर्शन की सबसे प्रमुख बात है चरित्र एवं नैतिक व्यवहार. इस नैतिक व्यवहार से ही हम जीवन-दर्शन तथा धर्म को भी समझ सकते हैं. महात्मा गांधी ने लिखा है --" यदि हमें मात्र सिद्धांतों की चर्चा करनी होती तो मैं आत्मकथा लिखने का प्रयास नहीं करता । लेकिन मेरा उद्देश्य यह है कि मैं उन सिद्धांतों के व्यावहारिक प्रयोग की चर्चा करूं इसलिए मैंने अपनी आत्मकथा का शीर्षक 'द स्टोरी ऑफ़ माइ एक्सपेरिमेण्ट्स विद ट्रुथ' रखा है । इसमें अहिंसा, ब्रह्मचर्य तथा जीवन के अन्य व्यावहारिक प्रयोग पर प्रकाश डाला गया है ।[४] महात्मा गांधी अपने उन नैतिक कर्मों का जो सत्य पर आधारित

हैं, पालन करते हैं तथा उनके फल की प्रतीक्षा करते हैं. गांधी जी मुक्ति के लिए कर्मयोग के सिद्धांत को मानते हैं. इस प्रकार महात्मा गांधी एक आदर्श कर्मयोगी हैं.

धार्मिक दृष्टि से देखने पर गांधी जी ने साधारण हिन्दू के लौकिक-पारलौकिक विचारों से अपने दर्शन को आरम्भ किया और अन्त उसकी पराकाष्ठा आत्मवादी मुख्यमीमांसा में की.

गांधी जी की आरम्भिक दार्शनिक विचारधारा वैपुल्यवादी थी. इसके भी दो रूप हैं-- पहले वह नितांत लोक बुद्धि वाली विचारधारा था और बाद में वह जैनियों वाली दार्शनिक विचार-सरणि बनी.

लोक बुद्धिमय वैपुल्यवाद की अवस्था में गांधी जी अनेक प्रकार के सतों में विश्वास करते थे,अनेक जीव, अनेक योनियों,अनेक देव, एकेश्वर,अनेक प्रकार के भौतिक पदार्थ, आदि इन सभी वस्तुओं में उनका विश्वास था,जिनमें एक साधारण हिन्दू करता है. पर लोक बुद्धि मय वैपुल्यवाद शीघ्र जैन वैपुल्यवाद में बदल गया. गांधी जी को आरम्भ में जैन दर्शन का ही शास्त्रीय ज्ञान हुआ. इसके दो कारण हैं -- पहला यह कि उनके जन्मस्थान के आस-पास सदियों से जैन विचार-धारा का बहुत प्रचार था. दूसरा यह कि उनको श्रीमद् रामचन्द्र भाई से वहीं प्रेरणा मिली थी जो कि एक जैन विद्वान् थे. इन्हीं दो स्रोतों से उन्हें जैन वैपुल्यवाद का पता चला और उन्होंने जैन तत्ववाद में विश्वास किया.

जैन तत्वदर्शन में द्रव्य का विभाजन जीव तथा अजीव में देखकर और सांख्य में भी तत्व का वर्गीकरण प्रकृति तथा पुरुष में पाकर वे द्वैतवादी हो गये. फिर चूंकि सांख्य प्रकृति के ही परिणाम या विकास को अनेक तत्वों में शास्त्रीय ढंग से दिखाता है,अत: सभी प्राकृतिक तत्वों को प्रकृति से निकला हुआ मानने के लिए वे सांख्य के विकासवाद में प्रतिपन्न हुए. इस तरह वे पुरुष और प्रकृति इन मूलभूत दो तत्वों को मानने लगे और अन्य पदार्थों को प्राकृतिक या प्रकृति का विकार मानने लगे.

पर इस सांख्य द्वैतवाद में कुछ कमियां उनको नज़र आईं. उदाहरण के लिए सांख्य अनेक पुरुष मानता है. गांधी जी ने जैसे भौतिक वस्तुओं और पदार्थों को प्रकृति का परिणाम माना वैसे उन्होंने नाना पुरुषों

को जाव कहा और उन्हें एक आत्मा का ही परिणाम माना.

इस प्रकार आत्मा और प्रकृति ये दो मूलभूत तत्व माने गये हैं और फिर आत्मा के परिणाम को आत्मिक और प्रकृति के परिणाम को प्राकृतिक कहा गया है. आत्मा और आत्मिक को हम एक तत्व कह सकते हैं, ठीक वैसे ही जैसे प्रकृति और प्राकृतिक को कहते हैं.

यहाँ गांधी जी को सर्वप्रथम यह ज्ञात हुआ कि आत्मा को परमार्थ या परम मूल्य होना चाहिए, जिसमें कि अनेक आत्मिकों या मूल्यों का संघटन हो सके.

द्वैतवाद ने गांधी जी के मन के भीतर ही भीतर आत्मा और प्रकृति के सम्बन्ध को उठा दिया. इस सम्बन्ध का समाधान उनको सांख्य से न हुआ. मौलिक दो पदार्थों में उनको कुछ अन्तर प्रतीत नहीं हुआ, क्योंकि वे दोनों सदा एक साथ रहते हैं, सदा एक साथ प्रत्येक परिणाम को अपने में एक साथ लीन करते हैं. इस विचार ने उनको पढ़ाया कि आत्मा प्रकृति है और प्रकृति आत्मा है. फिर चूंकि आत्मा को परमात्मा या ईश्वर मानते थे, अर्थात् उसको वे परम अर्थ या मूल्य समझते थे, अतः उन्होंने कहा कि ईश्वर प्रकृति है और प्रकृति ईश्वर है. इस प्रकार उनका सिद्धांत सर्वेश्वरवाद हो चला, क्योंकि प्रकृति का अर्थ है वस्तुतः जगत् की सारी चीजें और उनसे ही अब ईश्वर का अभेद हो गया.

गांधी जी ने देखा कि परमात्मा जगत है यह पूर्ण सत्य नहीं है. उनको पता चला कि परमात्मा जगत् से परे भी है. नेति-नेति का ज्ञान यही संकेत करता है. फलतः वे परमात्मा को परात्पर मानने लगे, पर उन्होंने उसकी अन्तर्यामिता को भुलाया नहीं. इससे प्रश्न बना ही रहा कि परमात्मा तथा प्रकृति का क्या सम्बन्ध है ? परमात्मा की सत्ता प्रकृति के बिना रहती है और प्रकृति अस्वस्थ है. अर्थात् कल तक टिकने वाली नहीं है. गीता के इस ज्ञान से तथा प्रचलित अद्वैतवाद के प्रभाव से गांधी जी ने जगत् को माया समझा. माया का अर्थ पहले वे मिथ्या लगाते थे. बाद में इसका सच्चा अर्थ व्यावहारिक सत्ता लगाने लगे. यह बात उनके तत्ववाद में स्पष्ट कर दी गई है.

माया को व्यावहारिक सत्ता मानने पर और आत्मा को एकमात्र सत् अद्वैत मानने पर यह प्रश्न बना ही रहता है कि आत्मा और इस व्यावहारिक सत् का क्या सम्बन्ध है ?

अतः इस सम्बन्ध को जानने की इच्छाएं तथा पूर्वगत दार्शनिक अवस्थाओं को समन्वय करने की भावना ने गांधी जी को यह बताया कि जगत् परमात्मा की महज लीला या खेल है, इसका और कोई अर्थ नहीं, इस प्रकार गांधी जी ने निष्कर्ष निकाला और इस ओर उन्हें भारतीय सन्तों से अधिक सहायता मिली, जिन्होंने निर्गुण और सगुण का समन्वय करके अद्वैत वेदांत और वैष्णव वेदांत के बीच चलने वाले झगड़ों को भारत में सदा के लिए बन्द कर दिया.

कई बार गांधी जी से लोगों ने प्रश्न पूछा कि जगत् का परमात्मा के साथ क्या सच्चा सम्बन्ध है ? उन्होंने उनको अपना उपर्युक्त समाधान बताया पर देखा कि इससे लोगों को संतोष नहीं है, गांधी जी ने कहा कि मनुष्य का कार्य सिर्फ इतना है कि वह आत्मा तत्व को समझे और उसे परम अर्थ या मूल्य माने, पता चलता है कि अनेक गौण मूल्य हैं जो हमें मुख्य मूल्य की ओर ले चलते हैं, इन मूल्यों का आत्मा के साथ अभेद सम्बन्ध है, आत्मा में ही स्थित रहकर प्रत्येक कार्य उसी परम मूल्य की दृष्टि से करने से मिलता है और आन्तरिक शान्ति प्राप्त होती है, यही शान्ति मोक्ष है और व्यावहारिक सफलता अभ्युदय है, अतः नीति और धर्म या दोनों का इसमें समाहार हो जाता है.

इस प्रकार गांधी जी के अनुभवों ने इस आत्मा केन्द्रित मूल्य मीमांसा को उनका मुख्य दर्शन बना दिया, इस ओर उन्हें वेदों--बुद्धवाणी, जैन-ग्रन्थों, वेदांत, सन्त साहित्य आदि से भी प्रेरणा मिली, उन्होंने माना कि भारत का सच्चा सनातन यही दर्शन है.

महात्मा गांधी की विचार-धारा एक तरफ भारतीय दर्शन एवं धर्म से प्रभावित हुई और दूसरी ओर पाश्चात्य लेखकों तथा धर्मों से भी प्रभावित है, इसमें सन्देह नहीं कि उनमें पूर्व की प्रधानता है, बीज पूर्व का है, लेकिन उसमें पश्चिम का भी एक बड़ा हिस्सा है.

विलायत में कानून की पढ़ाई के अतिरिक्त गांधी जी ने पुरानी और नई बाइबिलें पढ़ीं और उनसे प्रभावित हुए. कुछ मित्रों के सम्पर्क से उन्होंने गीता भी पढ़ी. एडविन आर्नाल्ड का गीता का अनुवाद तथा बुद्धचरित का अनुवाद उन्हें अत्यन्त पसन्द आया. थियोसोफिकल सोसायटी से भी उनका परिचय हुआ और इसका साहित्य पढ़ने को मिला. इस प्रकार एक तरफ हम पाते हैं कि गांधी जी गीता तथा बौद्ध धर्म से अभिभूत हैं तथा दूसरी तरफ ईसाई तथा इस्लाम धर्म से भी प्रभावित रहे हैं. टाल्सटाय तथा रस्किन की पुस्तकों का भी गांधी जी के ऊपर अमिट प्रभाव दिखाई पड़ता है. ईसाई धर्म-ग्रन्थों में जिसे अप्रतिरोध कहा है, उसकी शिक्षा देने वाले के रूप में वह थोरो और टाल्सटाय की श्रेणी में आते हैं.

ईसाई, बौद्ध धर्म तथा जैन धर्म से गांधी जी अहिंसा, त्याग, अपरिग्रह की भावना को ग्रहण करते हैं. उपनिषद् का ब्रह्म तथा आत्मन् के तादात्म्य का सिद्धांत गांधी जी के दर्शन में प्रबल रूप से पाया जाता है. ईसाई धर्म अहिंसा का बहुत बड़ा समर्थक है. बौद्ध धर्म तो नैतिकता पर अधिक बल देता है. गांधी जी गांव के पुनरुद्धार, विकेन्द्रीकरण तथा सत्याग्रह की बातें टाल्सटाय से लेते हैं. अब हम लोग उपनिषद्, बौद्ध धर्म, जैन धर्म, गीता, ईसाई धर्म, इस्लाम, थोरो, रस्किन तथा टाल्सटाय का गांधी के जीवन-दर्शन पर क्या प्रभाव पड़ा है, इसकी विवेचना करेंगे.

(३) भारतीय स्रोत

गांधी और उपनिषद्

उपनिषद् को भारतीय दर्शन का मूल स्रोत माना जाता है. कोई भी ऐसा विचार भारतवर्ष में उत्पन्न नहीं हुआ, जो उपनिषद् से प्रभावित न हो. महात्मा गांधी के विचारों का भी मूल स्रोत उपनिषद् है. साउथ अफ्रीका में सन् १८९४-१८९६ ई० में गांधी जी ने प्रथम बार मैक्समूलर का उपनिषद् का अनुवाद पढ़ा, जहां वे राजनैतिक कार्य के साथ ही साथ आध्यात्मिक कार्य भी करते थे. गांधी जी ने प्रिटोरिया जेल में करीब तीस पुस्तकों का अध्ययन

किया. टाल्सटाय, इमरसन, थुरो, कार्लाइल, उपनिषद्, पतंजलि के योग दर्शन, गीता, बाइबिल तथा मनुस्मृति आदि पुस्तकों को उन्होंने पढ़ा. अहमदाबाद में प्रिंसेस प्लासेज कानफरेन्स जो अप्रैल १३, १९२१ को हुई, उसमें गांधी जी ने कहा -- "मैंने वेद और उपनिषद् का अनुवाद मात्र पढ़ा है. मेरा अध्ययन विद्यापूर्ण नहीं है, किन्तु मैं ऐसा दावा कर सकता हूं कि मैंने उनके मूलभूत सिद्धांतों को समझा है।" गांधी जी ने जरवदा जेल में करीब एक सौ पचास समाज शास्त्र, साहित्य तथा प्राकृतिक विज्ञान की पुस्तकें पढ़ीं. गीता के ऊपर शंकर, ज्ञानेश्वर, तिलक, अरविंद के भाष्य पढ़े. वहीं पर सिर्फ मैक्समूलर के उपनिषद् का अनुवाद ही नहीं पढ़ा, बल्कि ईशोपनिषद् को उन्होंने कण्ठस्थ कर लिया. उपनिषद् के कुछ पदों का पाठ गांधी जी के दैनिक आराधना का अंश था. गांधी जी जिन भजनों को एवं गीतों को आश्रम में पढ़ते थे, उनका संकलन आश्रम भजनावली है. इनमें मुख्यत: ईश, कठ, मुण्डक, तैत्तिरीय, छान्दोग्य तथा बृहदारण्यक उपनिषद् से पद लिए गए हैं. ये सारी बातें यह बताती हैं कि गांधी जी के जीवन-दर्शन पर उपनिषद् की गहरी छाप है. गांधी जी की विचार-धारा को उपनिषद् के सन्दर्भ में ठीक-ठीक तथा उचित ढंग से समझा जा सकता है.

उपनिषद् में हम कोई सुव्यवस्थित दर्शन या एक सिद्धांत नहीं पाते, क्योंकि उनका लक्ष्य शांति और आत्मस्वतंत्रता स्थापित करना था. गांधी जी का भी ध्येय कोई दार्शनिक विचारधारा या सिद्धांत प्रतिपादित करना नहीं था. उनका व्यावहारिक ध्येय था कि कैसे समाज की कुरीतियों को सुधारा जाये. उनके सिद्धांत इधर-उधर फैले हुए हैं. भाषणों, पत्रों, संवादों तथा लेखों में बिखरे पड़े हैं. उनमें कोई व्यवस्था नहीं है, किन्तु गान्धी तथा उपनिषद् में आध्यात्मिक सत्य की झांकी मिलती है. उनका दर्शन एकात्मवादी तथा आदर्शवादी कहा जा सकता है.

गांधी तथा उपनिषद् दोनों को यह मान्य है कि विश्व के आधार में एक ही मूल है. ईश्वर ही सत्यस्य सत्यम् है.

उपनिषद् में आत्मा की अनुभूति पर विशेष बल दिया गया है, मानव का सत्य स्वरूप क्या है ? इस बात का ज्ञान आत्मविद्या के द्वारा

सम्भव है.

उपनिषद् में आत्मा तथा ब्रह्म के तादात्म्य को बताया गया है. उपनिषद् के महावाक्य तत्वमसि, अहम् ब्रह्मास्मि, स वा अयम् आत्मा,ब्रह्म हैं : इनमें ब्रह्म का आत्मा से तादात्म्य बताया गया है. गांधी जी के दर्शन में भी उपनिषद् का यह सिद्धांत प्रबल रूप से पाया जाता है.

सत्य ईश्वर है यह उपनिषद् के आत्मा एवं ब्रह्म के तादात्म्य को बतलाता है. आत्मन् जो सभी चीजों का मूल है, वह विश्व का चरम स्रोत बताया गया है. गांधी जी इसके समर्थक हैं, सिर्फ वे दूसरी शब्दावली का प्रयोग करते हैं. गांधी जी चरम सत्य को सत्य और ईश्वर की शब्दावली से बताते हैं, जो उपनिषद् में आत्मन् और ब्रह्मन् की शब्दावली से अभिव्यक्त किया गया है. जब गांधी जी सत्य का ईश्वर से तादात्म्य बतलाते हैं तो वहां उनका प्रयास यह है कि विश्व के सार (सत्य) को उसके मूलभूत सिद्धांत से तादात्म्य स्थापित करा दें,जो कि ईश्वर है.यह तत्वशास्त्र का प्रकृति और मानव का तादात्म्य है. फिर प्रकृति तथा मानव का ईश्वर से तादात्म्य है. यह तादात्म्य उपनिषद् तथा गांधी दोनों में पाया जाता है.उनका विश्वास है कि विश्व के पीछे कोई ऐसा नियम है जो हमारे जीवन को संचालित करता है तथा अटल एवं अविकल है. यह नियम चरम सत्ता है. गांधी जी का चरम सत्ता के संदर्भ में विचार उपनिषद् के विचार से सादृश्य रखता है. सिर्फ गांधी इस बात पर विशेष बल देते हैं कि चरमसत्ता को सत्य एवं सर्वमान्य रीति मानें. उपनिषद् में इस बात का सर्वथा अभाव नहीं है, किन्तु जब व्यावहारिक पक्ष को लेते हैं तो गांधी और उपनिषद् की सदृश्यता टूटती-सी नजर आती है.

गांधी जी ने कभी भी विश्व का परित्याग करने को नहीं बताया है तथा आत्मा की मुक्ति के लिए सन्यासी के कठोर जीवन को भी नहीं माना है. उनका नैतिक आदर्श क्रियाशील जीवन में भाग लेना है. जीवन की कर्मठता के माध्यम से आध्यात्मिक जीवन की सर्जना की बात गांधी जी मानते हैं. उनका कर्मयोग आध्यात्मिक आधार-शिला पर खड़ा है. गांधी जी विश्व को तथा सापेक्ष सत्ता को आदरणीय स्थान देते हैं. सापेक्ष सत्ता एकांगी एवं सम-सामयिक अवश्य

होता है, किन्तु निरर्थक नहीं होती. जब तक परम सत्ता का ज्ञान नहीं हो जाता सापेक्ष सत्ता को असत्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वही उस समय तक हमारे जीवन के लिए महत्वपूर्ण है.

उपनिषद् ठीक इसके विपरीत यह दर्शन देता है कि हमें मेडिटेशन करना चाहिए तथा सापेक्ष सत्य का परित्याग करना चाहिए, सिर्फ ब्रह्म का ज्ञान उपनिषद् के लिए महत्वपूर्ण है.

गांधी जी ने अहिंसा को माना है. प्रसिद्ध योरोपीय विद्वान् रिस डेविड्स के अनुसार अहिंसा का प्रथम उल्लेख छान्दोग्य उपनिषद् में हुआ है, जिसमें अहिंसा मनुष्य के बलिदानमय जीवन के पांच नैतिक सद्गुणों में से एक बताई गई है. पतंजलि के योगसूत्र में जिसका गांधी जी ने १९०३ में जोहानिसबर्ग में अध्ययन किया था -- उसके अनुसार अहिंसा पंचयमों में सम्मिलित है. गांधी जी ने इन यमों को विकसित किया और उनको सत्याग्रही अनुशासन का आवश्यक अंग बना दिया है. पातंजलि का कहना है कि अहिंसा हिंसासंयमने का केवल निषेधात्मक रूप ही नहीं है, बल्कि विधायक दृष्टि से उसका यह अर्थ भी है कि सब चीजों के प्रति सद्भावना हो. पातंजलि के विख्यात सूत्र 'अहिंसा प्रतिष्ठायान्तत्सान्निधौ वैरत्याग:' का अर्थ यह है कि जैसे ही अहिंसा का पूर्ण विकास होता है, वैसे ही चारों ओर के वैरभाव का लोप हो जाता है.

ईशोपनिषद् गांधी जी का सबसे प्रिय ग्रन्थ रहा है. ईशोपनिषद् जीवन तथा विश्व को नकारता नहीं है. यह जीवन और कर्म पर बल देता है. यह दूसरे उपनिषदों से भिन्न है. परित्याग और कर्म का समन्वय ईशोपनिषद् में किया गया है. एक मनुष्य को सौ वर्ष क्रियाशील जीवन व्यतीत करना चाहिए. उसे कर्म में लिप्त नहीं होना चाहिए. भगवद्गीता में बिना फल के कर्म करने पर जोर दिया गया है. ईशोपनिषद् तथा भगवद्गीता दोनों में कर्म सिद्धांत पाया जाता है. मात्र साधना या मात्र कर्म का जीवन अधूरा होता है. साधना और कर्म दोनों में सामंजस्य की बात ईशोपनिषद् तथा भगवद्गीता में की गई है. महात्मा गांधी ईशोपनिषद् तथा गीता के पाठ को अपने जीवन में चरितार्थ करते हैं.

महात्मा गांधी और भगवद्गीता

महात्मा गांधी कर्म के द्वारा महानता की और बढ़ते हैं, इसलिए गीता गांधी जी की धर्म-पुस्तक बन गई, क्योंकि उसमें कर्म की महिमा बताई गई है. गांधी जी भगवद्गीता को तत्वज्ञान का सर्वोत्तम ग्रन्थ मानते हैं. उनके अनुसार यह एक महान् धर्मग्रंथ है, जिसमें समस्त धर्मों की शिक्षाएँ सार रूप में दी गई हैं. उनके मतानुसार गीता का अर्थ है गेय . यह शब्द विशेषण के रूप में उपनिषद् के साथ प्रयुक्त होता है, जो स्त्रीलिंग है. गीता कामधेनु की भांति है, जो सम्पूर्ण इच्छाओं की पूर्ति करता है. महात्मा गांधी ने भगवद्गीता पर अपना भाष्य भी लिखा जो गीता-बोध के नाम से प्रसिद्ध है. वे गीता को अपनी माता कहते हैं अपने सभी सिद्धांतों को उन्होंने गीता से प्राप्त किया है. महात्मा गांधी कहते हैं कि उन्हें गीता के श्लोकों को पढ़ने से एक प्रकार की शान्ति की अनुभूति होती है. वे कहते हैं कि हिन्दू धर्म के अध्ययन की इच्छा रखने वाले प्रत्येक हिन्दू के लिए यह एकमात्र सुलभ ग्रन्थ है और यदि सभी धर्म शास्त्र जल कर भस्म हो जायें तब भी इस अमर ग्रन्थ के सात सौ श्लोक यह बताने के लिए पर्याप्त होंगे कि हिन्दू धर्म क्या है और उसे जीवन में किस प्रकार उतारा जाय. गीता में किसी धर्म या धर्म-गुरु के प्रति द्वेष नहीं है. गांधी जी ने गीता के प्रति जितना पूज्य भाव रखा उतना ही बाइबिल, कुरान, जेन्दअवेस्ता और संसार के अन्य धर्म-ग्रन्थों को पढ़ने में भी रखा. जैसे उन्होंने जरथुस्त्र, ईसा और मुहम्मद के जीवन-चरित्र को समझा वैसे ही गीता के बहुत से वचनों पर भी प्रकाश डाला है. भगवद्गीता गांधी जी के जीवन-दर्शन एवं कर्मयोग का बहुत बड़ा स्रोत रहा है. जीवन की नित्य की समस्याओं के समाधान हेतु गांधी जी गीता का ही सहारा लेते थे. महात्मा गांधी ने जीवन-दर्शन तथा धर्म भगवद्गीता से ही अपनाया है. गीता के प्रति अपने प्रेम प्रदर्शन को गांधी जी ने इन शब्दों में व्यक्त किया है -- " यद्यपि मैं ईसाई-धर्म की बहुत सी बातों का प्रशंसक हूं, तथापि मैं अपने को कट्टर ईसाई नहीं मान पाता।... हिन्दू धर्म, जैसा मैं उसे जानता हूं, मेरी आत्मा को पूर्ण रूप से सन्तुष्ट करता है और मेरे सम्पूर्ण अस्तित्व में ओतप्रोत है, और जो शान्ति मुझको भगवद्गीता और उपनिषदों में मिलती है, वह ईसामसीह को "पर्वत की धर्म शिक्षा" में नहीं मिलती।

जबमैंसंशयों और निराशाओं से घिरा होता हूं और जब मुझे क्षितिज पर एक भी प्रकाश-रश्मि नहीं दिखाई देता, तब मैं भगवद्गीता की ओर मुड़ता हूं और मुझे सन्तोष के लिए एक-न-एक श्लोक मिल जाता है और मैं तुरन्त घोर दुःखों में मुस्कराने लगता हूं। मेरा जीवन बाहरी दुःखों से पूर्ण रहा है और यदि उन्होंने मेरे ऊपर कोई अमिट और दिखाई पड़ने वाला प्रभाव नहीं डाला है तो उसके लिए मैं भगवद्गीता की शिक्षाओं के प्रति आभारी हूं।"

बहुत लोगों के अनुसार गीता में हिंसा तथा युद्ध के द्वारा समाज की बुराइयों को दूर करने की शिक्षा मिलती है, लेकिन यह बात सही नहीं है, गीता मूलतः इस बात की शिक्षा देता है कि किस तरह से फल का ध्यान किए बिना निष्काम कर्म करना चाहिए. श्रीकृष्ण गीता में निष्काम कर्म पर जोर देते हुए कहते हैं कि कर्म करने में ही अधिकार होवे, फल में कभी नहीं और कर्मों के फल की वासना वाला भी नहीं हो, तथा कर्म न करने में भी प्रीति न होवे. गीता में धर्म युद्ध की भी चर्चा की गई है, धर्मयुद्ध में अपना कर्तव्य करने की शिक्षा मिलती है. महात्मा गांधी ने भी कर्तव्य पर जोर दिया है. महात्मा गांधी का कहना है -- "यदि हम अपने कर्तव्यों का पालन करेंगे तो अधिकार स्वयं ही सुलभ हो जायेंगे। कर्तव्यों को छोड़कर अधिकारों के पीछे दौड़ना एक व्यर्थ की चीज है.... । कृष्ण के अमर शब्दों में -- अपने कर्तव्य को पालनकरोऔर उसके फल को एक तरफ छोड़ दो। कर्म तुम्हारा कर्तव्य है और उसका फल तुम्हारा अधिकार है.... । जितनी हद तक तुम कर्तव्यों का पालन करोगे उतनी सीमा तक तुम अधिकारों के योग्य बनोगे।"

जब मनुष्य सभी कामनाओं, घृणा, द्वेष, राग-विराग से परे हो जाता है तब उसकी आत्मा को शान्ति मिलती है. गीता में बताया गया है कि अर्जुन अपने बन्धु-बान्धवों को मार कर एक नैतिक सामाजिक व्यवस्था कायम करने में हिचकिचाते हैं. धर्मयुद्ध जिसकी स्थापना पापियों के विनाश के लिए हुई है उसमें भी अर्जुन झिझकते हैं. वह अपने सगे-सम्बन्धियों को खड़े देखकर झूठी करुणा, हृदय की दुर्बलता और क्षणिक मोह के कारण युद्ध विरोधी हो गये. कृष्ण भगवान

उनके व्यामोह को छिन्न-भिन्न करते हैं. गीता में कहा गया है कि कर्मयोगी अपने कर्मों को ईश्वर को समर्पित करता है, उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि वह युद्ध में किसी की हत्या कर रहा है. गीता में कहा गया है कि जो व्यक्ति यह सोचता है कि आत्मा किसी की हत्या करता है और वह यह सोचता है कि आत्मा की हत्या होती है, दोनों अज्ञानी हैं. यह न तो हत्या करता है और न तो हता जाता है[६]. गीता में आत्मा को शाश्वत कहा है, न इसका जन्म होता है और न ही इसका विनाश. शरीर के नाश हो जाने पर भी इसका नाश नहीं होता.

गीता इस बात की प्रेरणा देती है कि मनुष्य को कर्मयोगी बनना चाहिए. संत एवं ऋषि स्थित-प्रज्ञ की अवस्था में पहुंच कर संसार के व्यामोह से छुटकारा पाकर कर्मरत रहते हैं.

सभी बड़े सन्यासी जो सत्य को समझते हैं, उन लोगों ने कहा युद्ध छेड़ा है. कभी-कभी युद्ध समाज में पाप का विनाश तथा पुण्य की स्थापना के लिए अति आवश्यक हो जाता है. यह अहिंसा के विरुद्ध नहीं है. अर्जुन एक अहिंसात्मक व्यक्ति है, क्योंकि हिंसा का सीधा सम्बन्ध व्यक्ति की स्वार्थपरता तथा कर्म के फल को भोगने की लालसा से है. वही कार्य हिंसात्मक कहा जा सकता है जो क्रोध, घृणा तथा कामना के वशीभूत होकर किया जाता है. कर्म के फल को पाने की लालसा तथा कामना किसी भी कर्म को हिंसात्मक बना देती है. अर्जुन के साथ ऐसी कोई बात नहीं था. किसी भी योद्धा के लिए यह असंभव है कि वह बिना किसी कामना या लालसा के युद्ध करे. अपने बन्धु-बान्धवों को बिना किसी राग-द्वेष से अभिभूत हुए मारना साधारण कार्य नहीं है.

महात्मा गांधी के लिए गीता कोई ऐतिहासिक घटना नहीं है. यह मनुष्य के अन्तर्द्वन्द्व से सम्बन्धित है. मनुष्य के मन में एक प्रकार का द्वन्द्व उठता है. मनुष्य की आध्यात्मिक शक्ति उसके राग-द्वेष पर विजय प्राप्त करना चाहती है. उसे ठीक मार्ग पर चलना है, बिना किसी लाभ-हानि का ख्याल किए. गांधी जी कहते हैं--" १८८८-८९ की बात है जब मैं पहली बार गीता के बारे में जान पाया था, तब ऐसा लगा कि यह ऐतिहासिक घटना नहीं है, किंतु बाह्य युद्ध के माध्यम से अन्त में होने वाले युद्ध की व्याख्या है. बाह्य युद्ध तो

केवल अन्त: के युद्ध की अभिव्यक्ति मात्र है. यह अन्त: अनुभूति धर्म और गीता के अध्ययन के बाद अधिक पुष्ट हो गई।[10] गांधी जी का मत है कि सभी गीता चरित्र जैसे कृष्ण, अर्जुन, दुर्योधन काल्पनिक है, इसलिए यह स्पष्ट है कि गीता अन्त: युद्ध स्पष्ट करती है न कि बाह्य युद्ध. गीता अन्त: की अच्छाई और बुराई में हो रहे द्वन्द्व आध्यात्मिक तथा भौतिक अस्तित्व के बीच होड़ को स्पष्ट करती है. बाह्य युद्ध के माध्यम से अन्त: में जो द्वन्द्व उठता है, उसको गीता प्रकाशित करती है. यह इस बात पर विशेष बल देती है कि नैतिक तथा आध्यात्मिक चरित्र को अपनाया जाये और जीवन के उत्थ-पुत्थ में समभाव से कार्य करना चाहिए.

गांधी जी कहते हैं कि -- गीता जिसकी मार्गदर्शिका बनी हुई है, उसे कभी भ निराश नहीं होना पड़ता अथवा यों कहें कि उसे आशा कभी रखना ही नहीं चाहिए।.... निराशा से आरम्भ करने पर उसके फल बड़े मधुर होते हैं।.... निराशा भी मन की एक तरंग है, इसलिए जो सावधान रहता है, उसे कभी निराशा नहीं होती, क्योंकि वह आशा को मन में कभी स्थान नहीं देता।[11]

दूसरे अध्याय के अन्तिम १६ श्लोकों को गांधीजी गीता की व्याख्या की कुंजी बताते हैं और कहते हैं कि इन श्लोकों में इनके लिए संपूर्ण ज्ञान भरा है।[12] इन श्लोकों के अनुसार स्थिर बुद्धि की प्राप्ति का साधन बाह्य पदार्थों का त्याग नहीं, वासनाओं का त्याग है. गीता का आदर्श पुरुष स्थितप्रज्ञ, विनम्र और करुणापूर्ण है, वह सुख दु:ख, भय-द्वेष से मुक्त है, उसका शुभाशुभ परिणाम से कोई सम्बन्ध नहीं. वह आवश्यक रूप से अहिंसक है.

गीता में कृष्ण भगवान कहते हैं कि कोई भी अपना लक्ष्य बिना कर्म किये नहीं पा सकता. यदि हम लोग कर्म करना छोड़ दें तो संसार समाप्त हो जायगा. इस कारण मानव के लिए कर्म करना अति आवश्यक है. जो कर्म करना छोड़ देते हैं, उनका विनाश हो जाता है. किन्तु जो निष्काम रूप से कर्म करते हैं उनका उत्थान होता है. गीता इस बात पर बल देता है कि मनुष्य को अपना कर्म सुख- दु:ख, राग-द्वेष से निर्लिप्त होकर करना चाहिए.

गांधी जी भी गीता के इस मत से सहमत हैं. उनके अनुसार प्रत्येक कर्म के सम्बन्ध में मनुष्य को आनेवाले परिणाम को, उस कर्म के साधनों को और उसके करने की क्षमता को अवश्य जानना चाहिए. जो मनुष्य इस प्रकार सक्षम होता है, जिसमें परिणाम की इच्छा नहीं है और जो अपने सामने आये हुए कार्य को उचित रूप से पूरा करने के लिए पूर्णतया लगा हुआ है, उसके विषय में ही कहा जाता है कि उसने इच्छा का त्याग किया है. गांधी जी कहते हैं कि इस शिक्षा में यह अन्तर्निहित है कि हमारे सांसारिक कर्मों पर धर्म का शासन अवश्य होना चाहिए.

फलों का त्याग सिर्फ अहिंसा को पालन करने से ही संभव है. एक व्यक्ति जो कामना करता है, वह निष्काम कर्मयोगी नहीं हो सकता है. जो निष्काम कर्म करता है वही त्यागी हो सकता है. जो व्यक्ति हिंसात्मक,लोलुप, इन्द्रिय परायण तथा स्वार्थी है,वह फल की कामना नहीं छोड़ सकता.

गीता में धर्म के बारे में बताया गया है कि धर्म का दैनिक जीवन में बहुत महत्व है. आध्यात्मिक गीता उस गलत धारणा को दूर करती है कि धर्म का दैनिक जीवन में कोई स्थान नहीं है. गीता इस बात को बताती है कि मनुष्य को प्रतिदिन के जीवन में, व्यवसाय में, व्यवहार में धर्म काम आता है.

महात्मा गांधी का कथन है कि -- " गीता के रचयिता ने आध्यात्मिक तथा भौतिक जीवन के बीचोंबीच कोई सीमारेखा नहीं खींची है. गीता हमारे दैनिक जीवन को निर्देशित करती है. मैं ऐसा समझता हूं कि जिस चीज़ को दैनिक जीवन में नहीं किया जा सकता, उसे धर्म नहीं कहा जा सकता ।"[१३]

गीता दृष्टि यह है कि सब कार्य सेवाभाव से करें यानि ईश्वरार्पण करके करें. यह भाव गांधी जी ने अपने जीवन में अपनाया. जब हम ईश्वर को अर्पण करके हर काम करेंगे तो उसमें द्वेष का भाव नहीं रहता. उसमें दूसरों के प्रति उदारता रहती है.

गीता में गांधी जी मैमानसिक नियंत्रण की शिक्षा ली है. गांधी जी कहते हैं -- " मेरे ख्याल से मानसिक नियंत्रण सबसे कठिन है । इसके लिए उत्तम उपाय गीता का अभ्यास है । जब - जब मन को आघात लगता है,

तथा अभ्यास में असफलता रहती है। अच्छी और बुरी खबर दोनों ही तुम्हारे ऊपर से उसी तरह गुजर जाना चाहिए, जैसे बत्तख पानी पर होती है। जब हम कोई समाचार सुनें तब हमारा कर्तव्य इतना ही पता लगा लेना है कि कार्यवाई की जरूरत है या नहीं, और अगर है तो परिणाम से प्रभावित या उसके प्रति आसक्त हुए बिना प्रकृति के हाथों में साधन बनकर कर्म करें।[14]

गांधी जी के अनुसार, "गीता माता कहती है कि पुरुषार्थ करो, फल मुझे सौंप दो। ऐसी मोटी-मोटी बातें मैंने गीता-माता में पाई। उसे भक्ति से पढ़ना ठीक है। मैं प्रतिदिन उससे कुछ-न-कुछ प्राप्त करता हूं। इसलिए मुझे कभी निराशा नहीं होती।"[15] गीता पर जोर देते हुए पुनः कहते हैं --" यह सर्वोपरि ग्रन्थ है। अठारह अध्याय कंठ करना अधिक परिश्रम की बात नहीं। वन या कारागार में चले जायें तो कण्ठ करने के कारण गीता साथ जायेगी। प्राणांत के समय जब आंख काम नहीं देती, केवल थोड़ी बुद्धि रह जाती है तो गीता से ही ब्रह्म निर्वाण मिल सकता है।..."[16]

महात्मा गांधी और बौद्ध धर्म

सबसे पहले कुमारिल ने यह दिखाया कि बुद्ध की शिक्षाओं का मूल स्रोत उपनिषद् तथा वेद है और आज यह सिद्धांत सर्वमान्य हो चला है. इस आधार पर गांधी जी ने बौद्ध धर्म को हिन्दू धर्म का ही अंग बताया. गांधी जी का कहना है कि यदि बौद्ध धर्म को जानना है तो उसे भारतवर्ष में ही जाना जा सकता है, क्योंकि उसका जन्मस्थान भारत ही है.

महात्मा गांधी नैतिक धर्म को प्रस्तुत करते हैं, इस प्रकार उनका मत महात्मा बुद्ध के मत के समकक्ष दिखाई पड़ता है. महात्मा बुद्ध ने जीवन के नैतिक पक्ष पर अधिक बल दिया है तथा आध्यात्मिक पहलुओं की गवेषणा करने को अस्वीकार कर दिया है. गांधी जी भी बुद्ध की तरह नैतिक जीवन की महत्ता स्वीकार करते हैं तथा मुक्ति का मार्ग भी अपनाते हैं. नैतिक आचरण मनुष्य की आत्मा को पवित्र एवं पुनीत बनाता है. जब तक मानव नैतिक जीवन व्यतीत नहीं करता तब तक योग या कोई भी धर्म मुक्ति दिलाने में विशेष सहायक नहीं

बन सकता. महात्मा बुद्ध ने जाति -पाँति एवं वर्गभेद को मिटाकर नये समाज की रचना की है. बौद्ध भिक्षुओं में कोई भी अनुसूचित जाति का अछूत नहीं माना जाता है. गांधी जी भी बुद्ध की इन बातों से सहमत हैं. इन्होंने भी जाति समस्या एवं धर्म के नाम पर एक वर्ग को दूसरे वर्ग से पृथकता के विरुद्ध आवाज उठाई है.

महात्मा बुद्ध तथा गांधी जी दोनों ने मात्र अपनी मुक्ति को स्वार्थपरता बताया है. दोनों ने सर्वमुक्ति या कासमिक सैलवेशन की बात कही है. एक व्यक्ति तब तक मुक्त नहीं कहा जा सकता जब तक अन्य लोग बंधन में हैं. दोनों महात्माओं ने पुनर्जन्म लेने की बात कही है तब तक जब तक कि सर्व-मुक्ति नहीं होती है.

बुद्ध ने अहिंसा की शिक्षा प्रेम करने तथा दूसरे के प्रति आघात से बचने बचने के रूप में दी है. उन्होंने जीव घात न दी हुई वस्तु के ग्रहण, असत्य भाषण, विद्वेषपूर्ण वचन, लोभ, रोषपूर्ण दोषारोपण, उग्र क्रोध तथा अहं के त्याग पर बल दिया है[27]. गृहस्थों को भी जीवित प्राणों के प्रति हिंसा तथा युद्ध से बचना चाहिए. युद्ध, संघर्ष और हिंसा से कोई चीज नहीं सुलझती. बुद्ध ने कत्यों और शाक्यों के बीच युद्ध को रोक दिया था. बुद्ध के अनुसार --" विजय घृणा को जन्म देती है, क्योंकि विजित दुःखी रहता है[28]।"

बुद्ध और गांधी दोनों के अनुसार अहिंसा की अभिव्यक्ति व्यापक रूप से प्रेम, करुणा, कोमलता और निष्पक्षता में होनी चाहिए. बुद्ध जिस प्रेम की शिक्षा देते हैं वह समस्त जीवों के प्रति सचेतनरूप से अपनाया हुआ कल्याण भावनायुक्त प्रेम है. वे चाहते हैं कि भिक्षु समस्त प्राणियों, समस्त श्वासधारियों, समस्त जीवों और सभी पदार्थों के प्रेमपूर्ण हृदय से आप्लावित हो. यह प्रेम विषयेच्छा, कामना अथवा प्रतिदान की आशा के प्रेरक हेतु से मुक्त है. बुद्ध के अनुसार चाहे किसी के शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर दिये जायें, पर उसे सभी जीवों के प्रति सद्भावना का ही प्रदर्शन करना चाहिए. शरीर के टुकड़े-टुकड़े कर देने वालों की मुक्ति के लिए भी धैर्यवान रहना चाहिए और मन में भी उनको आघात नहीं पहुंचाना चाहिए.

महात्मा बुद्ध का अष्टांग मार्ग गांधी जी ने भी अपनाया है. गांधी जी के लिए अहिंसा सबसे अधिक महत्वपूर्ण है. परन्तु बुद्ध के लिए करुणा. कालक्रम के साथ विश्व एवं जीवन की समस्याएं एवं परिवेश बदल रहे हैं. इस बीसवीं सदी के बदलते मूल्यों एवं परिवेश में गांधी जी ने बौद्ध धर्म को एक नया रूप देने का प्रयास किया है जो बीसवीं सदी के परिवेश में उपयुक्त साबित हो.

गांधी और जैन धर्म

जैन धर्म के प्रवर्तक चौबीस तीर्थंकर थे, फिर भी जैन धर्म के विकास और प्रचार का श्रेय अन्तिम तीर्थंकर महावीर को दिया जाता है. महावीर का जन्म, विकास और मृत्यु हिन्दू-परम्परा में ही हो सका था. इस प्रकार जैन धर्म और हिन्दू धर्म में समानता है, और हिन्दुओं ने उनके प्रति आदर व्यक्त किया है. गांधी जी कहते हैं कि कर्म सिद्धांत और पुनर्जन्म सम्बन्धित जो विचार हम जैन धर्म में पाते हैं, उनपर हिन्दू धर्म का प्रेमभाव अभिव्यक्त होता है.

जैन धर्म के अनेकांतवाद के सिद्धांत को गांधी जी ने माना है. इस सिद्धांत के अनुसार प्रत्येक वस्तु के अनेक धर्म होते हैं. गांधी जी कहते हैं कि -- "मैं इस सिद्धांत को बहुत अधिक पसन्द करता हूं। इसी सिद्धांत ने मुझे सिखाया कि मुसलमान को उसकी ही दृष्टि से स्वयमेव जांचना चाहिए और ईसाई को उसके अपने मत से।"[१६]

जैन धर्म के दूसरे सिद्धांत स्याद्वाद को भी गांधी जी स्वीकार करते हैं. जैन दर्शन में प्रत्येक निर्णय को नय कहते हैं. यह दुर्नय, नय या प्रमाण नय हो सकता है. दुर्नय सर्वथा गलत है और नय साधारणतः सही समझा जाता है, पर तर्कतः गलत है और प्रमाण नय के अनुसार प्रत्येक निर्णय को स्यादपूर्वक कहना चाहिए. स्याद्वाद के अनुसार सभी व्यक्तियों को अपने-अपने दृष्टिकोण से सही समझना चाहिए. गांधी जी जब स्याद्वाद का प्रयोग करते हैं तो वे प्रमाण नय को न लेकर नय को ही लेते हैं. पर इसका अर्थ वे ठीक लगाते हैं कि प्रत्येक निर्णायक अपनी दृष्टि से सही है और दूसरों की दृष्टि से गलत और इस प्रकार सभी अपनी-अपनी दृष्टियों से सही हैं. इस सिद्धान्त ने

गांधी जी को लोगों को समझने में बड़ी मदद दी.

जैन दर्शन में प्रमाण और नय तथा दुर्नय तीनों के सात-सात प्रकार हो सकते हैं. गांधी जी सिर्फ प्रमाण वाले सप्तभंगिनय का ही उल्लेख करते हैं. इसके अनुसार किसी वस्तु को अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति दोनों, अवक्तव्य, अस्ति और अवक्तव्य, नास्ति और अवक्तव्य तथा अस्ति-नास्ति और अवक्तव्य इन सात दृष्टियों से देखा जा सकता है. तर्कतः ये दृष्टियां सिर्फ प्रमाण नय वाले सप्त भंगिनय में ही ठीक हैं, नय और दुर्नय में नहीं. गांधी जी कहते हैं-- "सभी रचनाओं में लेखक की दृष्टि अधिकतर एकांगी होती है । पर हर बात कम-से-कम सात दृष्टियों से देखी जा सकती है और उन-उन दृष्टियों से वह बात सच्ची होती है । पर सब दृष्टियां एक ही समय में एक ही मौके पर सही नहीं हुआ करतीं ।"[20]

अहिंसा जैन दर्शन का प्रमुख सिद्धांत है. जैनों का विश्वास है कि सारा संसार असंख्य शरीरधारी आत्माओं से भरा है. उनके शरीर या तो स्थूल और दृश्य हैं या सूक्ष्म और अदृश्य. सब तत्वों में आत्मा है. दुःख का कारण है आत्मा का भौतिक शरीर के बंधन में आना. शरीर-बंधन से आत्मा के छुटकारे के लिए, मुक्तात्मा होने के लिए, यह आवश्यक है कि व्यक्ति कर्मों के बन्धन से छूट जाय. इसके लिए तीन साधन हैं, जिन्हें जैन त्रिरत्न कहते हैं. ये हैं-- सम्यक् ज्ञान, सम्यक् दर्शन और सम्यक् चारित्र्य. सम्यक् चारित्र्य में पांच व्रत हैं. इनमें प्रथम व्रत अहिंसा है. जैन अहिंसा पर बहुत ज़ोर देते हैं. गांधी जी भी अहिंसा पर ज़ोर देते हैं, किन्तु दोनों के अहिंसा में अन्तर है. जैन साधु अपने शरीर और कपड़ों से कीड़े मकोड़ों को नहीं हटाते, जीव रक्षा के अभिप्राय से पानी छानकर पीते हैं. यानि अहिंसा का अर्थ इनके अनुसार छोटे-छोटे कीड़ों को न मारने से भी है. यह अर्थ अहिंसा के निषेधात्मक स्वरूप का चरमवादी प्रयोग है और इस रूप में दीनबंधु ऐण्ड्रूज़ के शब्दों में " अहिंसा इतना भारी बोझ बन गयी कि मानवता के लिए उसे वहन करना लगभग असंभव हो गया ।"[21] गांधी जी बचपन से जैन प्रभाव में आए, फिर भी उन्होंने विपरीत अहिंसा के विधायक रूप पर ज़ोर दिया है.

चार्वाक दर्शन को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शनों से गांधी जी ने कुछ-न-कुछ लिया है. सब धर्मों में उन्हें चार बातों में समानता मिलती है-- सभी दर्शन मानते हैं कि दुःख सत्य है, वे इस दुःख के कारण की खोज करते हैं, वे

इस दुःख के निरोध को संभव बताते हैं, और वे इस दुःख निरोध का उपाय या मार्ग बताते हैं. बौद्ध धर्म में इनको चार आर्य सत्य कहा गया है. पर वे केवल बौद्ध धर्म को ही नहीं, वरन् उपर्युक्त सभी दर्शनों की सर्वमान्य शिक्षाएं हैं. भारतीय दर्शनों की अद्भुत एक वाक्यता पर ही गांधी जी ने विशेष ध्यान दिया. इसके अलावा उन्होंने थोरो, रस्किन, टाल्सटाय, ईसाई धर्म, इस्लाम धर्म से भी कुछ लिया.

(४) पश्चिमी स्रोत

गांधी और थोरो

गांधी जी पर अमेरिका के प्रसिद्ध अराजकतावादी हेनरी डेविड थोरो के कार्यों और विचारों का बड़ा प्रभाव पड़ा. थोरो ने ही सविनय कानून भंग (सिविल डिसओबिडियन्स) शब्द का प्रयोग सबसे पहले सन् १८४६ में अपने एक भाषण में किया था. किन्तु गांधी जी का सविनय-कानून-भंग के विषय में जो कल्पना है वह थोरो के लेखों से नहीं ली है. उन्हें जब थोरो का निबन्ध सविनय कानून-भंग पर मिला, उससे पूर्व दक्षिण अफ्रीका में सत्ता का प्रतिरोध काफी आगे बढ़ चुका था. अपने अंग्रेज पाठकों को सत्याग्रह की लड़ाई का रहस्य समझाने के लिए गांधी जी ने थोरो के सविनय-कानून-भंग का उपयोग करना आरम्भ किया, परन्तु उन्होंने देखा कि यह शब्द भी इस लड़ाई का पूरा अर्थ नहीं दे पाता. अतः गांधी जी ने उसकी जगह सविनय प्रतिरोध (सिविल रजिस्टेंस) शब्द को अपना लिया[२२].

संक्षेप में थोरो का सिद्धान्त यह है कि जिन मनुष्यों और संस्थाओं से भलाई हो उनसे अधिक-से-अधिक सहयोग और जिनसे बुराई को प्रोत्साहन मिले, उनसे अधिक-से-अधिक असहयोग करना चाहिए. किन्तु गांधी जी के विपरीत थोरो ने दासता को हटाने के आन्दोलन में अमेरिकन सरकार के विरुद्ध निष्क्रिय प्रतिरोध ही नहीं, सक्रिय (हिंसक) प्रतिरोध को भी न्यायोचित बताया.

गांधी और रस्किन

गांधी जी के ऊपर जॉन रस्किन की अन टु दिस लास्ट नाम की पुस्तक का बड़ा प्रभाव पड़ा, विशेष रूप से उसमें वर्णित शारीरिक श्रम के आदर्श का. गांधी जी ने इस पुस्तक को दक्षिण अफ्रीका में पढ़ा था. उन्हें इसमें तीन शिक्षाएं मिलीं -- (१) व्यक्ति का हित सब के हित में सम्मिलित है, (२) सबको अपने कार्य से जीविकोपार्जन का समान अधिकार है, इसलिए वकील के कार्य का वही मूल्य है जो एक नाई के कार्य का है और (३) परिश्रम का जीवन अर्थात् किसान का और मजदूर का जीवन ही मनुष्योचित जीवन है. [२३]

रस्किन की एक दूसरी पुस्तक क्राउन ऑफ वाइल्ड ऑलिव्ज गांधी जी को बहुत प्रिय लगी. गांधी जी और रस्किन के बहुत से विचार आपस में मिलते-जुलते हैं. दोनों ने आत्मा को परमतत्त्व माना है. दोनों ही मनुष्य के स्वभाव की अच्छाई में विश्वास करते हैं. दोनों बुद्धि की अपेक्षा चरित्र को अधिक महत्व देते हैं. दोनों राजनीति और अर्थशास्त्र को नैतिकतामय बनाना चाहते हैं. दोनों राजनैतिक सुधार की अपेक्षा सामाजिक नव-निर्माण की प्राथमिकता पर ज़ोर देते हैं. दोनों बड़ी मशीनों को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं और यह चाहते हैं कि उनका उपयोग यदि करना ही पड़े, तो इस प्रकार होना चाहिए कि उनसे मनुष्य की दासता की नहीं, स्वतन्त्रता की वृद्धि हो. दोनों इस बात पर ज़ोर देते हैं कि पूंजीपति को अपने मजदूरों के प्रति एक बुद्धिमत्तापूर्ण पितृतुल्य दृष्टिकोण अपनाना चाहिए.

रस्किन के गुरु कार्लाइल का कहना था कि प्रत्येक मनुष्य के मताधिकार का अर्थ है-- घोड़ों, कुत्तों का अधिकार. कार्लाइल की तरह ही रस्किन का भी राजनैतिक आदर्श है सर्वश्रेष्ठ बुद्धिमान का शासन. [२४] अपने गुरु की तरह और गांधी जी के विपरीत रस्किन जनता को अविश्वास की दृष्टि से देखते हैं.

रस्किन का विश्वास जनतंत्रवाद में नहीं है. रस्किन के अनुसार प्रत्येक महत्वपूर्ण क्षण में ठीक राय बहुमत की नहीं, एक मनुष्य की होती है. रस्किन के अनुसार प्रत्येक आवश्यक कार्य का संचालन एक समझदार, सम्मानपूर्ण और सहृदय मनुष्य के हाथ में होना चाहिए. उनका मत है कि श्रेष्ठ मनुष्यों को

शासक बनना चाहिए, जिससे वे अपने ज्ञान और बुद्धिमत्तापूर्ण संकल्प से साधारण मनुष्यों का पथ-प्रदर्शन करें, उनका नेतृत्व करें, अवसर पड़ने पर उनको विवश करें और अपने आधान रखें. रस्किन इस प्रकार सिद्धांतत: अहिंसा के पक्ष में नहीं है, लेकिन साथ ही वे बदला लेने और दण्ड के विरुद्ध हैं. और चाहते हैं कि मजदूर शस्त्र-उपादान के कार्य में भाग न लें. गांधी जी के विपरीत रस्किन यह भी चाहते हैं कि राज्य का कार्य-क्षेत्र बढ़ाया जाये.[२५]

गांधी और टाल्सटाय

महात्मा गांधी को टाल्सटाय ने बहुत प्रभावित किया है. जे०जे० डोक ने गांधी जी को टाल्सटाय का शिष्य बताया है. गांधी जी भी अपने को टाल्सटाय का श्रद्धावान प्रशंसक मानते हैं और जीवन में बहुत-सी बातों के लिए उनके प्रति आभारी हैं.[२६] वे लिखते हैं कि स्वर्गीय रायचन्द्र के बाद टाल्सटाय उन तीन आधुनिक मनुष्यों में से एक हैं, जिनका मेरे जीवन पर अधिकतम आध्यात्मिक प्रभाव पड़ा है.[२७] इसमें तीसरे व्यक्ति रस्किन हैं.

अहिंसा का पाठ महात्मागांधी ने टाल्सटाय से सीखा है.यह ठीक है कि महावीर,बुद्ध तथा ईसामसीह ने सदियों पूर्व अहिंसा का पाठ पढ़ा था, किन्तु टाल्सटाय आधुनिक युग में अहिंसा के सच्चे प्रवर्तक माने जा सकते हैं. अहिंसा का जीवन में प्रयोग गांधी जी ने किया. यदि गांधी जी को हम अमर मानते हैं तो वह अहिंसा के व्यावहारिक प्रयोग के कारण. उन्होंने अहिंसा के सिद्धांत को जीवन में पूर्णरूपेण अंगीकार किया. टाल्सटाय ने भी अहिंसा पर बहुत बल दिया है. आधुनिक,वैज्ञानिक तथा व्यावसायिक युग में अहिंसा की बात भूली जा चुकी थी. टाल्सटाय ने फिर से उसका जीवन में प्रयोग किया.

अहिंसा का सिद्धांत प्रेम पर आधारित है. अहिंसा के पुजारी के हृदय में एकता तथा बंधुत्व की भावना दोनों आवश्यक है. अहिंसा द्वारा ही अज्ञान और अधर्म दूर हो सकते हैं और मनुष्य के हृदय में प्रेम भर सकता है. अहिंसा ही वसुधैव कुटुम्बकम् के सिद्धान्त की सार्थकता है. पापी से प्रेम करना एक बहुत बड़ी शाक्ति है. पाप से घृणा करो पापी से नहीं, पापी स्नेहास्पद है. गांधी जी कहते हैं पापी को प्यार करते हुए पाप और अधर्म के विरुद्ध अहिंसात्मक युद्ध करना ही

मनुष्य का कर्तव्य है, इसी तरह अपने शत्रु से भी प्रेमभाव रखने पर ज़ोर देते हुए गांधी जी कहते हैं--" जो हमसे प्रेम रखते हैं उन्हीं से प्रेम रखना अहिंसा नहीं है। अहिंसा तो तब है, जब हम अपने से द्वेष रखने वालों से भी प्रेम करें।"[28] गांधी तथा टाल्सटाय ने जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए प्रेम को ही अपना साधन बनाया. टाल्सटाय कहते हैं --" प्रेम मानव एकता के लिए एक प्रेरणा स्रोत है जो हमें अच्छे कर्मों के लिए प्रेरित करता है। मानव जीवन का चरम नियम प्रेम है जो हम आत्मा की गहराई में अनुभव करते हैं।"[29]

टाल्सटाय की प्रसिद्ध पुस्तक दि किंगडम ऑफ गॉड इज़ विदिन यू ने गांधी जी पर गहरी छाप डाली है. गांधी जी ने पचासवर्ष पूर्व दक्षिण अफ्रीका में टाल्सटाय की यह पुस्तक उस समय पढ़ी जब वे हिंसा में विश्वास करते थे और संशयवाद की उलझन में थे. टाल्सटाय से गांधी जी का परिचय टाल्सटाय की इसी पुस्तक द्वारा हुआ. गांधी जी इस बात को स्वीकार करते हैं कि इस पुस्तक को पढ़ने के बाद उनके मन का संदेहवाद समाप्त हो गया तथा अहिंसा के सिद्धांत में विश्वास जम गया. अहिंसा एक आध्यात्मिक शक्ति है. महात्मा गांधी तथा टाल्सटाय के लिए अहिंसा सभी सामाजिक कुरीतियों, राजनैतिक बुराइयों को दूर करने का तथा मानव समुदाय के कल्याणार्थ एक साधन है.

महात्मा गांधी और टाल्सटाय दोनों ने प्रेम को स्वीकार किया है, और हिंसा को नकारा है. हिंसा का प्रयोग करने का अर्थ है मानवीय मूल्यों को नकारना. यदि हिंसा को नहीं रोका गया तो मानवीय मूल्यों का विघटन अवश्यम्भावी है. टाल्सटाय का कहना है कि हिंसा का प्रयोग मानव जीवन के लिए अत्यन्त घातक है तथा प्रेम के सिद्धांतों के विरुद्ध है. महात्मा गांधी तथा टाल्सटाय दोनों का मानव के आध्यात्मिक भावनाओं में विश्वास है. दोनों प्रेम की शक्ति में विश्वास करते हैं तथा समाज की बुराइयों एवं कुरीतियों को समाप्त कर देना चाहते हैं. दोनों सत्य में विश्वास करते हैं तथा सत्य का जीवन में प्रयोग भी करते हैं. टाल्सटाय कहते हैं--" मेरे लेखों की नायिका सत्य है, जिसे मैं जीवन की सम्पूर्ण शक्ति से प्रेम करता हूं, जो सदा सुन्दर थी, है और रहेगी।"[30]

दोनों ने आधुनिक सभ्यता की निन्दा की है, क्योंकि उसका आधार हिंसा और शोषण है और वह वासनाओं को प्रोत्साहित करता है और इसलिए अनैतिक है. दोनों बुराई से लड़ने के हिंसात्मक साधनों के विरोधी हैं. दोनों व्यक्ति के सुधार को, उसकी आत्मशुद्धि को समाज के नव निर्माण का पहला चरण मानते हैं. दोनों आदर्श समाज के विस्तृत विवेचन पर नहीं, परन्तु साधनों की शुद्धता पर अधिक ध्यान देते हैं.

गांधी तथा टाल्सटाय दोनों ने मानव की अच्छी भावनाओं तथा अन्तर आत्मा के उत्थान की बात कही है. दोनों हिंसात्मक साधन की भर्त्सना करते हैं. दोनों साधन की पवित्रता पर बल देते हैं. दोनों कठोर नैतिक जीवन, साधारण जीवन, परिश्रम तथा ब्रह्मचर्य जीवन को मानते हैं. आध्यात्मिक शुद्धि के लिए मनुष्य को उचित कर्म करने पर बल दिया गया है. दोनों का मत है कि व्यक्ति के नैतिक विकास के लिए त्याग-प्रधान नैतिकता, जीवन की चरम सरलता, शारीरिक श्रम और इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक है.

टाल्सटाय तथा गांधी दोनों कर्मयोगी हैं. दोनों मनुष्य की पूर्णता को उचित कर्म एवं सत्य कर्म के माध्यम से प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं. टाल्सटाय तथा गांधी दोनों वेदान्त दर्शन को मानते हैं. दोनों विश्वास करते हैं कि मानव ईश्वर से तादात्म्य स्थापित कर सकता है. वैष्णव धर्म को मानने वाले गांधी तथा टाल्सटाय ने ऐसा माना है कि मानव ईश्वर का अंश है. मानव ईश्वर पर निर्भर करता है. टाल्सटाय तथा गांधी दोनों उपनिषद् के दर्शन से अधिक प्रभावित हुए. टाल्सटाय ने कहा -- "हमें पहली बार स्पष्ट रूप से लगा कि ईश्वर है, मैं ऐसा महसूस करता हूं कि ईश्वर की सत्ता है तथा मैं ईश्वर की सत्ता में सान्निहित हूं, तथा ईश्वर की सत्ता के परे कुछ भी नहीं है । मैं ईश्वर के समक्ष तुच्छ व्यक्ति हूं । ऐसा लगा कि असीम ससीम में समाविष्ट है ।"[31]

यद्यपि गांधी जी टाल्सटाय के शिष्य थे, किन्तु बहुत सारी बातों में वे अपने गुरु से भी आगे बढ़ गये. इस प्रकार गांधी और टाल्सटाय के सिद्धांत में अन्तर भी दिखाई देता है. टाल्सटाय की अपेक्षा गांधी जी कहीं अधिक व्यावहारिक हैं. वे जीवन के निकट सम्पर्क में रहते हैं और अनावश्यक बातों में सदा समझौता करने को तैयार रहते हैं. उनका विचार है कि समझौता आवश्यक है,

क्योंकि मनुष्य बात सत्य सापेक्ष होता है, अपने साधनों की पवित्रता का सदा उन्हें ध्यान रहता है, किन्तु टालस्टाय के विपरीत वे परिवर्तनशील संसार की स्थिति के अनुसार अपने कार्यों में हेर-फेर करने को सदा तैयार रहते हैं, उनका मत है कि आदर्श का पूर्ण सिद्धि असंभव है, इसलिए जहाँ तक हो सके आदर्श तक पहुंचने का प्रयत्न करना चाहिए.

अहिंसा को टालस्टाय ने एक ऐसी शक्ति माना है,जिसका प्रयोग व्यावहारिक जीवन में नहीं किया जा सकता है,गांधी जी ने अहिंसा के सिद्धांत को जीवन में चरितार्थ किया है, अपनी स्वार्थपरता एवं लोभ के कारण दूसरे पर चोट एवं हत्या नहीं करना चाहिए, गांधी की अहिंसा गीता के निष्काम कर्म से अभिभूत है, स्थितिप्रज्ञ की अवस्था में जब व्यक्ति अपना कर्म करता है तो वह राग-द्वेष से ऊपर उठ जाता है, कुछ सन्दर्भ में मारना हिंसा में नहीं गिना जाता है, यदि हमारा विचार पवित्र हो तथा कर्म सत्य पर आधारित हो तो कर्म करने के सिलसिले में यदि किसी को दु:ख या तकलीफ होती है तो उसे हिंसा नहीं कहेंगे, गोपीनाथ धवन का कहना है--" कुछ सन्दर्भ में गांधी के अनुसार, हत्या भी अहिंसा है । जीवन के कर्मों में कुछ अंशों में हिंसा का हाथ है, टाल्सटाय उससे विमुख हो जाते हैं । दूसरी तरफ, गांधी गीता के निष्काम कर्म का पालन करते हैं । इस महत् भेद के कारण गांधी टाल्सटाय से आगे बढ़ जाते हैं, जहाँ तक अहिंसा के सिद्धांत का जीवन में प्रयोग का प्रश्न है ।"[32] पवित्रता की भावना,समाज-सुधार, अभिप्राय की शुद्धता तथा ईश्वर में अटूट श्रद्धा ये सब दोनों महान विचारक की विशेषताएं हैं, टाल्सटाय ने सत्य,प्रेम और अहिंसा की झांकी पाई थी और गांधी जी ने उन सिद्धांतों का व्यावहारिक प्रयोग किया है, इसी अन्तर के कारण जिन सामाजिक कुरीतियों को टालसटाय ने इतनी कुशलता से उद्घाटित किया और जिनकी इतनी उग्रता से निन्दा की,उनको सुधारने के अहिंसक साधनों के विकास में और उन साधनों के प्रयोग में गांधी जी टालस्टाय की अपेक्षा बहुत आगे बढ़ गये ।

महात्मा गांधी और ईसाई धर्म

महात्मा गांधी के जीवन में बचपन से ही धर्म के अंकुर फूटने लगे थे, ईसामसीह और उनकी शिक्षाएं गांधी जी के सत्याग्रही दर्शन का एक

महत्वपूर्ण स्रोत है. गांधी जी ने एक बार अपने मित्र जे०जे० डोक साहब से कहा था कि न्यू टेस्टामेंट और विशेषकर पर्वत की धर्मशिक्षा ने ही वास्तव में उनके हृदय को सत्याग्रह की उपयुक्तता और मुल्य के प्रति जागृत किया है.

गांधी जी ने कहा है कि आत्मज्ञान के क्षेत्र में हिन्दू धर्म ईसाई धर्म से बढ़कर है. गांधी जी ने बाइबिल पढ़ी और वर्षों में भी वह यदा-कदा जाते रहे हैं. गांधी जी को ओल्ड टेस्टामेंट की अपेक्षा न्यू टेस्टामेंट अधिक रुचिकर लगा. ईसा का गिरिप्रवचन तो सीधा हृदय में बस गया. उसमें तथा गीता में गांधी जी को सादृश्य दिखाई दिया. गांधी जी कहते हैं -- "मान लीजिए, आज मुझसे गीता छीन ली जाय और उसकी सब बातें में भूल जाऊँ, परन्तु मुझे गिरि-शिखर-प्रवचन (दि सर्मन ऑन दि माउण्ट) की पुस्तिका मिल जाये, तो मुझे उससे वही आनंद प्राप्त होगा जो गीता से होता है।"

ईसाई धर्म की एक अमिट छाप गांधी जी पर पड़ी है. दि सरमन ऑन दि माउण्ट ने तो उनके जीवन तथा चरित्र पर एक गहरी छाप छोड़ी है. उनका धन-दौलत के प्रति विराग, अहिंसा तथा मानव-मात्र के प्रति अनुराग ईसाई धर्म की ही देन है.

महात्मा गांधी ने बताया कि ईसाई धर्म और हिन्दू धर्म दोनों में ईश्वर-विचार एक-दूसरे से मिलते -जुलते हैं. ईसाई धर्म में त्रिमूर्ति की कल्पना की गई है. पिता-पुत्र और पवित्र आत्मा तीनों एक ही ईश्वर के भिन्न-भिन्न रूप हैं. हिन्दू धर्म में ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश की कल्पना की गई है. ये तीनों एक ही ईश्वर के रूप हैं. दोनों धर्मों में ईश्वर को विश्व का स्रष्टा माना गया है. दोनों धर्मों के अनुसार ईश्वर की संख्या एक है, अतः दोनों धर्मों को एकेश्वरवादी धर्म कहा गया है.

महात्मा गांधी को गीता और सरमन ऑन द माउण्ट के सिद्धांत में साम्यता दिखती है. निष्काम कर्म, अभिप्राय की पवित्रता, नैतिक निर्णय तथा अन्याय का विरोध इन दोनों में मिलता है.

गांधी जी का कहना है कि यदि केवल पर्वत की धर्म शिक्षा और उसके उनके अपने भाष्य को स्वीकार करने की ही बात होती, तो अपने को

ईसाई कहने में उनको ज़रा भी संकोच न होता। गांधी जी के अनुसार पर्वत की धर्मशिक्षा उनके लिए संपूर्ण ईसाई धर्म है, जो ईसाई जीवन बिताना चाहता है, वे पर्वत की धर्म शिक्षा और गीता में कोई भेद नहीं देखते, पर्वत की धर्म शिक्षा जिसका वर्णन चित्रात्मक ढंग से करती है, उसी को गीता वैज्ञानिक सिद्धांत के रूप में उपस्थित करती है।

महात्मा गांधी का जीवन तथा चरित्र भी ईसामसीह के जीवन तथा चरित्र से मेल खाता है। गांधी और ईसा दोनों ने ही प्रेम पर बहुत ज़ोर दिया है। ईसा ओल्ड टेस्टामेंट के दो आदेशों को उद्धृत करते हैं, तुम्हें अपने ईश्वर से प्रेम करना होगा और तुम्हें अपने पड़ोसी से अपने समान प्रेम करना होगा। ईसा कहते हैं कि दोनों आदेश एक-दूसरे के समान हैं और धर्म-प्रवर्तकों का और समस्त धर्मविधियों का आधार है। ईसा कहते हैं केवल मित्र से ही प्रेम नहीं करना चाहिए, बल्कि शत्रु से भी प्रेम करना चाहिए, जो शाप दे उसको आशीर्वाद देना चाहिए। गांधी जी भी इससे सहमत हैं। गांधी जी कहते हैं जो तुम्हें एक गाल पर थप्पड़ मारे उसके सामने दूसरा गाल भी कर दो।

हिन्दू धर्म का समर्थक जो सीमित क्षेत्र में रहता है तथा धर्म एवं नैतिकता का कट्टरता से पालन करता हो वह उदार धर्म एवं उदार मानव प्रेम की बात कैसे कर सकता है। उसकी नैतिकता सिर्फ अपने ही धर्मावलम्बियों के लिए है। वह दूसरे धर्म के मानने वाले तथा दूसरे धर्म के समर्थकों के प्रति अनैतिक तथा अधार्मिक व्यवहार करता है। महात्मा गांधी हिन्दू धर्म को ऐसी संकीर्णता से बचाने का प्रयास करते हैं। गांधी जी ने अछूतों के भेद-भाव को मिटाने के लिए कई बार सत्याग्रह एवं भूख हड़ताल किया है। महात्मा गांधी ने अपने जीवन में मानव-कल्याण के लिए बहुत कष्ट उठाया है। ईसा मसीह भी मानव-कल्याण हेतु पाप को अपने-आप में आत्मसात् करने के लिए सूली पर चढ़ गये। रोम में सूली पर चढ़े हुए ईसा का एक चित्र देखकर गांधी जी ने कहा -- "पोप के महल में सूली पर चढ़े हुए ईसा की सजीव मूर्ति के सामने सिर झुका सकने के लिए मैं क्या नहीं दे डालता ? जीती-जागती करुणा के इस दृश्य से अलग होते हुए मुझे बड़ी पीड़ा हुई। उस दृश्य को देखते हुए मैंने मुहूर्तमात्र में समझ लिया कि व्यक्तियों

की भांति राष्ट्र भी सूली की यातना सहकर ही बनाये जा सकते हैं, और किसी तरह नहीं। आनंद दूसरों को पीड़ा पहुंचाने से नहीं मिलता, परन्तु क्लेशों से स्वयं कष्ट भोगने से मिलता है।[35] ईसामसीह का क्रास तथा गांधी का सत्याग्रह दोनों ही त्याग के प्रतिरूप हैं. ईसामसीह ने सूली पर चढ़कर मानव-समुदाय का पाठ पढ़ाया. गांधी जी ने सत्याग्रह का पाठ पढ़ाया. ईसामसीह के सिद्धांतों का व्यावहारिक रूप सत्याग्रह है. जब व्यक्ति अपना जीवन-धर्म तथा जीवन के मूल्यों को ग्रहित करने में लगा देता है तो वह ईसामसीह के पाठ को समझता है. ईसामसीह के सिद्धांत की विलक्षणता तब दिखती है जब हम देखते हैं कि सत्य के पथ पर चलने के लिए वे मृत्यु को भी अपना लेते हैं. गांधी जी ने भी ईसा को तरह सत्याग्रह के सिद्धांत को माना है. गांधी जी ईसा को सत्याग्रहियों का सिरताज मानते हैं. ईसामसीह और उनकी शिक्षाएं गांधीजी के सत्याग्रही दर्शन का एक महत्वपूर्ण स्रोत है. गांधी जी ने एक बार अपने मित्र जे० जे० डोक साहब से कहा था कि न्यूटेस्टामेंट और विशेषकर पर्वत का धर्म शिक्षा ने ही वास्तव में उनके हृदय को सत्याग्रह की उपयुक्तता और मूल्य के प्रति जागृत किया है.

गांधी और ईसा दोनों सिर्फ व्यक्तिगत पूर्णता तथा मुक्ति की बात ही नहीं करते वरन् सामाजिक नैतिकता, राजनैतिक वातावरण की शुद्धि तथा राष्ट्र के नियमों में सुधार की भी बात सोचते हैं. महात्मागांधी केवल व्यक्ति की आंतरिक नैतिकता तक ही सीमित नहीं रहते हैं, बल्कि समाज को एक नये रूप से सजाने-संवारने, बंधुत्व की भावना, प्रेम, न्याय तथा समता की बात कहते हैं.

यद्यपि महात्मा गांधी ईसाई धर्म के प्रशंसक रहे हैं, किन्तु उन्होंने बहुत-सी बातों का खण्डन भी किया है. पहली बात कि गांधी यह नहीं मानते कि मानव का रूप पापमय है. गांधी जी का कहना है कि मनुष्य पाप इस कारण से करता है, क्योंकि वह अपूर्ण एवं अज्ञानी है. मनुष्य हाड़-मांस का लोथड़ा है. वह पार्थिव चीजों से सीमित रहता है. इस कारण वह पाप करता है. गांधी जी इस बात से असहमत हैं कि ईसामसीह ने मानव समुदाय को पाप से मुक्ति दिलाई. उन्होंने कहा कि सभी को अपने पाप-कर्म भोगना पड़ेगा. कोई भी व्यक्ति अपने पाप-कर्म के

दण्ड से मुक्ति नहीं पा सकता. यह ठीक है कि मानव को अपने पाप कर्मों के फल को भुगतना चाहिए न कि ईश्वर की कृपा के कारण पापकर्म से मुक्ति लेनी चाहिए. गांधी जी कहते हैं --"यदि यही ईसाई धर्म है, जो ईसाइयों के द्वारा सर्वमान्य है, तो मैं इसे स्वीकार नहीं करता । मैं अपने पाप के परिणाम से मुक्ति नहीं चाहता, मैं पाप से मुक्ति चाहता हूं या पाप के विचार मात्र से मुक्ति चाहता हूं । जब तक मैं इस अवस्था तक नहीं पहुंचा तब तक मैं अपने दु:ख से सन्तुष्ट रहूंगा ।"[36] इस प्रकार ईसाई मत पाप के परिणाम से मुक्ति दिलाता है, पापवृत्ति से नहीं. जब कि हिन्दू धर्म पापवृत्ति से मुक्ति दिलाता है, क्योंकि वह कर्म-फल-त्याग की भावना से कर्म करने का विधान करता है जिससे पाप होता ही नहीं और वह कर्ता को पुण्यात्मा मानता है. इस प्रकार गांधी जी को हिन्दू धर्म ईसाई धर्म से श्रेष्ठ लगा.

गांधी जी कहते हैं --" मेरी बुद्धि इस बात को मानने के लिए तैयार नहीं है कि ईसा ने अपनी मृत्यु तथा खून का बलिदान करके संसार को पाप से निवृत्ति दिला दी है ।"[37]

ईसाई मत के अनुसार केवल मनुष्य में ही आत्मा है लेकिन गांधी जी का विश्वास है कि जीवमात्र में आत्मा है. गांधी जी को यह मान्य नहीं है कि ईसामसीह ईश्वर के अवतार हैं. उनके लिए कृष्ण, राम, मुहम्मद तथा जराथ्रस्त्र सभी समानरूप से अवतार हैं. यदि ईसामसीह ईश्वर के अवतार हैं तो ये सभी पवित्र आत्मायें भी ईश्वर के अवतार हैं.

गांधी जी कहते हैं --" ईसा केवल ईश्वर के पुत्र नहीं हो सकते और ईश्वर भी केवल उनके पिता नहीं हो सकते, क्योंकि वह अन्य व्यक्तियों की तरह विवाह नहीं रचाते. यदि आलंकारिक रूप में लें तो ईश्वर पृथ्वी पर के सभी जीवों का पिता है"[38]. इस तरह से ईसाई धर्म का गांधी जी ने खंडन किया. हम लोगों को भी यह मान्य नहीं है कि केवल ईसामसीह ही ईश्वर के अवतार व धर्मोपदेशक थे, क्योंकि अन्य आत्मायें भी हैं व जो उनसे कम पवित्र नहीं हैं, जहां तक त्याग की बात है, हिन्दू धर्म में अनेक विलक्षण उदाहरण मिलते हैं. महात्मा गांधी इस बात का खण्डन करते हैं कि ईसामसीह ही सच्चे ईश्वर के एकमात्र अवतार हैं. गांधी जी ने ईसामसीह को शहीद, त्याग की मूर्ति और दैवी शिक्षक के रूप में

तो स्वीकार किया है किन्तु उन्हें एकमात्र सर्वोच्च पूर्ण मनुष्य के रूप में स्वीकार नहीं किया है. गांधी जी कहते हैं जिस अर्थ में कट्टर ईसाई धर्म ईसा को संसार का त्राता समझता है उस अर्थ में वे उन्हें संसार का त्राता नहीं मानते. परन्तु ईसा इस अर्थ में त्राता अवश्य थे, जिसमें बुद्ध,जरथुस्त्र, मुहम्मद तथा अन्य अनेक महान व्यक्ति थे. दूसरे शब्दों में उन्होंने समस्त संसार में केवल ईसा ही देवत्व से विभूषित है ऐसा नहीं माना है.

गांधी जी मानते हैं कि -- क्रास पर ईसा का मृत्यु जगत् के लिए एक बहुत बड़ा उदाहरण थी, लेकिन मेरा हृदय यह स्वीकार नहीं कर पाता था कि उनकी मृत्यु में कोई रहस्य अथवा चमत्कार का गुण था । ईसाइयों के पवित्र जीवन में मुझे कोई ऐसी चीज़ नहीं मिली, जो अन्य धर्मों के अनुयायियों के जीवन में मुझे न मिली हो । दूसरों के जीवन में मुझे वही परिवर्तन और सुधार दिखाई दिया जो ईसाइयों के जीवन में मुझे दिखाई दिया । तत्वज्ञान की दृष्टि से ईसाई धर्म के सिद्धांतों में मुझे कुछ असाधारण या अलौकिक नहीं दिखाई दिया । त्याग की दृष्टि से मुझे हिन्दू धर्म के अनुयायियों का त्याग ईसाइयों से कहीं ज्यादा ऊंचा मालूम हुआ । ईसाई धर्म को एक पूर्ण धर्म अथवा सर्वोच्च धर्म मानना मेरे लिए असंभव था ।[36]

ईसाई धर्म का यह दावा करना कि वही केवल सच्चा धर्म है, बहुत ही कट्टरवादिता का द्योतक है. गांधी जी के अनुसार कोई भी धर्म पूर्णरूपेण सत्य नहीं हो सकता. सत्य को मनुष्य सीमित मस्तिष्क एवं हृदय से पाता है. इस कारण धर्म की अभिव्यक्ति भी सीमित होती है. धर्म का कहीं पूर्णता नहीं है.

अगर ईसामसीह फिर से इस धरती पर आयें तो वे ऐसी बहुत सी बातों को अस्वीकार कर देंगे, जो ईसाई धर्म के नाम पर इस दुनिया में चल रहा है. सच्चा ईसाई वह नहीं है जो मुख से प्रभु-प्रभु का उच्चारण करता है परन्तु वह है जो प्रभु की इच्छा के अनुसार आचरण करता है.

महात्मा गांधी तथा इस्लाम

गांधी जी को कुछ लोगों ने मुस्लिमपरस्त कहा है. गांधी जी कुरान के कुछ आयतों का नियमित प्रार्थना करते हैं. रघुपति राघव राजाराम, पतित पावन सीता राम, इस हरिकीर्तन पदावली में उन्होंने ईश्वर अल्लाह तेरो नाम, सब को सन्मति दे भगवान, इसको भी जोड़ा. वे सदा राम रहीम और कृष्ण-रहीम के रूप में ही अपने आराध्य देव को भजते थे. वे मानते थे कि ओज अविल्ला में वे सारी बातें हैं जो यजुर्वेद में है.

महात्मा गांधी के अनुसार इस्लाम शान्ति का धर्म है. गांधी जी कहते हैं, --" .... मैं इस्लाम को उसी अर्थ में शान्ति-धर्म मानता हूं, जिसमें ईसाई, बौद्ध या हिन्दू-धर्म को मानता हूं। निःसंदेह शांति की मात्रा में अंतर है, मगर उन धर्मों का उद्देश्य शांति है।[40] इस्लाम शब्द का अर्थ ही है शान्ति, सुरक्षा, मुक्ति मुसलमानों के सामान्य अभिवादन शब्द अस्सलामालेकुम का अर्थ है आपको शांति प्राप्त हो. सभी धर्म संसार में शांति एवं मानव का मुक्ति चाहते हैं. यद्यपि मुसलमान लोग बहुत जल्दी अपना तलवार म्यान से बाहर निकाल लेते हैं, किन्तु कुरान कभी हिंसा का पाठ नहीं पढ़ाता. दुर्भाग्यवश कुछ लोग इस्लाम को हिंसा का धर्म मानते हैं. लेकिन ऐसी बात उनके कुरान शरीफ में नहीं पाई जाती है. हिंसा और इस्लाम का संबंध इसलिए बताया गया है, क्योंकि जिस वातावरण में इस्लाम का उत्पत्ति हुई वह हिंसापूर्ण था. गांधी जी कहते हैं--" मैं यह राय दे चुका हूं कि इस्लाम के अनुयायी तलवार का उपयोग बहुत खुले हाथों करते हैं। परन्तु यह कुरान की शिक्षा का फल नहीं है। मेरी राय में इसका कारण वह वातावरण है, जिसमें इस्लाम पैदा हुआ। ईसाई धर्म का भी एक खूनरंजित इतिहास है और वह उसकी शिक्षा के खिलाफ है तथा उसके गौरव को घटाता है। लेकिन उसका कारण यह नहीं है कि ईसा कसौटी पर पूरे नहीं उतरे। कारण यह है कि जिस वातावरण में उस धर्म का प्रसार हुआ वह उनकी उच्च शिक्षा के अनुकूल नहीं था।"[41]

गांधी जी की ही तरह मुहम्मद साहब ने भी अहिंसा को माना है. कुरान में कुछ ऐसे स्थल भी हैं, जो यह प्रदर्शित करते हैं कि मुहम्मद साहब

हिंसा का अपेक्षा अहिंसा को अन्याय और बुराई पर विजय पाने का अधिक अच्छा उपाय समझते थे, उन्होंने कहा -- बुराई को उससे द्वारा हटाओ जो उससे (बुराई से) अधिक अच्छा है।[42]

इस्लाम के अनुसार अहम् का ईश्वर के समक्ष समर्पण तथा व्यक्ति के अहम् को नकारना सम्यक्ज्ञान का परिणाम है[43], इन दोनों को पुष्टि भगवद्गीता तथा कुरान में की गई है, गांधी जी कुरान तथा गीता में साम्यता दर्शाते हुए बताते हैं कि दोनों धर्म ग्रन्थ व्यक्ति के अहम्, स्व समर्पण तथा त्याग की बात करते हैं, कुरान में कहा गया है कि जो व्यक्ति अपने अच्छे कर्म और समी प्रयोजन अल्लाह को समर्पित कर देताहै, वह ईश्वर के सान्निध्य को प्राप्त कर लेता है।[44]

इस्लाम का भक्त वह है जो उचित कर्म करता है तथा सत्य की बलिवेदी पर अपना जीवन न्यौछावर करने के लिए तैयार रहता है, वह प्रत्येक कर्म इसलिए करता है कि जो पूर्व जन्म के पाप कर्म हैं उनसे भी मुक्ति मिल जाय, महात्मा गांधी भी कुरान के सापेक्ष ईश्वर को मानते हैं, गांधी जी भी मूर्तिपूजा तथा मानव-पूजा के विरोधी हैं.

मुहम्मद साहब ने सत्य और प्रेम का सन्देश दिया है, उन्होंने भी अहिंसा को हिंसा से उच्च माना है, उनके हृदय में मानव समुदाय के लिए अटूट प्रेम था, उन्होंने उन लोगों को दुत्कारा जो खेलने और खाने के लिए निर्दोष चिड़ियों की जान लेते हैं, मुहम्मद साहब को उन लोगों के विरुद्ध युद्ध छेड़ना पड़ा जो गलत काम करते थे, किन्तु उनका युद्ध आत्मरक्षा के लिए तथा नैतिकता की रक्षा के लिए है, उन्होंने सहिष्णुता, बन्धुत्व तथा ईश्वर को समर्पण की गूढ़ धार्मिक बातें बताईं.

गांधी जी का यह दावा ठीक था कि वे सच्चे हिन्दू हैं, इसलिए वे सच्चे मुसलमान, सच्चे पारसी, सच्चे सिक्ख हैं, वह यह भी कहते हैं कि धर्म परिवर्तन की आवश्यकता नहीं है" धर्म प्रलय शब्द मेरे शब्द कोष में नहीं है।[45] एक धर्म को अच्छी तरह मानने वाला अगर दूसरे धर्म को सच्ची तरह से समझे तो वह

अनुभव करेगा कि वह उसे भी सच्ची तरह मानता है, क्योंकि सभी धर्मों की शिक्षा है प्रेम, सत्य और अहिंसा. इसीलिए गांधी जी ने अहिंसा परमोधर्मः, न हि सत्यात् परो धर्मः, न हि दया सदृशः धर्मः में सब धर्मों का समन्वय किया है.

गांधी जी के ऊपर हजरत मुहम्मद साहब का भी बहुत प्रभाव पड़ा. गांधी जी कहते हैं--" ...... मेरे लिए केवल वेदादि ही धर्मशास्त्र नहीं हैं, बल्कि कुरान और बाइबिल आदि भी उसी तरह धर्मशास्त्र हैं. मैं जिस तरह गीता और उपनिषद् आदि को मानता हूं, उसी तरह दूसरे धर्मग्रन्थों का भी आदर करता हूं। मेरा विश्वास है कि मुहम्मद साहब संसार में एक महान पैगम्बर थे। इसी प्रकार महात्मा ईसा भी हो गये हैं। इन ग्रन्थों को देखने से मेरे ऊपर यह असर पड़ा है कि पैगम्बर साहब एक सच्चे और खुदापरस्त पुरुष थे[४५]। गांधी जी ने बताया है कि वे मुहम्मद साहब को सदा पूजते हैं. मुहम्मद साहब सिर्फ ईश्वर से डरते थे. वे हमेशा वही करते थे जो कहते थे. वे सत्य के पुजारी थे. वे ईश्वर के परम भक्त थे. इन सब बातों का गांधी जी पर बड़ा प्रभाव पड़ा.

-0-

सन्दर्भ

(१) डा० भगवानदास : गांधी अभिनन्दन, पृ०६८

(२) माथुर, प्रेमनारायण (संपादक) : गांधी ग्रन्थ, पृ०५२

(३) फिशर लुई (हिन्दी अनुवाद चन्द्रगुप्त वार्ष्णेय) : गांधी की कहानी, पृ०६

(४) गांधी : एन आटोबायग्राफी : द स्टोरी ऑफ माइ एक्सपेरिमेन्ट्स विद ट्रुथ, पृ०६.

(५) " I have read the Vedas and the Upanishads only in translations. Naturally, therefore, mine is not a scholarly study of them. My knowledge of them is in no way profound, but I have studied them as I should do as a Hindu and I claim to have grasped their true spirit."

तेन्दुलकर, डी०जी० : महात्मा, भाग २, पृ०४६

(६) यंग इंडिया , भाग २,पृ० १०७८-७९

(७) कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते संगो स्त्व कर्मणि ।।

-- श्रीमद्भगवद्गीता--अध्याय २,श्लोक ४७,पृ० ५५

(८) यंग इंडिया --२२-८-२९,पृ० २३२

(९) य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानातो नायं हन्ति न हन्यते ।।

--भागवतगीता, अध्याय २,१९ :पृ०४५

(१०) देसाई, एम: द गीता एकोर्डिंग टू गांधी, पृ०१२७

(११) नवजीवन हिन्दी, १९-११-१९२५

(१२) यंग इंडिया, भाग २, पृ०९३५

(१३) देसाई, एम: द गीता एकोर्डिंग टू गांधी ,पृ० १३२

(१४) बापू के पत्र : मीरा के नाम, १३-१२-१९३०

(१५) काशी , १-८-१९३४ । ह० से० १०-८-१९३४

(१६) वही

(१७) कुमारस्वामी तथा हार्नर, पृ०१२२

(१८) कुमार स्वामी, आनंद : बुद्ध एण्ड दि गास्पेल आफ बुद्धिज्म,पृ० १७८

(१९) गांधी जी : हिन्दू धर्म , पृ०६२

(२०) गांधी जी : 'आत्मकथा , पृ०२३७

(२१) एंड्रयूज, सी०एफ० : महात्मा गांधीज आइडियाज,पृ० २३२

(२२) गांधी जी का कोलंडरार को लिखा पत्र, ता० २०-९-३५

(२३) गांधी जी : आत्मकथा, भाग ४, अ०८, पृ०२६०

(२४) दि वर्क्स ऑफ रस्किन, भाग ३८, पृ०५४८-४९

(२५) विलेन्स्की : जॉन रस्किन, पृ०२९५-९८

(२६) यंग इंडिया, भाग १, पृ०६५२

(२७) आत्मकथा, भाग ४, अ०१,पृ०७४-७५
और फरक्युहर, जे०एन : मॉडर्न रिलिजस मूवमेण्ट्स, पृ०३२७-२८

(२८) ता० ३१-१२-३४ के एक निजी पत्र से लिया है तथा गांधी जी : मेरा धर्म
पृ०७१

(२९) " Love is the aspiration for communion and solidarity with other souls and that aspiration always liberates the sources of noble activities. That love is the Supreme and unique law of human life, which every one feels in the depth of one's soul."

लाव टालस्टायज़ लेटर्स टू महात्मा गांधी,७सितम्बर१९१०

(३०) Tolstoy says," The heroine of my writings, she whom I love with all the forces of being,she who always was,is and will be beautiful, is truth."
देसाई,एम० : एन आरटिकल इन यंग इंडिया वाल्यूम ३,पृ०८३०

(३१) नाग, डा० कालिदास : गांधी एण्ड टाल्सटाय, पृ०१८

(३२) धवन, गोपीनाथ : दि पोलिटिकल फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी,पृ०३१

(३३) यंग इंडिया, २२-१२-१९२७

(३४) एण्ड्रूज़ : महात्मा गांधीज़ आइडियाज़, पृ०९३

(३५) प्रभु, आर०के० : दिस वाज़ बापू, पृ०२९
तथा गांधी जी : मेरा धर्म, पृ०२९

(३६) गांधी, महात्मा : क्रिश्चियन मिशन, पृ०४१

(३७) वही, पृ० ४३

(३८) " I,therefore, do not take as literally true the next that Jesus is the only begotten son of God. God cannot be the exclusive Father and I cannot describe exclusive divinity to Jesus. He is as divine as Krishna or Rama or Mohammad or Zoroaster."

वही, पृ० ४४-४२

(३९) आत्मकथा, १९५९, पृ०९८-९९
तथा गांधी, एम०के० : क्रिश्चियन मिशन, पृ०४३

(४०) यंग इंडिया, हिन्दी नवजीवन, ३०-९-१९२७

(४१) यंग इंडिया, २०-१-२७, पृ०२१
तथा मेरा धर्म, पृ०३२

(४२) कुरान, ५।३८

(४३) " Islam means in its way denial of self,annihilation of self. This is yet the highest wisdon revealed to our earth."

देसाई, एम० : दि गीता एकॉर्डिंग टू गांधी, पृ०६५

(४४) The Quran says, "Whosoever Surrendereth his purpose to Allah while doing good, he verily hath grasped the firm hand hold."

कुरान, पृ०२९-३२

(४५) प्रार्थना प्रवचन, भाग १, पृ० २४६

(४६) पुना, २३-६-१९३४

* * * * * *

द्वितीय अध्याय

-0-

धर्म - दर्शन

(१) धर्म-दर्शन क्या है ?

(२) धर्म-दर्शन का इतिहास

(३) धर्म-दर्शन और ईश्वर-शास्त्र

(४) धर्म और दर्शन

-0-

द्वितीय अध्याय

-o-

धर्म- दर्शन

(१) धर्म-दर्शन क्या है ?

साधारणतया धर्म का अर्थ हिन्दू,इस्लाम,जोरोस्ट्रियन,बौद्ध आदि ऐतिहासिक धर्मों से समझा जाता है. धर्म-दर्शन इन धर्मों का ऐतिहासिक विवेचन मात्र नहीं है,बल्कि धार्मिक तथ्यों का दार्शनिक विश्लेषण भी है. सभी ऐतिहासिक धर्मों के कुछ-न-कुछ आधार होते हैं, उनकी मान्यतायें होती है. धर्म-दर्शन ऐतिहासिक धर्मों के व्यवहारों तथा आधारों का मूल्यांकन करता है. धर्म -दर्शन में धर्म से संबंधित विभिन्न तथ्यों के संकलन द्वारा धर्मों का मूल्यांकन होता है. धार्मिक तथ्यों के विश्लेषण से सामान्य सिद्धान्तों की खोज करना धर्म-दर्शन का मुख्य उद्देश्य है. धर्म-दर्शन का उद्भव पश्चिम में हुआ. पश्चिम में धर्म और दर्शन दो पृथक् शास्त्र माने गये हैं. किन्तु भारतवर्ष में धर्म और दर्शन एक-दूसरे से पृथक् नहीं माने गये हैं. भारतीय दर्शन को हम धर्म-दर्शन या मात्र दर्शन कह सकते हैं. भारत में धर्मशास्त्र पाया जाता है जो सतही रूप से धर्म-दर्शन का ही समकक्ष मालूम पड़ता है. परन्तु गहराई से देखने पर धर्म-दर्शन तथा धर्मशास्त्र में अन्तर है।भारतीय अर्थ में धर्मशास्त्र मानव का नैतिक क्रिया -कलापों का विवेचन है. पश्चिमी अर्थ में धर्म-दर्शन सैद्धान्तिक पहलुओं पर अधिक बल देता है. धर्म-दर्शन को समझने के लिए पश्चिमी विचारकों की परिभाषायें उद्धृत की जाती हैं.

प्रो० ब्राइटमैन ने धर्म-दर्शन की परिभाषा इन शब्दों में दी है --" धर्म-दर्शन धर्म की बौद्धिक व्याख्या की खोज का एक प्रयास है. यह धर्म का सम्बन्ध अन्य अनुभूतियों से बतलाकर धार्मिक विश्वासों की सत्यता, धार्मिक मनोवृत्तियों एवं आधारों का मूल्य स्पष्ट करता है[१]।"

प्रो० राइट ने धर्म-दर्शन को इस प्रकार परिभाषित किया है -- "धर्म-दर्शन धर्म का सत्यता तथा धर्म के व्यवहारों एवं विश्वासों की मूल विशेषताओं का सम्पूर्ण जगत् की दृष्टि से विवेचन करता है तथा धर्म का संबंध तत्व से निश्चित करता है."[2] प्रो० निकालसन के शब्दों में -- "धर्म-दर्शन का उद्देश्य धार्मिक विश्वासों का अन्य मौलिक विश्वासों के साथ, जो मानव जीवन को संचालित करते हैं, संयोजन स्थापित करना है."[3] प्रो० डॉ० एम० एडवर्ड ने धर्म-दर्शन की परिभाषा इन शब्दों में दी है -- "धर्म-दर्शन धार्मिक अनुभूति के स्वरूप, व्यापार, मूल्य तथा सत्यता की दार्शनिक खोज है."[4] ईश्वर के सम्बन्ध में किसी व्यक्ति विशेष की जो अनुभूति होती है उसे धार्मिक अनुभूति कहा जाता है.

धर्म-दर्शन का मुख्य विषय ईश्वर-विचार है. धर्म-दर्शन ईश्वर-विचार पर केन्द्रित है. धर्म-दर्शन में ईश्वर-विचार के अतिरिक्त अन्य प्रश्नों पर विचार होता है. धर्म-दर्शन में इन प्रश्नों पर विचार किया जाता है कि ईश्वर क्या है ? ईश्वर के अस्तित्व के क्या प्रमाण हैं ? ईश्वर के क्या गुण हैं ? ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है या व्यक्तित्वशून्य है ? मनुष्य और ईश्वर में क्या संबंध है ? अशुभ का स्वरूप क्या है ? अशुभ की समस्या का समाधान किस प्रकार संभव है? सृष्टि की समस्या क्या है? मनुष्य अमर है या मरणशील ? चेतना के कौन-कौन से तत्व हैं? आदिआदि.

उक्त विवेचन से प्रमाणित होता है कि धर्म का स्वरूप, क्रिया और मूल्य, एक आदर्श धर्म की विशेषतायें, मानवीय आत्मा की समस्यायें, ईश्वर के अस्तित्व के प्रमाण, ईश्वर के गुण, अशुभ का स्वरूप, सृष्टि की रचना, मूल्य की विशेषताएं, धार्मिक चेतना के तत्व आदि धर्म-दर्शन के प्रमुख विषय हैं.

धर्म-दर्शन का विषय अत्यधिक व्यापक है. सभी प्रकार के धर्म, उनके विश्वास तथा मान्यताएं धर्म-दर्शन में सम्मिलित हैं तथा सभी प्रकार की धार्मिक अनुभूतियां तथा आचरण भी धर्म-दर्शन के विषय हैं.

धर्म-दर्शन अपने विषय की निष्पक्ष व्याख्या प्रस्तुत करता है. वह किसी विशेष धर्म का पक्षपात नहीं करता, बल्कि धार्मिक अनुभूतियों का पक्षपात रहित अध्ययन प्रस्तुत करता है.

(२) धर्म दर्शन का इतिहास

धर्म दर्शन का इतिहास १७५५ई० में प्रारम्भ होता है जब ह्यूम की पुस्तक दि नेचुरल हिस्ट्री आफ रिलीजन का प्रकाशन हुआ, ह्यूम की मृत्यु के बाद उनकी पुस्तक जो धर्म-दर्शन की दृष्टि से अनमोल कहा जाता है, सन् १७६६ई० में प्रकाशित हुई जो डायलौगस कनसर्निंग नेचुरल रिलीजन के नाम से विख्यात है, इन दोनों पुस्तकों में धार्मिक विश्वासों की आलोचनात्मक व्याख्या हुई है, प्रसिद्ध दार्शनिक काण्ट का योगदान धर्म-दर्शन में कम नहीं कहा जा सकता, धर्म-दर्शन को कांट की मुख्य देन उनका यह आग्रह है कि ईश्वर को तर्क से सिद्ध नहीं किया जा सकता, ईश्वर को सिद्ध करने के लिए दिए गए तर्क दोषपूर्ण हैं, उनका प्रसिद्ध पुस्तक क्रिटीक आव प्योर रीजन जिसका प्रकाशन १७८८ई० में हुआ, इसमें कांट ने बताया कि ईश्वर,जीव और जगत् तीनों तत्वों को केवल श्रद्धा के कारण स्थापित किया गया है, उन्होंने आत्मा की अमरता और ईश्वर की आवश्यकता को नैतिक जीवन के लिए अनिवार्य माना है, कांट का धर्म-दर्शन संबंधी विचार उनकी पुस्तक रिलीजन विदिन दि लिमिट्स आव रीज़न एलोन में संगृहीत है, इस पुस्तक का प्रकाशन सन १७९३ई० में हुआ, धर्म-दर्शन को लोकप्रिय बनाने का श्रेय हेगल के लेक्चर्स आन दि फिलासफी आव रिलीजन को है, जो उनकी मृत्यु के पश्चात् सन् १८३२ में पुस्तक के रूप में प्रकाशित हुई, इस पुस्तक में हेगल ने धर्म-दर्शन के विभिन्न सिद्धांतों का निरूपण किया है,

धर्म-दर्शन के अनेक विद्वानों पर हेगल का प्रभाव मिलता है, ऐसे दार्शनिकों में एडवर्ड, जान केयर्ड, ए० एस० प्रींगल पेटीसन, ब्रेडले, बासांकेत इत्यादि मुख्य हैं,

शेलिंग का योगदान धर्म-दर्शन के क्षेत्र में अनूठा कहा जा सकता है, उनकी पुस्तक लेक्चर्स आन मिथालाजी एंड रेवीलेशन जिसका प्रकाशन १८४३ ई० में हुआ, उक्त कथन की साक्षी कही जा सकती है,

जर्मन दार्शनिक लौटजे ने अपनी दो कृतियों से धर्म-दर्शन की अनमोल सेवा की है, वे दो कृतियां हैं-- माइक्रोकोसमस तथा फिलासफी आव रिलीजन जिनका प्रकाशन क्रमशः १८५८ई० तथा १८८२ई० में माना जाता है, धर्म -

दर्शन के अनेक विद्वानों ने जिनमें अमेरिका तथा ब्रिटेन के विद्वान् आते हैं लाटजे के प्रति आभार व्यक्त किया है. बीसवीं शताब्दी में अनेक विद्वानों ने धर्म-दर्शन में अमूल्य योगदान दे कर धर्म-दर्शन के विकास में सहायता प्रदान की है. एच० हैफडिंग ने १९०१ ई० में अपनी पुस्तक फिलासफी आव रिलीजन का प्रकाशन किया जो अत्यन्त ही लोकप्रिय प्रमाणित हुई. इस पुस्तक का अनुवाद विभिन्न भाषाओं में हुआ है. एच० हैफडिंग ने धर्म को फेथ इन दि कनवरसेशन आव वेल्युज़ कहकर परिभाषित किया. उनकी यह परिभाषा धर्म का क्षेत्र विस्तृत बनाने में सफल सिद्ध हुई. इस परिभाषा को मान्यता मिलने के फलस्वरूप अनीश्वरवादी धर्मों को भी धर्म की कोटि में रखा जाने लगा. धर्म के लिए ईश्वर में विश्वास करना आवश्यक नहीं समझा जाने लगा.

रायस की पुस्तक दि वर्ल्ड एंड दि इनडिवीजुवल में जिसका प्रकाशन १९२४ई० में हुआ धर्म की व्याख्या निरपेक्ष प्रत्ययवाद (एबसाल्युट आइडियलिज़्म) की दृष्टि से की गई है.

धर्म-दर्शन की प्रगति में विलियम जेम्स का महत्त्वपूर्ण स्थान है. उनकी पुस्तक दि वेराइटीज़ आव रिलीजस एक्सपीरियन्स में धार्मिक अनुभूतियों का विवेचन हुआ है. यद्यपि यह पुस्तक मूलत: मनोवैज्ञानिक है, फिर भी धर्म-दर्शन से संबंधित विभिन्न विषयों की चर्चा करने का यहाँ प्रयास किया गया है. रहस्यवाद तथा रहस्यात्मक अनुभूति, धर्म-परिवर्तन, सिद्धजनत्व, प्रार्थना का स्वरूप आदि विषयों की विवेचना मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से की गई है. विलियम जेम्स के अनुसार धर्म वातावरण के प्रति मानव की प्रतिक्रिया है. धर्म का उद्देश्य उन्होंने व्यावहारिक कहा है. धर्म का अर्थ ईश्वर में विश्वास है. अत: उन्होंने विश्वास को धर्म का मानसिक आधार बतलाया है.

जे० एम० ई० मैकटेगार्ट का देन धर्म-दर्शन में प्रधान कहा जा सकता है. उनकी पुस्तक डोगमाज़ ऑव रिलीजन में धार्मिक विचारों की समालोचना है. उन्होंने इस पुस्तक के द्वारा ईश्वर के व्यक्तित्व का खण्डन किया तथा अमरत्व की भावना में विश्वास प्रकट किया है. इस पुस्तक का प्रकाशन १९०६ई० में हुआ है. सन् १९१२ई० में धर्म-दर्शन के इतिहास में मुख्य वर्ष कहा जा सकता है. उक्त वर्ष

हाकिंग की पुस्तक दि मानिंग ऑव गॉड इन ह्यूमन एक्सपारियन्स तथा दुर्खेयम की पुस्तक दि एलीमेण्टरी फार्म्स ऑव रिलीजस लाइफ का प्रकाशन हुआ. इन पुस्तकों में धार्मिक विश्वासों एवं व्यवहारों की विवेचना सामाजिक दृष्टिकोण से की गई है. सन् १९१७ में ऑटो की पुस्तक दि आइडिया ऑव दि होली का प्रकाशन हुआ. उस पुस्तक के द्वारा धर्म की व्याख्या एक विशेष प्रकार की अनुभूति से की गई जिसे ऑटो ने न्यूमिनस कहा है. ऑटो ने धार्मिक चेतना के लिए नॉनरेशनल तत्व को एकमात्र आधार माना है, क्योंकि न्यूमिनस का ज्ञान बुद्धि से पूर्णतः असंभव है. सन् १९२० में एस० अलेक्जेण्डर की प्रसिद्ध पुस्तक स्पेस,टाइम एंड डिटी का प्रकाशन हुआ. इस पुस्तक में ईश्वर एवं धर्म के सम्बन्ध में एक गत्यात्मक विचार को रखा गया है.

ए० एन० ह्वाइटहेड ने अपनी पुस्तक प्रोसेस एंड रियलिटी के द्वारा ईश्वर की व्याख्या सम-सामयिक विज्ञान एवं दर्शन के विकास की दृष्टि से करने का प्रयास किया है. इस पुस्तक का प्रकाशन १९२९० में हुआ है.

एफ० आर० टेनन्टस ने अपनी पुस्तक फिलॉसोफिकल थियोलॉजी जिसका प्रकाशन १९३० में हुआ, उसके द्वारा धर्म-दर्शन के साहित्य को समृद्ध किया है. फ्रेंच दार्शनिक बर्गसां ने अपनी पुस्तक दि टू सोर्सेज ऑव रिलीजन एंड मोरेलिटी के द्वारा धर्म दर्शन की सराहनीय सेवा की है. इस पुस्तक के प्रकाशन का काल सन्१९३२ माना जाता है. इस पुस्तक में बुद्धि आत्मानुभूति के संबंध की चर्चा पूर्ण रूपेण की गई है. इस पुस्तक में बर्गसां के नीति और धर्म संबंधी विचारों का भी उल्लेख है । नैतिकता उनके मतानुसार दो प्रकार की मानी गई है-- स्थिर नैतिकता तथा अस्थिर नैतिकता. नैतिकता की तरह धर्म भी दो तरह के माने गये हैं, जिन्हें बर्गसां ने स्थिर धर्म तथा अस्थिर धर्म कहा है. स्थिर धर्म स्थिर नैतिकता तथा अस्थिर धर्म अस्थिर नैतिकता की उपज है.

जॉन डिवे ने सन् १९३४ में ए कामनफेथ नामक पुस्तक लिखकर धर्म के परम्परागत विचारों की समालोचना की है, जिसके फलस्वरूप अनेक प्रकार के वादविवाद विकसित हुए हैं. इस प्रकार उनकी पुस्तक धर्म-दर्शन के योगदान में सहायक

हुई है, साम्यवादी एवं समाजवादी विचारकों ने धर्म के विरुद्ध आवाज उठाकर धर्म दर्शन को बल प्रदान किया है, उनके आक्षेपों के फलस्वरूप ही धर्म-दर्शन का साहित्य समृद्ध हो पाया है.

(३) धर्मदर्शन और ईश्वरशास्त्र

थियोलाजी शब्द का निर्माण थियोस और लागस नामक दो शब्दों से हुआ है, थियोस का अर्थ ईश्वर तथा लागस का अर्थ शास्त्र होता है, इसलिए थियोलाजी का अर्थ ईश्वरशास्त्र अथवा ईश्वरविद्या है, ईश्वरशास्त्र ईश्वर-विषयक प्रश्नों का समाधान करता है, अरस्तू के प्राथमिक दर्शनशास्त्र का अन्त ईश्वर विचार में होता है, प्लेटो के परम शुभ का विचार ईश्वर का संकेत करता है, प्लेटो एवं अरस्तू के अतिरिक्त अन्य विचारकों ने ईश्वर शास्त्र को अपनाया है, ऐसे विचारकों में स्पीक्यूरस, लाक, बर्कले, ह्यूम, लाइबनिज, कांट, रायस, हाकिंग, ह्वाइटहेड आदि प्रमुख हैं.

ऐतिहासिक रूप से ईश्वरशास्त्र को दो वर्गों में बांटा जाता है, जिन्हें प्राकृतिक ईश्वरशास्त्र (नेचुरल थियोलाजी) तथा प्रकाशित ईश्वरशास्त्र (रिवील्ड थियोलाजी) कहा गया है, प्राकृतिक ईश्वरशास्त्र ईश्वर का बौद्धिक या दार्शनिक विवेचन करता है, प्रकाशित ईश्वरशास्त्र भिन्न-भिन्न धर्मों के ईश्वर विचार की समष्टि मात्र को कहा जाता है, कुछ विचारकों ने प्रकाशित ईश्वरशास्त्र में अन्धविश्वास का पुट पाया है, जितने हो धर्म हैं, उतने ही प्रकाशित ईश्वरशास्त्र इस्लाम, ईसाई, पारसी, हिन्दू आदि धर्मों के प्राकृतिक ईश्वरशास्त्र पृथक्-पृथक् हैं, प्रकाशित ईश्वरशास्त्र को हठवादी ईश्वरशास्त्र (डागमेटिक थियोलाजी) भी कहा जाता है, जब कि प्राकृतिक ईश्वरशास्त्र को धार्मिक दर्शन कहा जाता है.

इस प्रकार जहां धर्म-दर्शन का क्षेत्र विशाल और गहन है वहां ईश्वरशास्त्र का क्षेत्र काफी संकीर्ण और संकुचित है, धर्म दर्शन के अन्दर सभी प्रकार को धार्मिक समस्यायें, धार्मिक अनुभूतियां आ जाती हैं, ईश्वर के अतिरिक्त अशुभ, अमरता आदि समस्याओं का समाधान धर्म-दर्शन में होता है, इसके विपरीत ईश्वरशास्त्र किसी विशेष धर्म या उससे सम्बन्धित किसी समस्या का समाधान करता है, ईश्वरशास्त्र का ईश्वर किसी विशेष सम्प्रदाय तक सीमित होता है, अतः यह सिद्ध होता है कि

— —

धर्म दर्शन का क्षेत्र ईश्वरशास्त्र के क्षेत्र से अधिक व्यापक है.

धर्म-दर्शन अपनी विषयवस्तु की व्याख्या कर उसकी आलोचना प्रस्तुत करता है, उसका अर्थ स्पष्ट करता है और उसका मूल्य निर्धारित करता है. ईश्वरशास्त्र द्वारा और अपने धर्म में कही गई बात पर विश्वास कर लेता है.

उक्त विवेचन से प्रमाणित होता है कि धर्म-दर्शन का आधार बुद्धि है, जब कि ईश्वरशास्त्र का आधार विश्वास है. ईश्वरशास्त्र अपने धर्म का पक्षपातपूर्ण अध्ययन प्रस्तुत करता है. ईश्वरशास्त्री अपने को किसी-न-किसी धर्म से सम्बद्ध पाता है तथा वह उसी धर्म के अध्ययन से सन्तुष्ट रहता है. धर्म-दर्शन इसके विपरीत सभी धर्मों अथवा अनेक धर्मों में समाविष्ट सामान्य सिद्धांतों की खोज करता है. धर्म-दर्शन अपनी विषयवस्तु की निष्पक्ष व्याख्या प्रस्तुत करता है. यह किसी विशेष धर्म का पक्षपात नहीं करता है अतः धर्म-दर्शन और ईश्वर शास्त्र में अन्तर है.

लेकिन यह नहीं समझना चाहिए कि धर्म-दर्शन और ईश्वर शास्त्र में विरोध है. यह ठीक है कि धर्म-दर्शन बुद्धि पर आधारित है और ईश्वर-शास्त्र विश्वास पर, फिर भी दोनों को एक-दूसरे का विरोधी मानना भ्रामक है. इसका कारण यह है कि बुद्धि और विश्वास विरोधात्मक प्रवृत्तियां नहीं हैं. बुद्धि में विश्वास का पुट है और विश्वास भी किसी-न-किसी रूप में बौद्धिक है. धर्म-दर्शन और ईश्वर शास्त्र में परिमाण का अन्तर है. धर्म-दर्शन में बौद्धिकता अधिक है, जब कि ईश्वर-शास्त्र में बौद्धिकता कम है.

धर्म-दर्शन और ईश्वरशास्त्र में घनिष्ठ सम्बन्ध है. धर्म दर्शन एक वृक्ष है तथा ईश्वर-शास्त्र उसकी एक शाखा है. जिस प्रकार शाखा वृक्ष पर आधारित है, उसी प्रकार ईश्वर-शास्त्र अपनी पूर्णता के लिए धर्म दर्शन पर आश्रित है.

(४) धर्म और दर्शन

दर्शन शास्त्र तत्व की बौद्धिक व्याख्या करता है. यह सम्पूर्ण जगत का स्वरूप तथा मनुष्य का इससे सम्बन्ध इन प्रश्नों का समाधान

सोचता है, किन्तु धर्म की आधार-शिला विश्वास पर है. सभी धर्मों को कुछ विश्वास है, जिसे सबको मानना पड़ता है, जैसे कोई मानवेतर शक्ति है जो मनुष्य की शक्तियों का संचालन करती है. इस मानवेतर शक्ति को कोई भगवान, कोई अपूर्व शक्ति आदि नाम से पुकारते हैं. इस शक्ति के प्रति हमारे हृदय में भक्ति भावना उत्पन्न होती है. हम इसे पूजते हैं. अतः भक्ति भावना ही धर्म का सर्वस्व है. सभी धर्मावलम्बियों को अपने-अपने धर्म में अटल विश्वास होता है. कुछ लोगों का कहना है कि इस अटल विश्वास का जन्म भय से होता है, इस तरह संसार में धर्म का इतिहास ही भय से आरम्भ होता है. परन्तु बाद में धर्म ने दर्शन का स्थान ले लिया. धार्मिक विश्व के उद्भव, पराभव, विकास की बात सोचने लगे. परन्तु इनकी व्याख्या के लिए उन्हें ईश्वर को सत्ता स्वीकारना पड़ा. प्राचीनकाल में देवता अनेक थे, प्रकृति की सभी शक्तियों के शक्तिमान स्वरूप अलग-अलग देवता माने गये. परन्तु ज्यों-ज्यों मनुष्य की तार्किक शक्ति बढ़ती गई त्यों-त्यों मनुष्य अनेकत्व से एकत्व की ओर बढ़ता गया. बौद्धिक दृष्टि से तत्व एक ही होना चाहिए, अनेक तत्वों की संतोषजनक व्याख्या नहीं हो सकती. इस तरह लोगों ने सभी शक्तियों के नियामक ईश्वर की कल्पना की. यहाँ धर्म दर्शन का रूप ले लेता है. धार्मिक दार्शनिक के रूप में सृष्टि तथा स्रष्टा में कार्य-कारण सम्बन्ध स्थापित करता है. वह ईश्वर को विश्व का निमित्त तथा उपादान कारण मानता है. इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन का आधार धर्म या विश्वास है. 'दर्शन धार्मिक भावना की बौद्धिक परिणति है. परन्तु इसके विपरीत दर्शन से भी धर्म का उदय होता है. भारतवर्ष में प्रत्येक धर्म का एक समुदाय है. इस समुदाय का आधार दर्शन ही है. जब बौद्धिक रूप से किसी मत का प्रतिपादन कर दिया जाता है तो वह सिद्धांत बन जाता है. इस सिद्धांत के मानने वालों की एक शाखा, समुदाय या परम्परा कायम हो जाती. इस प्रकार दर्शन तथा धर्म दोनों में अन्योन्याश्रित सम्बन्ध मालूम होता है.

धर्म और दर्शन में अनेक बातों में हम समानता पाते हैं. धर्म और दर्शन दोनों का विषय सम्पूर्ण विश्व है. दर्शन मनुष्य की अनुभूतियों की युक्तिपूर्ण व्याख्या कर सम्पूर्ण विश्व के आधारभूत सिद्धांतों की खोज करता है.

धर्म भी आध्यात्मिक मूल्यों के द्वारा सम्पूर्ण विश्व की व्याख्या करने का प्रयत्न करता है. धर्म और दर्शन दोनों ही मानवीय ज्ञान की यथार्थता में पूर्ण विश्वास करते हैं।

धर्म और दर्शन के सम्बन्ध को लेकर भारतीय तथा पाश्चात्य दर्शन में काफी भेद है. ग्रीक दर्शन में भी दर्शन तथा धर्म के विरोध की चर्चा की गई है. जेनोफेन्स ने धर्म के विरोध में कहा है कि यदि बैल, घोड़ों तथा शेरों के हाथ रहते एवं उनमें चित्रित करने की शक्ति होती तो वे सब ईश्वर की प्रतिमा को बैल, घोड़ा या शेर की तरह ही चित्रित करते. इस तरह जेनोफेन्स ने धार्मिक विश्वास पर गहरा आघात किया है. मध्ययुग में पश्चिम में कुछ धर्मज्ञाता पैदा हुए, उन लोगों ने धर्म को ही अधिक महत्व दिया तथा दर्शन को गौण स्थान दिया. आधुनिक पश्चिम दर्शन के प्रवर्तकों ने दर्शन को धर्म के हाथों से छुटकारा दिलाया और दर्शन को प्रथम स्थान दिया है. भारतीय दर्शन के प्रवर्तकों के लिए धर्म और दर्शन एक ही सिक्के के दो रूप हैं. दर्शन बिना धर्म के केवल मानसिक व्यवसाय रह जाता है. दुःख की निवृत्ति की खोज से ही धर्म उत्पन्न होते हैं और दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति का एकमात्र उपाय यही दर्शन है. इस प्रकार धर्म की पराकाष्ठा ही दर्शन है.

सभी धर्म इस बात में विश्वास करते हैं कि कोई ऐसी शक्ति है जो मानव से परे है, जो ईश्वर के नाम से जाना जाता है. मानव से परे कोई उच्च शक्ति मानना इस बात का द्योतक है कि मानव कमज़ोर तथा विनम्र है. तत्वशास्त्र की भाषा में ईश्वर को चरमसत्ता कहते हैं. जब हमें अपनी कमजोरी एवं विनम्रता का भान होता है तो पूजा पाठ तथा प्रार्थना करने लगते हैं. यह ईश्वर प्रेम मानव को ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करता है. इस अवस्था में मनुष्य को रहस्यात्मक अनुभूति तथा ईश्वर का तादात्म्य बोध होता है.

इस तरह चरमसत्ता का भावनात्मक या रागात्मक ज्ञान ही धर्म है. यह बौद्धिक जिज्ञासा या ज्ञान से सर्वथा भिन्न है. धर्म तथा दर्शन दोनों का लक्ष्य एक ही है-- वह है चरमसत्ता का ज्ञान. धर्म रागात्मक तादात्म्य स्थापित करता है तथा दर्शन बौद्धिक विश्लेषण करता है. दोनों मानव को गौण स्थान

देते हैं. दोनों एक उच्चतर शक्ति या सत्ता में विश्वास करते हैं. उनका भेद सिर्फ एक ही स्थल पर है, धार्मिक व्यक्ति भावना और अन्तर अनुभूति पर बल देता है. दार्शनिक परमसत्ता की महत्ता बुद्धि द्वारा समझना चाहता है. धर्म तथा दर्शन विश्व तथा परमसत्ता को समझने के दो माध्यम हैं. ईश्वर और परमसत्ता एक ही सत्ता के दो पहलू हैं. लोग दार्शनिकों से धर्म, सदाचार का स्वरूप पूछते हैं, वे जानना चाहते हैं कि सत्कर्म क्या है, धार्मिक आचरण के पक्ष में क्या हेतु है-- दर्शन इन सभी प्रश्नों का उत्तर देता है.

प्रश्न उठाया गया है कि हिन्दू धर्म कैसे दर्शन और धर्म को विरोधी नहीं मानता, स्पष्ट रूप से विश्वास और बुद्धि साथ-साथ नहीं चल सकते. बुद्धि संदेह करती है. यहां भारतीय धर्म के सम्बन्ध में कहा जाता है कि वह बुद्धि व विश्वास को एक-दूसरे का साथी मानता है न कि विरोधी.

दर्शन की पद्धति बौद्धिक है इससे मनुष्य की बौद्धिक जिज्ञासा की तुष्टि होती है. दर्शन सैद्धान्तिक पद्धति को अपनाता है, जिसमें बुद्धि तथा अनुमान की प्रधानता है. इसके विपरीत धर्म मनुष्य के सम्पूर्ण व्यक्तित्व की तुष्टि करता है. धर्म का उद्देश्य व्यावहारिक है. यह जीवन की समस्याओं को सुलझाने में सक्षम होता है, जब कि दर्शन विश्व का सैद्धान्तिक विवेचन प्रस्तुत करता है. इस प्रकार हम देखते हैं कि दर्शन में बुद्धि की महत्ता है, जब कि धर्म में बुद्धि, भावना तथा क्रिया अर्थात् धार्मिक चेतना के सभी तत्वों की महत्ता है.

डा० राधाकृष्णन् ने धर्म और दर्शन के बीच भेद दिखाया है. उनके अनुसार दर्शन तर्क के द्वारा पूर्णता की समस्या का उत्तर देता है, जब कि धर्म विश्वास के द्वारा उसका उत्तर देता है. इसी प्रकार दर्शन का अंत सत्य है और धर्म का लक्ष्य आत्मा को मुक्ति दिलाना है.

बर्गसाँ, राधाकृष्णन्, श्री अरविन्द, शंकराचार्य तथा बुद्ध ने बताया है कि बुद्धि का कार्य सीमित है. कांट ने भी बुद्धि को सीमित माना है. अन्त में मानव ज्ञान की पूर्णता तथा परमसत्ता को समझने के लिए अन्तर अनुभूति को ही श्रेष्ठ माना जाता है और इस तरह बुद्धि का स्थान गौण तथा अनुभूति का

स्थान श्रेष्ठ होता है, दर्शन शास्त्र बौद्धिक विवेचन करता है जो कि सीमित है और अन्त में अनुभव का आश्रय लेना पड़ता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में धर्म और दर्शन को विलग नहीं किया गया है.

-0-

सन्दर्भ

(१) " Philosophy of religion is an attempt to discover by rational interpretation of religion and its relations to other types of experience, the truth of religion beliefs and the value of religious attitudes and practices."

--ब्राइटमैन : ए फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, पृ० २२

(२) " Philosophy of religion considers the truth of Religion, what is the ultimate significance of its practices and beliefs in an interpretation of the world as a whole, or more technically, the relation of Religion to Reality."

--राइट, डब्लू०के० : ए स्टूडेन्ट्स फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, पृ० ४

(३) "Its purpose is to effect an integration of religous beliefs with those other fundamental beliefs that gives form and direction to man's life."

--निकोलसन, जे०ए० : फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, पृ० ६

(४) " It is a philosophical inquiry into the nature, function, value and truth of religious experience."

--एडवर्ड, डी०एम० : फिलॉसफी ऑफ रिलीजन, पृ० १२

(५) " Theologians are chiefly interested in the study of the particular religion to which they adhere and the beliefs connected with it (such as Christianity, Judiasm etc.) while the Philosophy of religion concerns itself impartially with the more general principles that apply to all or many religious."

राइट, डब्ल्यू०के० : ए स्टुडेंट्स फिलोसफी आफ रिलीजन, पृ०५

तृतीय अध्याय

-0-

धर्म का स्वरूप

(१) धर्म का स्वरूप

भारतीय विचारधारा

पश्चिमी विचारधारा

(२) धर्म की उत्पत्ति और विकास

मानव-शास्त्र की दृष्टि से धर्म की उत्पत्ति

मनोविज्ञान की दृष्टि से धर्म की उत्पत्ति

धार्मिक मूल प्रवृत्यात्मक सिद्धान्त

धार्मिक शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

भय का सिद्धान्त

(३) धर्म की परिभाषाएं

(४) गांधी का धर्म

(५) धार्मिक मनुष्य का स्वरूप

(६) बुद्धि और श्रद्धा

(७) नैतिक धर्म

(८) धार्मिक अनुभूति

-0-

तृतीय अध्याय

-0-

धर्म का स्वरूप

(१) धर्म का स्वरूप

पुरानी मान्यताओं को तोड़कर जो नये आचार-विचार बनते हैं, ये जीवन के साथ जुड़ते हैं और धर्म बन जाते हैं. धर्म जीवन से अलग नहीं है. धर्म का आचार जीवन को समृद्ध, पुरुषार्थी, शुद्ध और प्रगतिशील बनाता है, उससे जीवन में व्यापकता आती है. जो मनुष्य को संकुचित, स्वार्थी और क्रूर बनाता है वह धर्म नहीं है. मानव-जीवन में धर्म ही मुख्य वस्तु है.

बच्चा बोध होने के साथ ही 'धर्म' शब्द को किसी-न-किसी रूप में सुनता है. धर्म साधारणतया किसी विशिष्ट सम्प्रदाय या रूढ़ि-गत और औचित्य का सूचक है. एक ओर धर्म का विवेक-सम्मत रूप मिलता है और दूसरा और रूढ़ि-जर्जर प्रचलित रूप. अपने विवेक-सम्मत रूप में वह विश्व-प्रेम, ऐक्य और देवत्व का सन्देश देता है और अपने प्रचलित रूप में अन्धविश्वासों एवं संकीर्ण रूढ़ि-रीति-जनित कर्मों का. कर्तव्य को पहचानना एवं उसका पालन करना धर्म कहा गया है. धर्म के विषय में कहा जाता है कि जिस प्रकार योगी को जो अपूर्व आनन्द समाधि में मिलता है, उसी तरह का अनुभव सत्पुरुष को उस क्षण होता है, जब वह धर्म में लगा रहता है. इस प्रकार धर्म की चर्चा बहुत की गई है, पर धर्म के विषय में तात्त्विक विचार करना धर्म के सम्बन्ध में दार्शनिक चिन्तन का द्योतक है.

कुछ लोग कहते हैं कि धर्म वह है जिसकी घोषणा वेदादि में की गई है. लेकिन इससे धर्म के स्वरूप का पता नहीं चलता. इसी प्रकार जो खान में मिलता है वह सोना है कहने से सोने के उद्गम का पता चलता है, उसके स्वरूप का नहीं. कणाद कहते हैं -- जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस् की सिद्धि हो वह धर्म है. परन्तु यह वाक्य भी धर्म का स्वरूप नहीं, वरन् उसका फल बताता है.

धर्म को मनोविज्ञान की भांति एक जटिल मानसिक क्रिया कहा गया है, क्योंकि मस्तिष्क का कोई एक अंग उसकी व्याख्या करने में असमर्थ है. धर्म के लिए तीन आवश्यक तत्वों का -- बुद्धि, भावना और क्रिया का रहना नितान्त आवश्यक है. डा० गैलोवे और मार्टिनो ने धर्म के इस स्वरूप का और ध्यान आकर्षित किया है. धर्म का सम्बन्ध मानव के आन्तरिक जीवन से है जिसमें हम उक्त तत्वों का समावेश पाते हैं. अर्थात् हम कह सकते हैं कि धर्म ईश्वर के प्रति व्यक्ति का सम्पूर्ण प्रक्रिया है. इसमें मानव ईश्वर के विषय में अपनी बुद्धि और विवेक की सहायता से खोज करता है, उसे अनुभव करता है तथा अपनी अनुभूतियों को बाह्य क्रियाओं की सहायता से व्यक्त करता है. यदि कोई यह कहता है कि धर्म के लिए केवल बुद्धि या भावना ही आवश्यक है तो इसका अर्थ यह है कि वह धर्म के किसी विशेष अंग को ही स्वीकार करता है. परन्तु ऐसा करना पूर्णतः अनुचित एवं असंगत कहा जायगा, क्योंकि धर्म में तीनों तत्वों को एक आवश्यक अंग के रूप में पाते हैं - एक का अभाव धर्म के लिए असम्भव है.

धर्म में बुद्धि का महत्वपूर्ण स्थान है, परन्तु धर्म एकमात्र बौद्धिक नहीं है. ईश्वर के प्रति हमारी जो अनुभूति होती है, बुद्धि उसकी व्याख्या नहीं कर सकती. धार्मिक व्यक्ति यह महसूस करता है कि ईश्वर हमारी सहायता कर सकता है. इस प्रकार मनुष्य ईश्वर के ऊपर निर्भरता का अनुभव करता है. धार्मिक व्यक्ति अनुचित कार्य करने में भय भी खाता है. इस प्रकार धर्म में भावना का भी बड़ा हाथ रहता है. धर्म में क्रिया को भी प्रधानता है. व्यक्ति अपनी बुद्धि की सहायता से ईश्वर के सम्बन्ध में ज्ञान प्राप्त करता है और उसे सर्वज्ञानी, सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् जानकर उसकी पूजा करता है. मनुष्य केवल ईश्वर के ज्ञान से ही सन्तोष नहीं प्राप्त कर लेता, बल्कि वह अपनी क्रियाओं का सहारा लेकर प्रेम व्यक्त करता है. इन क्रियाओं में वह अनेक विषयों जैसे फूल, धूप और दीप आदि की सहायता लेता है. धर्म में ईश्वर और उसके भक्त के बीच विभेद की रेखा खींची जाती है. जो उपास्य है वह उपासक नहीं हो सकता. फिर भी यह आवश्यक है कि उपासक तथा उपास्य में एक आवश्यक सम्बन्ध हो. जब तक ऐसा नहीं होता, धर्म का प्रादुर्भाव सम्भव नहीं है.

भारतीय विचारधारा

'धर्म' शब्द धृ धातु से बना है, जिसका अर्थ है, बनाये रखना अथवा धारण करना. यही वह मानदण्ड है, जो विश्व को धारण करता है. वेदों में इस शब्द का प्रयोग धार्मिक विधियों के अर्थ में किया है. छांदोग्य उपनिषद् में धर्म का तीन शाखाओं का उल्लेख किया गया है, जिनका सम्बन्ध गृहस्थ, तपस्वी, ब्रह्मचारी के कर्तव्यों से है.[1] जब तैत्तिरीय उपनिषद् हमारे धर्म का आचरण करने को कहता है, तब उसका अभिप्राय जीवन के उस सोपान के कर्तव्यों के पालन से होता है, जिसमें कि हम विद्यमान हैं.[2] इस अर्थ में धर्म शब्द का प्रयोग भगवद्गीता और मनुस्मृति दोनों में हुआ है. ऋग्वेद में भी धर्म शब्द का प्रयोग किया गया है. ऋग्वेद के समय परलोक की भी कल्पना नहीं थी. वह आर्यों का संघर्ष-काल था.[3] उस समय सारा ध्यान लौकिक सुख-समृद्धि पर ही केन्द्रित था. ईश्वर, पुण्य और परलोक की भावना ने धर्म शब्द का अर्थ पूरी तरह बदल दिया है. आज धर्म शब्द नहाने, माला जपने, चन्दन लगाने, तीर्थ दर्शन करने और कथा सुनने आदि कार्यों तक सीमित रह गया है. पहले धर्म का अर्थ था कर्तव्य, सामाजिक उन्नति के लिए निश्चित किए गए नियम, व्यक्तिगत विशेषता आदि. धर्म की परिभाषाओं का विवेचन किया जाय तो यह बात अधिक स्पष्ट हो जायगी. पूर्व मीमांसाकार ऋषि जैमिनी ने प्रेरित करने वाली क्रियाओं को धर्म कहा है. धर्म वे सामाजिक नियम हुए जो मनुष्य को प्रेरित करते हैं. इन्हीं नियमों के सहारे मनुष्य समाज की उन्नति सम्भव है. इसी सूत्र की व्याख्या करते हुए विश्वकोषकार ने लिखा है, जो बात कल्याण या भला करने वाली है, वही यहां धर्म शब्द से कही गई है. धर्म की परिभाषा महाभारत में अत्यन्त स्पष्ट और पूर्णरूप से दी गई है. धारण करने के कारण इसका नाम धर्म है, धर्म के द्वारा ही प्रजायें स्थिर हैं. इसलिए धारण करने वाले नियमों का नाम ही धर्म है.[4] समाज की स्थिति राम-राम जपने, तिलक लगाने में नहीं है. समाज की स्थिति तो उसके नियमों के कारण ही रहती है. इन नियमों को स्पष्ट करते हुए मनु ने लिखा है-- धैर्य, क्षमा, इन्द्रियों को वश में करना, चोरी न करना, पवित्र रखना, बुद्धि, विद्या, सत्यभाषण

एवं क्रोध न करना ये धर्म के लक्षण हैं, वैसे धर्म का यह लक्षण निर्दोष नहीं है, एक तो उसमें वर्णित दम और इन्द्रिय निग्रह शब्द पर्यायवाची हैं दूसरे धी और विद्या शब्द यह संकेत करते हैं कि इस धर्म का पालन सभी मनुष्य नहीं कर सकते हैं, पहले तो सब लोग विद्या ही नहीं सीख सकते, विद्या तो एक विशेषता है जो प्रयत्न करके प्राप्त की जा सकती है, पर क्या बुद्धि प्राप्त करना भी अपने हाथकी बात है ? बुद्धि तो स्वाभाविक होती है, शायद इसी कारण मनु ने धर्म का दूसरा लक्षण बताया, मनु ने संक्षेप में चारों वर्णों को धर्म अहिंसा, सत्य भाषण, क्रोध न करना और इन्द्रियों को वश में रखना बताया है, यह शब्द बहुत समय तक सभी की दृष्टि में आदरणीय रहा, एक बौद्ध के लिए धर्म बुद्ध और संघ, या समाज के साथ-साथ त्रिरत्न (तीनरत्न) में से एक है, वैशेषिक सूत्रों में धर्म की परिभाषा करते हुए कहा गया है कि जिससे आनंद (अभ्युदय) और परमानन्द (निःश्रेयस्) की प्राप्ति हो, वह धर्म है, अपने प्रयोजन के लिए हम धर्म की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि यह चारों वर्णों के और चारों आश्रमों के सदस्यों द्वारा जीवन के चार प्रयोजनों (धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष) के सम्बन्ध में पालन करने योग्य मनुष्य का समुचित कर्तव्य है, जहां सामाजिक व्यवस्था का सर्वोच्च लक्ष्य यह है कि मनुष्यों को आध्यात्मिक पूर्णता और पवित्रता की स्थिति तक पहुंचने के लिए प्रशिक्षण दिया जाये, वहीं इसका एक अत्यावश्यक लक्ष्य, इसके सांसारिक लक्ष्यों के कारण, इस प्रकार की सामाजिक दशाओं का विकास करना भी है, जिनमें जन समुदाय नैतिक, भौतिक और बौद्धिक जीवन के ऐसे स्तर तक पहुंच सके जो सब की भलाई और शांति के अनुकूल हो, क्योंकि ये दशायें प्रत्येक व्यक्ति को अपने जीवन और अपनी स्वतन्त्रता को अधिकाधिक वास्तविक बनाने में सहायता देती है.

धर्म का मूल सिद्धान्त है उस मानवीय आत्मा के गौरव को प्राप्त करना, जो भगवान का निवासस्थान है, सब धर्मों का सर्वस्वीकृत मूल सिद्धान्त यह ज्ञान ही है कि परमात्मा प्रत्येक जीवित प्राणी के हृदय में निवास करता है, हमें दूसरों के साथ अच्छा व्यवहार करना चाहिए, यही धर्म का सार है, शेष सारा बर्ताव तो स्वार्थपूर्ण इच्छाओं से प्रेरित होता है, हमें दूसरों को अपने जैसा ही समझना चाहिए, जो अपने मन, वचन और कर्म से निरन्तर दूसरों के

कल्याण में लगा रहता है और जो सदा दूसरों का मित्र रहता है, वही धर्म को ठीक-ठीक समझता है.

पाश्चिमी विचारधारा

धर्म शब्द अंग्रेजी के रिलीजन से कोसों दूर है, वैसे रिलीजन के लिए धर्म शब्द चल पड़ा है. लेकिन सत्य यह है कि हिन्दी का धर्म वास्तव में मोरैलिटी या एथिक्स का अनुवाद है. लेकिन हम धर्म को रिलीजन का समानार्थी मानकर उसकी व्याख्या करेंगे. रिलीजन शब्द री और लिगारे के संयोजन से बना है. जिसका अर्थ होता है फिर उस स्थिति से संयुक्त करना, जिससे वियोग हो गया हो.

धर्म का ध्यान करते ही हमारे मन में पैट्रिक के विचार उठ खड़े होते हैं. पैट्रिक के अनुसार धर्म का अर्थ मंदिर, पूजा, कथा, कीर्तन, सामूहिक आयोजन और कर्मकाण्ड आदि हैं. लेकिन फिर भी ये धर्म के बाहरी आडम्बर मात्र हैं, वास्तव में धर्म नहीं है. पैट्रिक का मत है कि धर्म अदृश्य शक्तियों पर जो हमारी भाग्य-विधाता है, आश्रित होने की भावना का नाम है, साथ ही इसमें यह इच्छा जुड़ी रहती है कि इन शक्तियों से हमारा अनुकूल सम्बन्ध स्थापित हो सके.

इस परिभाषा में ये लक्षण ध्यान देने योग्य हैं-- यह विश्वास होना कि हमसे बड़ी बहुत बड़ी कोई अदृश्य शक्ति है तथा यह कि यह शक्ति ही हमारे भाग्य की विधायिनी है. इन दो विशेषताओं के साथ ही एक तीसरी विशेषता विशेष रूप से महत्वपूर्ण है, यह भावना या अनुभूति कि यह शक्ति बड़ी शक्ति है, और हम सर्वथा इसके अधीन हैं, इसीलिए इसके साथ हमारा अनुकूल सम्बन्ध होना आवश्यक है. इस भावना के पीछे दो भावनाएं छिपी हैं -- एक तो इसकी अनन्त शक्ति और महत्ता के आगे अपनी तुच्छता या हीनता से उत्पन्न भय की भावना और दूसरे यह कि यह शक्ति मैत्रीपूर्ण और अनुकूल है, हमारा हित करने वाली है, इसलिए प्रेम की भावना है. इस भय मिश्रित प्रेम को श्रद्धा कहते हैं. संक्षेप में धर्म ईश्वर-प्रेम है. लेकिन कोई जरूरी नहीं कि धर्म का यह अर्थ सब को मान्य हो. धर्म में आत्मा, देवता और ईश्वर जैसे शब्दों को छोड़कर

कुछ विचारक आदर्शों, मूल्यों, आत्म-साक्षात्कार, जैसे शब्दों का प्रयोग करने लगे हैं. इतना ही नहीं, कुछ लोग मनुष्य-कल्याण और मानव-सेवा को ही परम धर्म मानने लगे हैं. इन सब के विपरीत समाज-शास्त्रीय विचारक धर्म को सामाजिक चेतना की अभिव्यक्ति मानते हैं. उनके अनुसार धर्म समाज की सामूहिक शक्ति, भावना, इच्छा और चेतना का प्रकट रूप है तथा समाज नियंत्रण का श्रेष्ठ साधन है. ईश्वर धर्म का केन्द्रबिन्दु है. ईश्वर के अभाव में धर्म का विकास सम्भव नहीं है.

(२) धर्म का उत्पत्ति और विकास

धर्म की उत्पत्ति को हम सर्वप्रथम मानव शास्त्र की दृष्टि से देखेंगे. जब हम मानव-शास्त्र की दृष्टि से धर्म की उत्पत्ति पर विचार करते हैं, तब स्वभावत: यह प्रश्न उठता है कि मानव-शास्त्र के पूर्व धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में कौन-कौन से सिद्धांत प्रचलित थे. मानव-शास्त्र के विकास के पूर्व धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में हमें दो सिद्धांत मिलते हैं-- प्रथम सिद्धान्त के अनुसार धर्म की उत्पत्ति का कारण दैवी प्रकाशन (डिवाइन रिविलेशन) माना जाता है. इस सिद्धांत के अनुसार ईश्वर ने विशेषरूप से अपना रूप मनुष्यों के बीच प्रकट किया है जो धर्म की उत्पत्ति का कारण बन गया है. इस विचार को ईसाई, इस्लाम तथा यहूदी ईश्वर-शास्त्र मानते हैं. इसकी आलोचना भी की गई है. धर्म की उत्पत्ति के संबंध में दूसरे सिद्धान्त के प्रवर्तक पश्चिम के केवल निमित्तेश्वरवादियों को माना जाता है. इस सिद्धान्त के समर्थकों में हर्बट जॉन टॉलेंड आदि के नाम उल्लेखनीय हैं. फ्रांस के कुछ विचारकों ने भी इस सिद्धांत को मान्यता प्रदान की है. इस सिद्धान्त में भी अनेक त्रुटियों की चर्चा की गई है.

मानव शास्त्र की दृष्टि से धर्म की उत्पत्ति

धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में सर्वप्रथम टायलर महोदय के जीववादी सिद्धांत (दि एनीमिस्टिक थियोरी) का नाम आता है. जीववाद का अर्थ है वह विश्वास जिसके आधार पर विश्व के सभी विषयों में जीव अर्थात्

आत्मा का निवास है, जिस प्रकार मानव में आत्मा व्याप्त है, उसी प्रकार विश्व मानव की तरह चेतनापूर्ण है. टायलर महोदय का कहना है कि धर्म की उत्पत्ति जीववादी विचार से हुई है. मनुष्य जीववाद में अपने और प्रकृति के विभिन्न जीवों के बीच सम्बन्ध स्थापित करने का प्रयत्न करता है. भयप्रद जीवों से बचने की कामना ही इस प्रकार की आराधना का एकमात्र प्रयोजन था. किन्तु जीववाद का यह सिद्धांत सन्तोषजनक नहीं माना गया है. जीववाद को धर्म की उत्पत्ति का श्रेय इसलिए भी नहीं दिया जा सकता कि इस सिद्धांत के पूर्व एक दूसरा सिद्धांत प्रचलित था, जिसमें मन, नामक अद्भुत व्यक्तित्वशून्य तथा निर्जीव पदार्थ मानव की आराधना का विषय था. जब धर्म का इतिहास पूर्व जीववादी सिद्धांत को मानता है तो वैसी स्थिति में जीववाद को धर्म की उत्पत्ति का कारण मानना अनुचित है.

धर्म की उत्पत्ति के सम्बन्ध में दूसरा सिद्धांत हर्बर्ट स्पेन्सर महोदय की देन है जो प्रेत सिद्धांत कहा जाता है. इस सिद्धान्त के अनुसार धर्म की उत्पत्ति का श्रेय पूर्वज-आराधना को दिया जाता है. आदिम मनुष्य अपने पूर्वजों को भूत-प्रेत के रूप में देखा करते थे, जिससे उसके मन में यह धारणा बंधी थी कि मृत्यु के बाद भी किसी-न-किसी रूप में उनका अस्तित्व रहता है. वे भय की भावना के फलस्वरूप पूर्वजों को प्रसन्न करने का प्रयास करते थे. यहां तक कि वे जीवों की बलि देने में भी किसी प्रकार का संकोच नहीं करते थे. आदिम मनुष्य के उपर्युक्त व्यवहारों के फलस्वरूप पूजा पद्धति तथा धार्मिक कर्म का विकास हुआ, जो धर्म की उत्पत्ति में सहायक सिद्ध हुआ.

धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या पूर्वज-आराधना को ठहराना अमान्य प्रतीत होता है. यहां धर्म की व्याख्या उपासना के आधार पर की गई है. आदिम मनुष्य में पूर्वजों को प्रसन्न करने के लिए बलिदान की प्रथा प्रचलित थी. परन्तु धर्म की व्याख्या किसी प्रथा-विशेष के प्रचलन से करना असंगत जंचता है, क्योंकि धर्म अत्यन्त ही जटिल मानसिक क्रिया है.

पूर्वज आराधना को धर्म मानना भ्रांतिमूलक है. धर्म में व्यक्ति ईश्वर पर निर्भर रहता है. व्यक्ति की ईश्वर की शक्ति में अटूट विश्वास रहता है तथा वह समझता है कि ईश्वर उन कर्मों की पूर्ति कर सकता है जिन्हें वह सम्पन्न

करने में असमर्थ है, किन्तु पूर्वज आराधना में प्रेतात्मा को ईश्वर के रूप में चित्रित नहीं किया गया है, यहाँ पर पूर्वज की आत्मा मनुष्य पर निर्भर करती है न कि मनुष्य पूर्वजों के प्रेतात्माओं पर निर्भर करता है.

पूर्वज आराधना को धर्म का प्रारम्भिक रूप नहीं कहा जा सकता. पूर्वज आराधना के पूर्व सम्भवत: प्रकृति के विभिन्न अंगों में व्याप्त जीवों की आराधना प्रचलित होगी. अत: पूर्व आराधना को धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या करने में असफल माना गया है.

कुछ विद्वानों ने धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या टोटमवाद से करने का प्रयास किया है. उनके अनुसार टोटमवाद आदिम धर्म का प्राचीनतम रूप है. टोटमवाद में टोटम के प्रति आदि मनुष्य श्रद्धा एवं आदर की भावना का स्पष्टीकरण करता था. प्राचीनकाल के लोग मानते थे कि उनका विकास टोटम जाति से हुआ है.

प्रत्येक सम्प्रदाय का सदस्य सामान्य पूर्वज का सन्तान माना जाता था, जिसके फलस्वरूप उनके बीच प्रेम, सहिष्णुता, सहनशीलता का सदस्य उस टोटम को पवित्र मानता था, जिसकी संतान वे समझे जाते थे. रोबर्टन स्मिथ का कथन है कि टोटमवाद से ही पूजा पद्धति का विकास हुआ है. जेवेन्स के अनुसार टोटमवाद से बलिप्रथा का आविर्भाव हुआ है. टोटमवाद भी धर्म की उत्पत्ति की व्याख्या करने में असफल प्रतीत हुआ. टोटमवाद को आरम्भिक धर्म की सार्वभौम अवस्था नहीं कहा जा सकता, क्योंकि कुछ ऐसे मनुष्य आदिमकाल में थे जो टोटमवाद से पूर्णत: अनभिज्ञ थे. यदि टोटमवाद से धर्म का प्रादुर्भाव होता तब वैसी हालत में टोटमवाद सर्वत्र प्रचलित होता. प्रो० जेवेन्स ने टोटमवाद के पूर्व की अवस्था की ओर हमारा ध्यान आकृष्ट किया है, जो प्रमाणित करता है कि टोटमवाद धर्म का आरम्भ बिंदु नहीं है. कुछ विद्वानों का मत है कि जादू धर्म से कहीं अधिक प्राचीन है. इस प्रकार धर्म जादू से निकला है. डा० जे०सी० फ्रेजर ने अपनी पुस्तक गोल्डन बाग में यह दिखलाने का प्रयास किया है कि धर्म की उत्पत्ति जादू से हुई है. जब-जब आदिम मनुष्यों ने जादू को सारहीन समझा तब वे सर्वशक्ति शाली सत्ता

ईश्वर को उपासना की ओर आकृष्ट हुए, धर्म इस उपासना का ही परिणाम है. स्पष्ट है कि जादू की असफलता ने धर्म के प्रवर्तन में बहुत कम तो योगदान किया है, किन्तु यह सिद्धान्त भी सही नहीं प्रतीत होता. यह विचार कि जादू की देन धर्म है, भ्रमात्मक है. धर्म और जादू को हम आज भी साथ पाते हैं. विश्व के अनेक धर्मों में जादू की प्रमुखता है. यदि धर्म का जन्म जादू की असफलता से होता जैसा कि प्रो० फ्रेजर महोदय ने कहा है तब इस प्रकार का सामंजस्य नहीं दिखाई पड़ता. इसके अतिरिक्त यदि धर्म का विकास जादू से माना जाय, तब उन स्थलों में धर्म का विकास नहीं होना चाहिए था, जहां जादू का अभाव था, किंतु धर्म के इतिहास से पता चलता है कि धर्म का विकास उन स्थलों में भी हुआ जहां जादू का अभाव था. फिर, यदि धर्म का कारण जादू को माना जाय तब धर्म के मनोवैज्ञानिक स्वरूप की व्याख्या करना असम्भव होगा.

उक्त कठिनाइयों के अतिरिक्त धर्म और जादू में परस्पर इतना विरोध है कि यह नहीं माना जा सकता कि धर्म जादू की देन है. धर्म के विचार में निर्भरता की भावना निहित है, जब कि जादू में शासन की भावना है. जहां धर्म विश्वास की मनोवृत्ति को बढ़ाता है, वहां जादू अधिकार की भावना को बढ़ावा देता है. धर्म में उपासक ईश्वर के समक्ष अपने को तुच्छ समझता है किन्तु जादूगर दईकों के समक्ष अपने को श्रेष्ठ समझता है. अतः डा० फ्रेजर का यह विचार है कि धर्म जादू से निकला है, अमान्य है.

कुछ मानवशास्त्रियों का मत है कि धर्म का विकास मन नामक शक्ति की आराधना के फलस्वरूप हुआ. मन को एक व्यक्तित्वशून्य, अद्भुत तथा विलक्षण शक्ति माना जाता था. इसका निवास विभिन्न वस्तुओं एवं मुख्य व्यक्तियों में माना जाता रहा है. मन शुभ एवं अशुभ व्यापारों से सक्रिय माना जाता था.

मन की धारणा का प्रचलन जीववाद के पूर्व माना जाता है. मन की धारणा में अति प्राकृतिक शक्ति के प्रति भय, रहस्य एवं आश्चर्य की भावना मन में सन्निहित रहती है. डा० मरेट का मत है कि मन की धारणा ही आगे

चलकर जीववाद सिद्धांत को जन्म देने में समर्थ हो सका. हम यह माने या न मानें कि धर्म का जन्म मन की धारणा से प्रस्फुरित हुआ, किन्तुहमें यह मानना ही पड़ेगा कि मन की धारणा आदिम मनुष्य की मानसिक अवस्थाओं का प्रकाशन करती है जो अन्तत: धर्म के प्रवर्तन में सक्षम सिद्ध हो सका है.

मनोविज्ञान की दृष्टि से धर्म की उत्पत्ति

जब हम मनोविज्ञान की दृष्टि से धर्म की उत्पत्ति सम्बन्धित प्रश्न पर विचार करते हैं तब यह प्रश्न उठता है कि मनुष्य के आभ्यंतरिक जीवन में कौन-कौन से तत्व हैं, जो उसे धार्मिक बना सकने में सक्षम सिद्ध हुए हैं. इस सिलसिले में विभिन्न विचारकों ने भिन्न-भिन्न मत को अपनाया है, जिसके फलस्वरूप अनेक सिद्धांतों का सृजन हुआ है. ऐसे सिद्धांतों में निम्नलिखित मुख्य कहे जा सकते हैं--

धार्मिक मूल प्रवृत्यात्मक सिद्धांत

इस सिद्धांत के अनुसार मनुष्य में धार्मिक मूल प्रवृत्ति निवास करती है, जो उसे धार्मिक बना देती है. कुछ विद्वानों का मत है कि धार्मिक प्रवृत्ति मूलत: जन्मजात होती है, जिसके फलस्वरूप मनुष्य धर्म की ओर अग्रसर होता है. यद्यपि यह सिद्धांत एक बहुत बड़े सत्य कि धर्म मानव स्वभाव का अंग है, को प्रकाश में लाता है, फिर भी यह सिद्धान्त अवैज्ञानिक प्रतीत होता है. यह ठीक है कि हम लोगों के पास कुछ सरल एवं मौलिक मूल प्रवृत्तियाँ हैं, परन्तु इन मूल प्रवृत्तियों को हम अपने मन के अनुसार अनगिनत नहीं बना सकते हैं. इस सिद्धान्त को मानने वालों ने धार्मिक व्यवहारों की व्याख्या के लिए धार्मिक मूल प्रवृत्ति को माना है जो अमान्य है, क्योंकि धर्म एक जटिल विषय है. अत: धर्म को मूल प्रवृत्ति मानकर इसकी उत्पत्ति की व्याख्या करना भ्रामक है.

धार्मिक शक्ति सम्बन्धी सिद्धान्त

कुछ विद्वानों के अनुसार धर्म का कारण मानव में धार्मिक शक्ति का समावेश है. उन लोगों ने अन्य व्यवहारों की व्याख्या की तरह धार्मिक व्यवहारों की व्याख्या के लिए भी एक विशेष प्रकार की शक्ति को माना है. यह

सिद्धान्त भी उक्त सिद्धान्त की तरह दोषपूर्ण है. इस सिद्धान्त के द्वारा धार्मिक अनुभूति को मन के विशेष विभाग का कार्य माना गया है. परन्तु प्रो० डा०एम०एडवर्ड ने इस विचार का खण्डन करते हुए कहा है कि, " मनुष्य के मस्तिष्क का कोई ऐसा अंश नहीं है, जो उस अर्थ में कि वह सिर्फ उसके धार्मिक जीवन में कार्यान्वित रहता हो, धार्मिक कहा जा सके ।"[7] अतः धार्मिक अनुभूति की व्याख्या मन की विशेष प्रकार की शक्ति मानकर करना संतोषप्रद नहीं है.

भयका सिद्धान्त

इस सिद्धान्त के अनुसार धर्म की उत्पत्ति भय के कारण हुई है. मनुष्य को धार्मिक बनाने में भय की भावना का बहुत हाथ है. जब हम धर्म के इतिहास पर दृष्टि डालते हैं, तब निम्नकोटि के धर्मों में भय का महत्वपूर्ण स्थान पाते हैं. आदिम मनुष्य प्रकृति में अद्भुत जीवों का निवास मानता था तथा उनके प्रति भय की भावना का प्रकाशन किया करता था. उसकी धारणा थी कि ये जीव उसको क्षति पहुंचा सकते हैं, इसलिए वह उन जीवों को प्रसन्न रखने का प्रयत्न करता था. आदिम धर्म के स्वरूप को देखकर ही विद्वानों ने धर्म का आधार भय को ठहराया है. किन्तु सभी प्रकार के भय धार्मिक नहीं होते, अतः हम कैसे मान सकते हैं कि भय धर्म का आधार है. इसके अतिरिक्त भय धार्मिक चेतना की व्याख्या करने में पूर्णतः असफल है. धार्मिक चेतना का विकास तभी होता है, जब भय के साथ-साथ आश्चर्य, प्रशंसा, कृतज्ञता, भक्ति की भावना विद्यमान रहती है. धर्म में साधक ईश्वर के प्रति भय की भावना का ही प्रकाशन नहीं करता, उनके प्रति प्रेम, आसक्ति, आत्म समर्पण तथा आश्चर्य की भावना का भी प्रकाशन करता है. राबर्टन स्मिथ का कथन है कि --" अज्ञात शक्तियों के प्रति अस्पष्ट भय की भावना की अपेक्षा धर्मों का विकास ज्ञात ईश्वरों के प्रति जो अपने भक्तों से तादात्म्य है सप्रेम भक्ति के फलस्वरूप हो सका है ।"[8] यह कहीं अधिक सत्य एवं युक्तिसंगत प्रतीत होता है.

(३) धर्म की परिभाषायें

धर्म में निरन्तर परिवर्तन होता रहा है. धर्म के परिवर्तन के साथ ही साथ धर्म की परिभाषा में भी परिवर्तन होता रहा है. ऐसी स्थिति में धर्म को परिभाषित करना कठिन है. धर्म जीवन के हर क्षेत्र एवं पहलू को समाविष्ट करता है. इसका क्षेत्र वैदिक कर्मकाण्ड से लेकर शंकर और रामानुज के ईश्वर प्रेम तक है. यह आदिम मनुष्य के पूजा-पाठ से उठकर स्पिनोज़ा के ईश्वर के प्रति बौद्धिक प्रेम तक पहुंच गया है. यह व्यक्तिगत तथा सामाजिक दोनों है. यह चमत्कारिक कर्म तथा नैतिक कर्म भी है. यह विश्वास और आचरण बुद्धि और भावना सभी से सम्बन्धित है.

धर्म की यही परिभाषा सही हो सकता है जो धर्म के सभी पहलुओं को महत्ता प्रदान करती हो. धर्म ज्ञान, भावना और कर्म का समष्टि है अतः धर्म की सही परिभाषा वही हो सकती है, जो धर्म के तीनों पहलुओं पर प्रकाश डालती हो. किन्तु यदि धर्म की परिभाषा केवल धर्म के ज्ञान, भावना और कर्म इन्हीं पहलुओं पर प्रकाश डालता है तो वह परिभाषा अधूरी कही जायगी. क्योंकि धर्म की परिभाषा में उन सामान्य सिद्धान्तों का भी स्पष्टीकरण आवश्यक है, जो धार्मिक चेतना के विकास में सहायता प्रदान करते हैं. सफल परिभाषा वही है जो एक ऐसे ईश्वर की ओर संकेत करता है जो विश्वातीत एवं गुणयुक्त है तथा मानव के प्रति जिसमें दया एवं सहानुभूति सम्मिलित है. पूर्ण होने के कारण ईश्वर प्रेम एवं भक्ति का पात्र बन जाता है तथा मानव उसे अपने कर्मों से प्रसन्न करने का प्रयत्न करता है. धर्म की वही परिभाषा सफल हो सकती है, जिसमें परिभाषित करने वाला न सिर्फ अपने धर्म की विशेषताओं का उल्लेख करता है, बल्कि सभी व्यक्तियों तथा समुदायों के धर्म सम्बन्धी विशेषताओं का भी उल्लेख करता है. धर्म की परिभाषा को वर्णनात्मक होना चाहिए. धर्म की परिभाषा को इस बात पर संकेत करने के बजाय कि धर्म को किस प्रकार का होना चाहिए, इस बात पर ज़ोर देना चाहिए कि धर्म किस प्रकार का है. धर्म की परिभाषा में इन शब्दों का विवेचन होना चाहिए कि धर्म सत्य है या असत्य, धर्म लाभदायक है अथवा हानिकारक. धर्म की परिभाषा को धर्म का विभेद विज्ञान, दर्शन, कला, नैतिकता आदि

से करना अनिवार्य है, इस प्रकार उपर्युक्त कसौटियों के आधार पर धर्म की विभिन्न परिभाषाओं का विवेचन अपेक्षित है.

सर्वप्रथम उन परिभाषाओं को देखें जो विरोधपूर्ण हैं, अन्त में उन परिभाषाओं की व्याख्या होगी जो सभी दृष्टियों से सफल दिखाई देती हैं --

कुछ विद्वानों ने धर्म में सिर्फ ज्ञानात्मक पहलू को प्रधानता दी है, हीगल ने एकमात्र ज्ञानात्मक पहलू पर ज़ोर दिया है, धर्म के लिए ज्ञानात्मक पहलू के साथ-साथ अन्य दो पहलुओं-- भावात्मक तथा क्रियात्मक का रहना नितांत आवश्यक है, प्रो० फ्लिण्ट ने कहा है -- "स्पष्ट गंभीर और विस्तृत ज्ञान के बावजूद धर्म का निर्माण सम्भव नहीं है।"[6] मैक्समुलर के अनुसार धर्म एक ऐसी मानसिक शक्ति या अवस्था है, जो मानव जाति को अनन्त ईश्वर को जानने में सहायक होता है, मैक्समुलर की परिभाषा के विरुद्ध भी वे आक्षेप लागू होते हैं, जो हीगल की परिभाषा के विरुद्ध दिये गये हैं, इस परिभाषा में बुद्धि पर अत्यधिक ज़ोर दिया गया है, परन्तु भावना तथा कर्म की उपेक्षा की गई है, प्रो० फ्लिण्ट ने कहा है-- धर्म का निर्माण तब तक नहीं हो सकता जब तक ज्ञान में भावना और अनुभूति का समावेश न हो।[10] अतः धर्म की यह परिभाषा अधूरी है, प्रो० टायलर के अनुसार धर्म आध्यात्मिक सत्ता के प्रति विश्वास है, इस परिभाषा की यह विशेषता है कि यह ईश्वर में विश्वास पर ज़ोर देता है, जो धर्म के लिए आवश्यक है, परन्तु इस परिभाषा के विरुद्ध यह कहा जा सकता है कि यदि धर्म विश्वास पर आधारित हो तो धर्म में अन्धविश्वास का संचार होता है, अतः यह परिभाषा मानवीय बुद्धि को सन्तुष्ट करने में असमर्थ है, धर्म की एक अन्य परिभाषा श्लायरमैकर के द्वारा प्रस्तुत की गई है, उन्होंने कहा है कि शुद्ध धर्म शुद्ध भावना के समरूप है, उनके अनुसार धर्म का सार तत्व ईश्वर पर पूर्ण आश्रय की भावना में निहित है, श्लायरमैकर की परिभाषा विरोधपूर्ण है, इस परिभाषा में सिर्फ भावना पर ज़ोर दिया गया है, भावना के अतिरिक्त ज्ञान तथा कर्म की भी आवश्यकता होती है, इस परिभाषा के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि श्लायरमैकर ने निर्भरता की भावना को धर्म का मूल कहा है, किन्तु निर्भरता की भावना धार्मिक तथा अधार्मिक दोनों जीवन में समानरूप

दिखाई देती है. धार्मिक निर्भरता का भावना और अधार्मिक निर्भरता की भावना के बीच विभेद रेखा खींचना सम्भव नहीं जान पड़ता. इस परिभाषा के विरुद्ध तीसरा आक्षेप यह है कि यह परिभाषा भावना को ज्ञान से पृथक् मानता है. ज्ञान के अभाव में भावना की कल्पना भी नहीं की जा सकती. किसी वस्तु के प्रति भावना का प्रदर्शन तभी होता है, जब हमें उस वस्तु के प्रति कुछ-न-कुछ ज्ञान रहता हो. ज्ञान से पृथक् भावना का विचार ही विरोधपूर्ण है.

मैथ्यूआरनोल्ड ने धर्म के बारे में कहा है कि धर्म एक ऐसी नैतिकता है जो भावना से ओतप्रोत है. यहाँ नैतिकता पर अधिक ज़ोर दिया गया है. धर्म और नैतिकता को अभिन्न कहा गया है. इस परिभाषा के विरुद्ध कहा जा सकता है कि धर्म और नैतिकता में घनिष्ठ सम्बन्ध है, किन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि धर्म और नैतिकता अभिन्न हैं, अनुचित प्रतीत होता है. एस० सैलोमन रेनाक ने धर्म के बारे में कहा है कि धर्म उन अवरोधों का योग है जो हमारी शक्तियों के स्वतन्त्र प्रयोग पर अंकुश रखता है. इस परिभाषा में धर्म को निषेधात्मक रूप में परिभाषित किया गया है. यह ठीक है कि प्रत्येक धर्म में निषेध का स्थान है, परन्तु इससे यह नहीं विदित होता कि निषेध धर्म का सर्वस्व है. धर्म में निषेधों का अपने-आप में कोई महत्व नहीं है. निषेधों का महत्व सिर्फ इसलिए है कि इनसे भावात्मक उद्देश्यों की प्राप्ति होती है, अत: धर्म को निषेधों का पर्याय मानना भ्रामक है. व्हाइटहेड ने धर्म के बारे में कहा है कि धर्म वह है जो व्यक्ति अपनी एकान्तावस्था में करता है. यह परिभाषा भी अन्य विवेचित परिभाषाओं की तरह दोषपूर्ण है. इस परिभाषा में क्रियात्मक पहलू पर एकमात्र बल दिया गया है. भावात्मक एवं ज्ञानात्मक पहलुओं की उपेक्षा की गई है. इस परिभाषा के द्वारा धर्म की विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या नहीं हो सकती है, अत: यह परिभाषा सही नहीं प्रतीत होती. हर्बर्ट स्पेन्सर के अनुसार धर्म एक कल्पना है जो विश्व को बोधगम्य बनाती है. यह परिभाषा भी उचित नहीं प्रतीत होती.

अब हम उन परिभाषाओं की व्याख्या करेंगे, जो धर्म के इतिहास में संगत परिभाषाओं के रूप में प्रतिष्ठित हैं -- धर्म की सफल परिभाषा देने वालों में सर्वप्रथम गैलवे का नाम आता है. गैलवे ने धर्म की परिभाषा इन शब्दों में दी है--

"धर्म मानव का अपने से परे शक्ति में विश्वास है जहां वह अपनी भावनात्मक आवश्यकता एवं जीवन की स्थिरता को प्राप्त करना चाहता है जिसे वह पूजा एवं सेवा में अभिव्यक्त करता है"[४८]. इस परिभाषा से धार्मिक चेतना के विभिन्न अंगों का विवेचन हुआ है. संवेगात्मक आवश्यकताओं की पूर्ति होने से धर्म के भावात्मक पहलू का पुष्टिकरण हो जाता है. धर्म के द्वारा व्यक्ति आत्मरक्षा के लिए प्रयत्नशील रहता है. धर्म का यह स्वरूप जीवन की स्थिरता की प्राप्ति के द्वारा स्पष्ट हो जाता है. आवश्यकताओं की पूर्ति कर्म के द्वारा होने से क्रियात्मक पहलू की भी व्याख्या हो जाती है. इसप्रकार धर्म के विभिन्न अवस्थाओं की व्याख्या इस परिभाषा से सम्भव है. यद्यपि यह परिभाषा उच्च तथा निम्नकोटि के धर्मों की व्याख्या करने का प्रयास करता है, फिर भी यह परिभाषा मनवाद, फोटिशवाद जैसे प्रारम्भिक धर्मों की व्याख्या करने में असमर्थ है. इसका कारण यह है कि इस परिभाषा में ईश्वरवाद को धर्म का पर्याय माना गया है. फिर भी यह परिभाषा अपेक्षाकृत सफल मानी जाती है.

प्रो० गलवे के अतिरिक्त प्रो० फ्लिण्ट की परिभाषा भी महत्वपूर्ण है. फ्लिण्ट ने धर्म की परिभाषा अपनी पुस्तक थीइज्म में इस प्रकार दी है -- "धर्म मानव का एक ऐसी सत्ता में विश्वास है या वह सत्ता जो उसकी इन्द्रियों की पहुंच के परे है, किन्तु उसके संवेगों और क्रियाओं से उदासीन नहीं है, उसकी भावनाओं तथा क्रियाओं का जो विश्वास स्रोत है"[४९]. इस परिभाषा में धार्मिक चेतना के भिन्न-भिन्न पहलुओं पर जोर दिया गया है. मनुष्य का विश्वास एक ऐसी सत्ता या उस सत्ता में होना आदि से धर्म के ज्ञानात्मक पहलू की पूर्ति होती है. प्रो० फ्लिण्ट के इन शब्दों से -- किंतु उसके संवेगों से उदासीन नहीं है से भावात्मक पहलू की पुष्टि होती है. ज्ञानात्मक तथा भावात्मक पहलुओं की तरह क्रियात्मक पहलू की महत्ता को भी स्वीकार किया गया है. क्रियाओं का जो विश्वास स्रोत है इसी से धर्म के क्रियात्मक पहलू का विवेचन होता है. इस परिभाषा को गलवे की परिभाषा की तरह विश्वासीत माना गया है. यह परिभाषा एकेश्वरवादी तथा अनेकेश्वरवादी धर्मों पर समानरूप से लागू होती है. इस दृष्टि से यह गैलवे की परिभाषा से सफल है. गैलवे की परिभाषा के द्वारा केवल एकेश्वरवादी धर्म की ही व्याख्या होती है

अतः यह परिभाषा दोषरहित है.

मार्टिनो के अनुसार धर्म सदा जीवित रहने वाले ईश्वर में विश्वास है. वह ऐसा दैविक मस्तिष्क और संकल्प है जो विश्व तथा मानवों के बीच नैतिक सम्बन्ध स्थापित करता है. धर्म को विश्वास मानकर मार्टिनो ने ज्ञानात्मक पहलू का प्रकाशन किया है. ईश्वर को सदा जीवित रहने वाला ईश्वर मानकर भावात्मक पहलू का प्रकाशन किया है. मानवों के बीच नैतिक सम्बन्ध स्थापित करना-- इन शब्दों के द्वारा क्रियात्मक पहलू की पूर्ति होती है. इस प्रकार मार्टिनो की परिभाषा में धार्मिक चेतना के विभिन्न तत्वों का विवेचन हुआ है, अतः यह परिभाषा भी संगत परिभाषा कही जा सकती है. विलियम जेम्स ने धर्म के बारे में इस प्रकार कहा कि धर्म का अर्थ ऐसी एकान्तावस्था की भावनायें, क्रियायें तथा व्यक्तिगत अनुभूतियां हैं, जिससे कि वह अध्यात्म के साथ अपने को आबद्ध समझता है. इस परिभाषा में भी भावात्मक, ज्ञानात्मक और क्रियात्मक पहलुओं का विवेचन हुआ है, अतः यह परिभाषा दोषरहित है.

(४) गांधी का धर्म

धर्मस्य तत्वं निहितं गुहायां धर्म का तत्व गूढ़ है, यह भावना बहुत प्राचीनकाल से चली आई है. वस्तुतः धर्म शब्द को भिन्न-भिन्न लोगों ने भिन्न-भिन्न अर्थों में लिया है. अतः आज उसे एक निश्चित मर्यादा में बांधकर नहीं रखा जा सकता. विवेकानन्द और महात्मा गांधी ने धर्म को सरल रूप में सर्वसाधारण के सामने रखने की चेष्टा की है. गांधी जी की प्रवृत्तियों का मूल स्रोत धर्म है. राजनैतिक, सामाजिक, आर्थिक जीवन में भी महात्मा गांधी ने धर्म का प्रयोग किया है

धर्म के साथ बाह्य तत्व मिलकर धर्म के सच्चे अर्थ को प्रभावित करते हैं. मनुष्य का स्वार्थ धर्म के साथ मिलकर धर्म को कलुषित बना देता है. गांधी जी ने धर्म के बाह्य आडम्बर को परित्याग कर उसके सार तत्व को समझने पर बल दिया है. गांधी जी धर्म के कलुषित रूप एवं उससे समाज की हानि के प्रति काफी सजग हैं. इस कारण गांधी ने धर्म का आधार नैतिकता को माना है. गांधी का ऐसा विचार है कि जो धर्म नैतिकता से विरक्त और व्यावहारिकता से परे है, व

धर्म की उपाधि नहीं दी जा सकती. धार्मिक मनुष्य के प्रत्येक कर्म का स्रोत उसका धर्म होता है. धर्म का अर्थ ईश्वर के साथ बन्धन है. इस प्रकार गांधी दर्शन का केन्द्रबिन्दु धर्म-विचार है. धर्म चरमसत्ता का अनुभव है,जो किसी भी धर्मविज्ञान से ज्यादा विस्तृत है.

गांधी जी ने कहा है --" मनुष्य बिना धर्म का ठीक वैसा है जैसा पेड़ बिना जड़ का. अत: धर्म की आधार पर ही जीवन की भव्य इमारत खड़ी की जा सकती है।[13] इसी प्रकार गांधी जी आगे कहते हैं--" मनुष्य धर्म के बिना नहीं रह सकता । कुछ नास्तिकवादी यह कहते हैं कि उन्हें धर्म से कोई संबंध नहीं । गांधी जी के अनुसार यह ठीक उसी प्रकार की बात हुई जैसे कोई मनुष्य यह कहे कि वह सांस तो लेता है, किन्तु उसके नाक नहीं है । बुद्धि से सहजज्ञान से या अन्धविश्वास से मनुष्य ईश्वर के साथ अपना कुछ-न-कुछ सम्बन्ध मानता है । कट्टर-से-कट्टर अज्ञेयवादी या नास्तिक भी किसी नैतिक सिद्धान्त की आवश्यकता अवश्य स्वीकार करता है । वह उसके पालन में कुछ-न-कुछ भलाई और उल्लंघन में कुछ-न-कुछ बुराई समझता है ।[14] इसी प्रकार गांधी जी के वाक्यों में "ब्रेडला की नास्तिकता मशहूर है, परन्तु वह अपने अन्तरतम के विश्वास की घोषणा करने का सदा आग्रह रखता था । इस प्रकार सत्य कहने के कारण काफी कष्ट सहने पड़े, परन्तु इसमें उसे आनन्द आता था और वह कहता था कि सत्य स्वयं ही अपना पुरस्कार है । यह बात नहीं कि सत्य-पालन से मिलने वाले इस आनन्द का उसे कोई ज्ञान नहीं । परन्तु यह आनन्द सांसारिक बिल्कुल नहीं है, यह तो देवी सत्ता के साथ सम्बन्ध जुड़ने से पैदा होता है । इसलिए मैंने सोचा कि जो मनुष्य धर्म को नहीं मानता, वह भी धर्म के बिना नहीं रह सकता और नहीं रहता।[15] इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी के विचारों में धर्म का महत्वपूर्ण स्थान है.

डा० राधाकृष्णन् ने भी इस बात की पुष्टि की है कि "गांधी के जीवन में धर्म एक प्रेरणा स्रोत के रूप में रहा है।[16] प्रो० विनयगोपालरा ने भी माना है कि ," गांधी के जीवन तथा दर्शन की कुंजी धर्म है।[17] भारतन् कुमारप्पा का भी यह मत है कि," गांधी जी की प्रवृत्तियों का मूल स्रोत धर्म है।[18] इन सब मान्य अभिमतों से स्पष्ट है कि धर्म गांधी के जीवन-दर्शन एवं क्रिया-कलापों

का प्रेरणा-स्रोत रहा है. यही कारण है कि गांधी जी स्वीकार करते हैं कि वे बिना किसी चीज़ के भी जीवित रह सकते हैं, किन्तु यदि ईश्वर में विश्वास टूट जाय जो कि धार्मिक चेतना की सबसे बड़ी बात है, तो उनकी मृत्यु हो जायेगी. गांधी जी ने स्वयं कहा है कि, " मैं हवा के बिना तथा जल के बिना रह सकता हूं, परन्तु ईश्वर के बिना नहीं रह सकता । आप मेरी आंख निकाल लें, किन्तु मार नहीं सकते । आप मेरे कान काट लें, किन्तु उससे मेरी मृत्यु नहीं होगी । लेकिन आप मेरा विश्वास ईश्वर से हटा दें, मेरी मृत्यु हो जायगी ।"[१९] गांधी जी के लिए ईश्वर का काफी महत्व है. इस तरह हम निष्कर्ष निकालते हैं कि धर्म गांधी जी के जीवन एवं दर्शन का आधारशिला है.

धर्म के अर्थ को स्पष्ट करने के लिए महात्मागांधी उपनिषद् की पद्धति अपनाते हैं. यह पद्धति नकारात्मक पद्धति है. इस पद्धति के अनुसार पहले हम यह देखेंगे कि धर्म क्या नहीं है ?

गांधी जी कहते हैं, " धर्म से मेरा अभिप्राय औपचारिक धर्म या रूढ़िगत धर्म का नहीं है ।"[२०] " धर्म का अर्थ सम्प्रदायवाद नहीं है ।"[२१] वे पुनः कहते हैं --" धर्म का अर्थ केवल नमाज पढ़ना या मंदिर जाना नहीं है ।"[२२] उन्हीं के शब्दों में --" धर्म से मेरा मतलब हिन्दू धर्म से नहीं है ।"[२३] "धर्म वह नहीं है जो दिमाग से ग्रहण किया जाता है ।"[२४] गांधी जी के अनुसार धर्म से मेरा मतलब किसी तरह के नियम के अनुसार चलने वाले धर्म से नहीं है. "धर्म कोई ऐसी वस्तु नहीं है जो मनुष्य के क्रिया-कलाप से परे हो ।"[२५] "सब धर्मों के अध्ययन के पश्चात् जो तुम ग्रहण करोगे वह धर्म नहीं है ।"[२६] इसी तरह " जो धर्म व्यावहारिक बातों पर ध्यान नहीं देता और उन्हें हल करने में मदद नहीं करता वह धर्म नहीं है ।"[२७] धर्म का अर्थ गांधी जी की दृष्टि में मत विशेष के प्रति आग्रह अथवा शास्त्रोचित पूजा - उपासना के व्यवहार तक ही सीमित रहने वाला नहीं है .

इन नकारात्मक युक्तियों को देखने से तथा विश्लेषण करने से ऐसा भान होता है कि गांधी जी के अनुसार धर्म सिद्धांतों या रूढ़िवादिताओं तथा कर्मकाण्ड, पूजापाठ या बाह्य आडम्बर नहीं है. स्वामी विवेकानन्द जी ने भी गांधी जी की तरह कहा है कि न तो मंदिर, न चर्च, न कोई पुस्तक, न कोई

प्रतिभा धर्म है. धर्म बौद्धिक विलास नहीं है, यह तो अनुभव की वस्तु है. नेहरू जी ने गांधी जी के धर्म सम्बन्धी विचार को और अधिक स्पष्ट किया है--"गांधी का धर्म किसी सिद्धान्त, रीति या संस्कार से सम्बन्धित नहीं है।[28]" गांधी जी धर्म का अर्थ माला जपने या बार-बार राम-नाम जपने से नहीं लेते हैं. धर्म का अर्थ हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म या इस्लाम धर्म से नहीं है. धर्म तो एक बृहद् अर्थ रखता है. धर्म अपने से परे नैतिक एवं आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है. उनका धर्म सम्बन्धी विचार साम्प्रदायिकता या संकीर्णता से ऊपर उठा हुआ है. गांधी जी ने धर्म को मात्र वेद, उपनिषद्, गीता एवं धर्मग्रन्थों का अध्ययन नहीं माना है. धर्म का यह मतलब नहीं है कि सिर्फ परमार्थ की ओर अग्रसर हो और जगत् को मिथ्या करार दें. गांधी जी के अनुसार धर्म का अर्थ विश्व से अलग होना नहीं है. गांधी जी ने धर्म से राजनीति एवं नीतिशास्त्र को पृथक् नहीं माना है. उनके अनुसार बिना धर्म के कोई राजनीति नहीं हो सकती.

अब हम देखेंगे कि गांधी का धर्म क्या है ? गांधी जी के अनुसार धर्म शब्द का क्या अर्थ है, गांधी जी स्वयं इस प्रश्न का उत्तर देते हैं और कहते हैं--"धर्म शब्द का प्रयोग मैं उसके बृहद् अर्थ में करता हूं। इसका अर्थ आत्मअनुभूति या आत्मज्ञान है।[29]" "आत्मा का ज्ञान होना और ईश्वर का ज्ञान होना ही धर्म का अर्थ है।[30]" "धर्म का अर्थ ईश्वर के साथ बंधना है. कहने का मतलब है कि ईश्वर हमारी हर एक सांस का नियंत्रण करता है।[31]" "धर्म से मेरा मतलब उस धर्म का है जो सब धर्मों की बुनियाद है, और जो हमें अपने सर्जनहार का साक्षात्कार कराता है।[32]" "धर्म आत्मा के विज्ञान के बारे में बताता है।[33]" "तुमको मेरे जीवन पर निगाह रखना चाहिए, कैसे मैं रहता हूं, खाता हूं, बैठता हूं, बात करता हूं, व्यवहार करता हूं इन सब का जो योग मुझमें है वही धर्म है[34]."

गांधी जी की धर्म सम्बन्धी युक्तियों का पर्यालोचन करने के बाद हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि धर्म आत्मा तथा ईश्वर का विज्ञान है. गांधी जी के मत में धर्म स्वतन्त्रता का समर्थक है एवं अनियंत्रवादका विरोधी है.

यह मानवीय दुर्भावना पर विजय पाना तथा करुणा की भावना जागृत करना सिखाता है. धर्म का अर्थ है, मानव का उसके रचयिता के साथ समीकरण स्थापित करना है. धर्म का अर्थ आत्मा तथा परमात्मा को पहचानना, अनुभव करना, ईश्वर का साक्षात्कार करना है. यह मानव का मानव से सम्बन्ध तथा मानव का ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना है. धर्म मानव को एक-दूसरे से पृथक् नहीं करता. यह मानव का मानव के साथ प्रेम भावना को जागृत करता है. गांधी जी के अनुसार धर्म वह रीति या नियम है, जो विश्व को संचालित एवं धारण करता है. यह रीति या नियम ईश्वर है. ईश्वर और ईश्वरीय नियम में तादात्म्य है. ईश्वर और उसका नियम एक ही है. धर्म लौकिक युक्तियों की पहुंच के परे है. धर्म भावना की चीज़ है. भावना का अर्थ भावावेश या संवेग मात्र नहीं है, बल्कि उदात्त भावना (सब्लाइम सेण्टीमेण्ट) से है. गांधी जी के अनुसार कोई ऐसा धर्म नहीं जो मानवीय क्रियाओं से भिन्न एवं पृथक् हो. धर्म तो मनुष्य के सर्वांग जीवन की क्रियाओं से सम्बन्धित है. उसका आर प्रार्थना, राजनैतिक, आध्यात्मिक तथा राजकीय सभी कार्यों में देखने को मिलता है. मनुष्य के पूर्ण व्यक्तित्व का सम्बन्ध धर्म से है. राधाकृष्णन ने गांधी श्रद्धांजलि ग्रन्थ में गांधी जी के धर्म के बारे में विचार व्यक्त किया है -- "धर्म का उनका अर्थ था सत्य, प्रेम और न्याय के मूल्यों में अडिग और अगाध श्रद्धा तथा उन्हें इसी दुनिया में प्राप्त करने का सतत् प्रयत्न।"[35]

धर्म के बारे में गांधी जी कहते हैं कि धर्म को समझने के लिए ऊँची शिक्षा प्राप्त करना या बड़े-बड़े धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करना अनिवार्य नहीं है. जिस समय जैसा हृदय कहे, वही उस समय का धर्म है. हर व्यक्ति को जो चीज़ हृदयगम्य हो गई है, वह उसके लिए धर्म है. धर्म बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है, धर्म बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है, हृदयगम्य है. इसलिए धर्म मूर्ख लोगों के लिए भी है. गांधी जी ने लिखा है -- "धर्म वस्तुत: बुद्धिग्राह्य नहीं हृदय ग्राह्य है । वह हमसे अलग कोई चीज़ नहीं । परन्तु वह ऐसी वस्तु है, जिसे हमें अपने अन्दर से विकसित करना है । वह सदा हमारे अन्दर में ही है । कुछ लोगों को उसका भान है; दूसरे कुछ को उसका जरा भी भान नहीं । लेकिन वह तत्त्व उनमें भी है.... धर्म एक व्यक्तिगत संग्रह है ।

उसे मनुष्य स्वयं ही रख सकता है और स्वयं ही खोता है। समुदाय में ही जिसकी रक्षा की जा सके, वह धर्म नहीं, मत है।"[36] गांधी जी धर्म को अन्तर्मुख विकास का रूप मानते हैं, इसलिए धर्म को वे बुद्धि और तर्क का विषय नहीं, बल्कि हृदय का, अनुभव का विषय मानते हैं. धर्म अपने से अलग कोई बाहरी चीज नहीं, भीतर की चीज है, ऐसा कहकर वे धर्म को आत्मतत्व का ही अंश बताते हैं. इस प्रकार जिन नियमों एवं सिद्धांतों से सदाचार का विकास हो, सात्त्विक प्रवृत्तियां जागृत हों, काम,क्रोध,मोह,लोभ आदि का नाश हो, उन्हें वे धर्म मानते हैं. मनुष्य के अन्दर जो सत्य चिरकाल से छिपा है, उसे दिन-दिन प्रत्यक्ष और स्पष्ट करने वाली ज्योति को ही वह धर्म मानते हैं. धर्म ही वह पुल है जो मनुष्य को ईश्वर दर्शन तक ले जाता है. जिन नियमों पर चलने से तथा जिन आचार-विचारों का पालन करने से व्यक्ति उस ईश्वर तक पहुंच जाता है, उनकी साधना को ही गांधी जी धर्म कहते हैं. ऐसा सत्य बुद्धि या तर्क का विषय नहीं है, इसलिए गांधी जी के विचार से धर्म व्यक्ति और परमात्मा के बीच की व्यक्तिगत साधना है. यहां पर गांधी का धर्म सम्बन्धी विचार व्हाइटहेड का यह कथन है कि धर्म मनुष्य की एकान्तावस्था की क्रिया है. इस तरह गांधी तथा व्हाइटहेड दोनों धर्म को व्यक्तिगत साधना के अर्थ में समझते हैं. धर्म वह प्रकाश है जो व्यक्तिगत है, व्यक्ति के अन्दर है और जिसे समझ कर चलने से वह हमें जीवन के अन्तिम लक्ष्य तक पहुंचाता है.

गांधी जी का यह कथन भी बड़े महत्व का है कि जब तक यह व्यक्ति के सत्य के रूप में रहता है तभी तक वह धर्म है, समाज में आकर वह मत हो जाता है. सामाजिक रूप में आने पर उसके बाह्य संगठन, बाह्य आकार-प्रकार पर ही ज्यादा जोर दिया जाता है. समाजगत धर्म ब्रह्माचार को, संख्या को, विस्तार को महत्व देता है, इसलिए व्यक्ति के हृदय में चिर-सत्य का जो स्वाभाविक प्रकाश होता है, वही धर्म है." किन्तु धर्म का अर्थ उनकी दृष्टि में मतविशेष के प्रति आग्रह अथवा शास्त्रीय पूजा-उपासना के व्यवहार तक ही सीमित न था, वरन् धर्म का उनका अर्थ था सत्य, प्रेम और न्याय के मूल्यों में अडिग और अगाध श्रद्धा तथा उन्हें इसी दुनिया में प्राप्त करने का सतत् प्रयत्न।[37]

गांधी जी व्हाइटहेड की तरह धर्म की सीमा व्यक्तिगत क्रिया-कलापों तक नहीं बांधते, उनका कथन है कि मनुष्य के धर्म का क्रियाशील रूप समाज सेवा में है, एकान्तावस्था में की गई क्रियाओं को धर्म मानते हुए गांधी जी उसे लोक-कल्याण एवं समाज-कल्याण के लिए आवश्यक बतलाते हैं, गांधी जी के अनुसार धर्म वह है जो सब धर्मों का आधार है, जिसके द्वारा हमें ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं, गांधी जी कहते हैं कि मानव-सेवा व असहायों की सेवा करना ही धर्म है, क्योंकि ईश्वर हमारे सामने असहायों और दुखियों के रूप में प्रकट होता है.

गांधी जी जन्म से हिन्दू थे, परन्तु उनका हिन्दुत्व अपने ढंग का निराला है, महात्मा गांधी की जड़ प्राचीन हिन्दू धर्म में ही था, किन्तु उसका विकास दूसरे धर्मों के, विशेषकर ईसाई धर्म के सम्पर्क से हुआ, गांधी जी के पिता के पास जैन धर्माचार्य, मुसलमान तथा पारसी भी आते थे, इस वातावरण का गांधी जी पर यह प्रभाव पड़ा कि उनमें सब धर्मों के लिए समान आदरभाव पैदा हो गया, इस प्रकार गांधी जी का धर्म सब धर्मों से परे है, फिर भी उनका झुकाव अपने पूर्वजों के धर्म हिन्दू धर्म की ओर अधिक है, हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि वह सारे धर्मों को अपने में समाहित किए हुए है, गांधी जी हिन्दू धर्म के बारे में बताते हुए कहते हैं कि हिन्दू धर्म किसी का बहिष्कार करने वाला संकुचित धर्म नहीं है, उसमें संसार के सारे संतों और पैगम्बरों की पूजा के लिए स्थान है, हिन्दू धर्म केवल समस्त मानव जाति के भ्रातृभाव का ही आग्रह नहीं रखता, बल्कि सारे जीवधारियों के भ्रातृभाव का आग्रह रखता है, सामान्य अर्थ में यह मिशनरी धर्म नहीं है, निःसन्देह इसमें बहुत-सी जातियां आकर मिल गई हैं, पर यह बहुत धीरे-धीरे और अदृश्य रूप से हुआ है, हिन्दू धर्म प्रत्येक मनुष्य से यह कहता है कि वह अपने ही विश्वास या धर्म के अनुसार ईश्वर की आराधना करे, इसलिए वह प्रत्येक धर्म के साथ शान्तिपूर्वक रहता है, महात्मा गांधी त्याग और समर्पण को हिन्दू धर्म का सार मानते हैं, हिन्दू धर्म के सार को उपनिषद् के एक मंत्र से स्पष्ट करते हैं-- ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत । जिसका अर्थ है कि इस विशाल

गांधी जी व्हाइटहैड की तरह धर्म की सीमा व्यक्तिगत क्रिया-कलापों तक नहीं बांधते. उनका कथन है कि मनुष्य के धर्म का क्रियाशील रूप समाज सेवा में है. एकान्तावस्था में की गई क्रियाओं को धर्म मानते हुए गांधी जी उसे लोक-कल्याण एवं समाज-कल्याण के लिए आवश्यक बतलाते हैं. गांधी जी के अनुसार धर्म वह है जो सब धर्मों का आधार है, जिसके द्वारा हमें ईश्वर के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं. गांधी जी कहते हैं कि मानव-सेवा व असहायों की सेवा करना ही धर्म है. क्योंकि ईश्वर हमारे सामने असहायों और दुखियों के रूप में प्रकट होता है.

गांधी जी जन्म से हिन्दू है, परन्तु उनका हिन्दुत्व अपने ढंग का निराला है. महात्मा गांधी की जड़ प्राचीन हिन्दू धर्म में ही थी, किन्तु उसका विकास दूसरे धर्मों के, विशेषकर ईसाई धर्म के सम्पर्क से हुआ. गांधी जी के पिता के पास जैन धर्माचार्य, मुसलमान तथा पारसी भी आते थे. इस वातावरण का गांधी जी पर यह प्रभाव पड़ा कि उनमें सब धर्मों के लिए समान आदरभाव पैदा हो गया. इस प्रकार गांधी जी का धर्म सब धर्मों से परे है. फिर भी उनका झुकाव अपने पूर्वजों के धर्म हिन्दू धर्म का और अधिक है. हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि वह सारे धर्मों को अपने में समाहित किए हुए हैं. गांधी जी हिन्दू धर्म के बारे में बताते हुए कहते हैं कि हिन्दू धर्म किसी का बहिष्कार करने वाला संकुचित धर्म नहीं है. उसमें संसार के सारे संतों और पैगम्बरों की पूजा के लिए स्थान है. हिन्दू धर्म केवल समस्त मानव जाति के भ्रातृभाव का ही आग्रह नहीं रखता, बल्कि सारे जीवधारियों के भ्रातृभाव का आग्रह रखता है. सामान्य अर्थ में यह मिशनरी धर्म नहीं है. निःसन्देह इसमें बहुत-सी जातियां आकर मिल गई हैं, पर यह बहुत धीरे-धीरे और अदृश्य रूप से हुआ है. हिन्दू धर्म प्रत्येक मनुष्य से यह कहता है कि वह अपने ही विश्वास या धर्म के अनुसार ईश्वर की आराधना करे, इसलिए वह प्रत्येक धर्म के साथ शान्तिपूर्वक रहता है. महात्मा गांधी त्याग और समर्पण को हिन्दू धर्म का सार मानते हैं. हिन्दू धर्म के सार को उपनिषद् के एक मंत्र से स्पष्ट करते हैं-- ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किंच जगत्यां जगत् । जिसका अर्थ है कि इस विशाल जगत में हम जो कुछ देखते हैं वह सब ईश्वर में व्याप्त है. तेन त्यक्तेन भुंजीथा: इसको

दो हिस्सों में बांटकर गांधी जी ने इस प्रकार अनुवाद किया है-- उसका त्याग करो और भोगो, इसका अनुवाद एक अर्थ में और हुआ है -- वह तुम्हें जो कुछ देता है उसे भोगो, फिर अन्तिम और सबसे महत्वपूर्ण भाग आता है -- मा गृध कस्यस्विद् धनम् -- जिसका अर्थ है किसी के धन का लोभ न करो, एक साधारण व्यक्ति इससे ज्यादा क्या सीखना चाहता है कि एक अद्वितीय ईश्वर, मूलमात्र का स्रष्टा और स्वामी सम्पूर्ण विश्व के अणु-अणु में व्याप्त है, इस मन्त्र के दूसरे तीन भाग पहले भाग से सीधे फलित होते हैं, अगर हम यह मानते हैं कि ईश्वर ने जो चीजें बनाई हैं उन सब में वह मौजूद है, तो हमको यह भी मानना चाहिए कि जो चीजें उसने नहीं दीं उसे हम नहीं भोग सकते और यह देखते हुए कि वह अपनी असंख्य सन्तानों का स्रष्टा है, यह निष्कर्ष निकलता है कि हम किसी की सम्पत्ति का लोभ नहीं कर सकते, यदि हमारा यह विचार है कि हम उसके पैदा किए हुए असंख्य प्राणियों में से एक हैं तो हमको चाहिए कि सब कुछ त्याग कर उसके चरणों में रख दें, इसका यह अर्थ है कि सर्वस्व त्याग का कार्य निरा शारीरिक त्याग नहीं है, परन्तु एक नये जन्म का द्योतक है, यह अज्ञानवश किया हुआ कर्म नहीं, वरन् सोच-समझ कर किया हुआ कर्म है, ज्यों ही हम उन उपदेशों पर चलने लगते हैं, हमारी लोक-परलोक की समस्त आकांक्षाएं पूर्ण हो जाती हैं,

गांधी जी कहते हैं-- " हिन्दू धर्म एक महासागर है। जैसे सागर में सब नदियां मिल जाती हैं, वैसे हिन्दू धर्ममें सब धर्म समा जाते हैं।"[38]
हिन्दू धर्म की विशेषता यह है कि सभी जीवधारियों के प्रति प्रेम-भावना रखना, हिन्दू की दृष्टि में प्रत्येक धर्म अच्छा है, पर केवल तभी जब कि उसके अनुयायी सच्चाई और ईमानदारी से उसका पालन करते हों, इस प्रकार जो सब धर्मों को समान माने वही हिन्दू धर्म है, धर्म के बारे में पुनः गांधी जी कहते हैं-- " मैं समझता हूं कि धर्म से मेरा क्या मतलब है। मेरा मतलब हिन्दू धर्म से नहीं है, जिसे मैं बेशक और सब धर्मों से अधिक पसन्द करता हूं, मेरा मतलब उस मूलधर्म से है जो हिन्दू धर्म को लांघ गया है, जो मनुष्य के स्वभाव तक का परिवर्तन कर देता है, जो भीतरी सत्य के साथ हमारा अटूट सम्बन्ध जोड़ता है और जो हमें निरन्तर अधिक शुद्ध और पवित्र करता रहता है। वह मानव-स्वभाव का अ शाश्वत तत्व है जो अपनी सम्पूर्ण अभिव्यक्ति के लिए कोई भी कीमत चुकाने को तैयार रहता है और

आत्मा को उस समय तक बिल्कुल बेचैन रखता है, जब तक उसे अपने स्वरूप का पता नहीं लग जाता तथा सृष्टा के और अपने बीच का सच्चा सम्बन्ध समझ में नहीं आ जाता।[39]

गांधी जी विविध धर्मों में पाये जाने वाले सामान्य तत्व खोजने पर और विविध धर्मावलम्बी एक-दूसरे के प्रति सहिष्णुता का भाव रखें, इस बात पर बल देते हैं. सभी धर्म ईश्वर प्रदत्त हैं, परन्तु चूंकि वे मनुष्य-कल्पित हैं और मनुष्य उनका प्रचार करता है, इसलिए वे अपूर्ण हैं. विश्व के समस्त धर्मों का सिंहावलोकन करने से विदित होता है कि सभी धर्म मूलत: एक हैं. गांधी जी के अनुसार --" मेरी हिन्दू प्रकृति मुझे बताती है कि थोड़े या बहुत, सब धर्म सच्चे हैं। सब का स्रोत एक ही ईश्वर है। परन्तु सब अपूर्ण हैं, क्योंकि वे हमारे पास मानव के अपूर्ण माध्यम द्वारा आये हैं।"[40] गांधी जी सब धर्मों के एक ही लक्ष्य पर ज़ोर देते हुए कहते हैं, सब धर्म एक ही स्थान पर पहुंचने के अलग-अलग मार्ग हैं। अगर हम एक ही लक्ष्य पर पहुंच जाते हैं, तो अलग-अलग मार्ग अपनाने से क्या हर्ज है ? वास्तव में जितने मनुष्य हैं उतने ही धर्म हैं।"[41] इस प्रकार सब धर्मों की जड़ में एक ईश्वर का नाम है. जिस प्रकार किसी वृक्ष का एक तना होता है, परन्तु शाखाएं और पत्ते अनेक होते हैं, उसी प्रकार सच्चा और पूर्ण धर्म तो एक ही है, परन्तु जब वह मानव के माध्यम से व्यक्त होता है तब अनेक रूप ग्रहण कर लेता है. एक धर्म का दूसरे धर्म से भेद धर्म के अनावश्यक तथ्यों को लेकर ही दिखता है. डा० राधाकृष्णन् ने कहा है --" धर्मों के बीच भेद महत्वपूर्ण इसलिए मालूम होते हैं कि हम अपने धर्मों के मूल सत्य के सम्बन्ध में जानकारी नहीं रखते हैं। सभी धर्मों में सामान्य तत्व निहित हैं।"[42] राधाकृष्णन् ने दूसरे स्थल पर कहा है -- "विभिन्न धर्म सहयोगी की तरह सामान्य उद्देश्य की प्राप्ति में निमग्न हैं।"[43]

हिन्दू धर्म में सहिष्णुता जो अंग्रेज़ी शब्द टालरेशन का अनुवाद है, यह बताता है कि सभी धर्म समान महत्व के हैं. दूसरे धर्मों के प्रति समभाव रखने में गांधी जी विश्वास रखते हैं. दूसरे धर्मों के प्रति सहिष्णुता सीखने से हम अपने धर्म को अच्छी तरह समझ सकेंगे. गांधी जी समभाव रखने के मूल में अपने धर्म की अपूर्णता को स्वीकार करते हैं. महात्मा गांधी ने सत्य को ही परमेश्वर माना है.

यदि हम अपूर्ण हैं तो हमारे द्वारा जिसकी कल्पना की गई है वह धर्म भी अपूर्ण है. यदि मनुष्य द्वारा कल्पित सभी धर्मों को अपूर्ण मानें तो फिर किसी धर्म को ऊंचा या नीचा मानने का कारण नहीं रह जाता. गांधी जी कहते हैं-- "मैं संसार के सब समान धर्मों के मूलभूत सत्य में विश्वास रखता हूं। मूल में वे सब एक हैं और एक दूसरे के सहायक हैं।"[४४] उनके अनुसार सब धर्मों का प्रेरक हेतु एक ही है, वह है मनुष्य जीवन को ऊर्ध्वगामी बनाने की इच्छा. मनुष्य अपूर्ण है, इसलिए सभी धर्म सत्य के अपूर्ण प्रकाशन हैं और उनमें भूल की सम्भावना है. इस प्रकार कोई भी धर्म नितान्त पूर्ण नहीं है, सभी धर्म समान रूप से अपूर्ण हैं या न्यूनाधिक पूर्ण हैं.[४५] धर्मों की अपूर्णता परम्पराओं पर आधारित हैं, किन्तु बुद्धि से असंगत विश्वासों और कृत्यों में अभिव्यक्त होती है. धर्मों की तुलनात्मक श्रेष्ठता का प्रश्न ही नहीं उठता, क्योंकि सभी धर्म सच्चे हैं, सभी धर्म अच्छे हैं. अगर हमारे धर्म में कुछ कमी है तो जहां से जो अच्छी चीज़ मिले उसे लेने से कौन हमें मना कर सकता है. अपने-अपने धर्म को सुधार कर समृद्ध करने का अधिकार हर एक को है. जब हम सब धर्मों को समान रूप से देखेंगे तब हमें अपने धर्म में दूसरे धर्मों की सभी ग्राह्य बातें अपनाने में न केवल कोई संकोच ही होगा, बल्कि हम उसे अपना कर्तव्य समझेंगे. गांधी जी का धर्म सिर्फ भारत के लिए नहीं, बल्कि सम्पूर्ण मानव समुदाय के लिए है. वे केवल हिन्दु धर्म को ही नहीं, बल्कि सब धर्मों की भावना को पुनर्जीवित करना चाहते थे। उनकी राय में यह भावना है जीवमात्र के प्रेम के रूप में प्रकट होने वाला ईश्वर-प्रेम। इसलिए उनकी पुकार यह नहीं है कि दूसरे लोग हिन्दु बन जायें, वे तो कहते हैं कि ईसाई, बौद्ध, मुसलमान और दूसरे सब अपने-अपने धर्म की शिक्षाओं पर अमल करें। उनका विश्वास था कि केवल इसी प्रकार मनुष्य जाति समस्त मानव बन्धुओं के साथ शांतिपूर्वक रह सकता है और एक दूसरे का कल्याण साधन कर सकता है।[४६]

महात्मा गांधी दूसरे धर्म-ग्रन्थों के प्रति भी उदार दृष्टिकोण अपनाते हैं. अपने धर्म से भिन्न धर्मों के प्रति आदर की दृष्टि रखते हैं. गांधी जी सब धर्मों की समानता का नियम सिद्ध करते हैं. महात्मा गांधी के शब्दों में --"मुझे तुलसीदास के रामायण के पाठ से अत्यन्त संतोष होता है। मुझे 'न्यु टेस्टामेण्ट' और कुरान से भी सान्त्वना मिलती है। मैं उन्हें आलोचक की निगाह से नहीं देखता

वे मेरे लिए उतने ही महत्वपूर्ण हैं, जितना भगवद्गीता । भले उनकी सब बातें मुझे न जंचे -- जैसे पाल के पत्रों का प्रकरण । इसी तरह तुलसीदास की भी हर एक बात मुझे पसन्द नहीं आती ।[47]

महात्मा गांधी प्रत्येक धर्मग्रन्थ के वचनों को अपनी बुद्धि के अनुसार ग्रहण करते हैं. वे मानते हैं कि प्रधान धर्मग्रन्थ ईश्वर प्रेरित है, किन्तु वे माध्यमों से छनकर आते हैं. इसलिए वे शुद्ध नहीं होते. पहली बात है कि वे किसी मानव पैगम्बर द्वारा आते हैं और दूसरी बात है कि उनपर भाष्यकारों की टीका होती है. उनकी कोई बात ईश्वर की ओर से सीधी नहीं आती. गांधी जी कहते हैं--" एक ही बात को मैथ्यू एक रूप में पेश करता है, जॉन किसी दूसरे रूप में । मैं ईश्वरीय प्रेरणा को तो मानता हूं, मगर बुद्धि का त्याग नहीं कर सकता ।"[48] गांधी जी का यह विचार है कि संसार के सभी धर्मग्रन्थों को सहानुभूति-पूर्ण पढ़ना हमारा कर्तव्य है. दूसरे धर्मों के आदरपूर्ण अध्ययन से अपने धर्मग्रन्थों के प्रति श्रद्धा कम नहीं होती. सत्य तो यह है कि हमारी जीवन-दृष्टि विशाल बन जाती है. महात्मा गांधी का विचार है कि -" पक्का हिन्दू होने पर भी मुझे अपने धर्म में ईसाई, इस्लामी और पारसी धर्म की शिक्षाओं के लिए गुंजाइश मालूम होती है और इसलिए मेरा हिन्दुत्व कुछ लोगों को खिचड़ी-सा दिखाई देता है, और कुछ लोगों ने मुझे भ्रमर वृत्ति वाला (eelectic) तक करार दिया है । किसी आदमी को भ्रमरवृत्ति वाला कहने का तो यह अर्थ हुआ कि उसका कोई धर्म ही नहीं है, परन्तु मेरा तो इतना व्यापक धर्म है कि वह ईसाइयों का 'प्लीमाउथ भ्रातृसंघ' के सदस्य तक का और कट्टर से कट्टर मुसलमान का भी विरोध नहीं करता । इस धर्म का आधार अत्यन्त व्यापक सहिष्णुता है । मैं किसी को उसकी कट्टरता के लिए बुरा-भला नहीं कहता, क्योंकि मैं उन्हें उनके अपने दृष्टिकोण से देखने की कोशिश करता हूं । यह व्यापक श्रद्धा ही मेरे जीवन का आधार है । मैं जानता हूं कि इससे कुछ परेशानी होती है-- लेकिन मुझे नहीं, दूसरों को ।[49]

(५) धार्मिक मनुष्य का स्वरूप

धार्मिक मनुष्य वह है कि जो सदाचारमय साधु जीवन बिताता है, जिसकी वृत्तियां सादी हैं, जो सत्य की मूर्ति है, विनम्र है, सत्य स्वरूप है, जिसने

अहंकार का आध्यात्मिक त्याग किया है, ज्ञानी पुरुष सहज या अकृत्रिम रूप में बोलता-चलता-बैठता है, कहीं भी वह दिखावा नहीं करता, धार्मिक पुरुष अपने स्वभाव को छिपाने का प्रयास नहीं करता, जो पुरुष अपने स्वभाव को छिपाने का प्रयास करता है और अपने को अधिक होशियार, समझदार, विवेकी, ज्ञानपूर्ण होने का दावा करता है, वह अपने चित्त के भावों के लिए असन्तोष होने के कारण सहज रूप से व्यवहार नहीं कर सकता, जब तक चित्त की सब वासनाओं का क्षय नहीं हो जाता और इसलिए मन में लगा रहता है कि कुछ प्राप्त करना शेष रह गया है, तब तक चित्त में पूर्ण संतोष भी कैसे हो सकता है, जिस क्षण मनुष्य को अन्तर्ज्ञान होता है, उसका जीवन दूसरा ही हो जाता है, वह धार्मिक बन जाता है, आत्मा ने परम को देख लिया है, इसलिए मन को हमारे सारे अस्तित्व का नियन्त्रण करना चाहिए -- यही अन्तर्ज्ञान है, अन्तर्ज्ञान को प्राप्त करने के लिए पुरानी आदतों का परित्याग करना होगा, धार्मिक व्यक्तिके अनुसार आध्यात्मिक तत्व कोई ऐसी पृथक् वस्तु नहीं है, जिसको शेष जीवन से अलग कर रक्षा करनी है, बल्कि वह एक ऐसा तत्त्व है जो मनुष्य के सारे जीवन में व्याप्त है और उसे परिष्कृत करता है.

धार्मिक व्यक्ति के लिए त्याग आसान और स्वाभाविक हो जाता है, वे कांटों पर भी ऐसे आराम से चलते हैं, जैसे हवा पर चल रहे हों और उनके मन में आत्म-विश्वास की शांति बनी रहती है, वे महान आशावादी होते हैं और आत्मा की शक्तियों में उनका विश्वास अगाध होता है.

हमें अपने शत्रुओं से भी अपनी ही भांति प्यार करने के लिए उपदेश किया जाता है, किन्तु इस नियम का जितना सम्मान हम मौखिक करते हैं, उतना व्यवहार में नहीं करते, लेकिन धार्मिक व्यक्ति का यह एक स्थायी नियम हो जाता है, ये प्रेम के बिना नहीं रह पाते, यह एक ऐसा प्रेम है जो फल की, बदले की चाह नहीं करता, बुद्ध का विश्व-प्रेम इतना व्यापक है कि वह छोटे-से-छोटे प्राणी को भी अपने अंक में भर लेता है, ईसा की दृष्टि में सहिष्णुता और क्षमा ही पुण्य और धर्म के मार्ग हैं.[40] गास्पल आफ नज़रीन्स में ईसा का यह

वचन आता है कि तब तक प्रसन्न मत होओ जब तक तुम अपने भाई को प्रेम की नज़र से न देखो[५१]. उसी प्रकार गांधी जी का कहना है कि जो हमसे घृणा करते हैं, उनसे हमें प्रेम करना चाहिए. उनके अनुसार ऐसा प्रेम किस काम का जो तब तक ही बना रहे जब तक हम अपने मित्र का विश्वास करते हों.

धार्मिक व्यक्ति के भीतर स्थिर बुद्धि के लक्षण होते हैं. यदि वह सचमुच ही स्थिर बुद्धि की सीमा को पहुंचा होगा, तो कितना ही दुःख आ पड़े, वह विह्वल, धैर्यहीन, परमेश्वर या दैव को दोष देता हुआ अथवा परेशान होता हुआ नहीं दिखाई देगा. इसी प्रकार हम उसे सुख के लिए भी परेशान नहीं पाएंगे. सुख प्राप्त होने पर वह सुख से पागल भी नहीं होगा. सुख और दुःख दोनों में उसका जीवन एक समान शान्ति और धीरज से व्यतीत होता दिखाई देगा. इस प्रकार धार्मिक व्यक्ति शुभ-अशुभ में, हर्ष-शोक-रहित तथा राग-द्वेष-रहित निश्चयमय और आसक्तिहीन जीवन बिताता है. जिसकी बुद्धि ज्ञान से स्थिर हो गई है, उसके कुछ बाह्य लक्षण दिखते हैं-- जैसे शरीर में युवावस्था या वृद्धावस्था आती है, तो वह शरीर के किसी एक अवयव में ही नहीं दिखाई देती, बल्कि धीरे-धीरे शरीर की सारी इन्द्रियां यहां तक कि रोम-रोम में उसके चिन्ह दिखाई देने लगते हैं.

श्रीकृष्ण ने गीतामन्थन में अर्जुन को स्थित-प्रज्ञ के लक्षण बताते हुए कहा है--" मेरा यह निश्चित मत है कि स्थिर बुद्धि वाले ज्ञानी पुरुष की इन्द्रियां पूर्ण तथा उसके वश में होती हैं । जैसे कछुवा अपने अंगों को समेट सकता है, उसी प्रकार ज्ञानी पुरुष अपनी इन्द्रियों को तुरन्त ही रोक सकता है । धनुर्धर, ज्ञानी पुरुष की मति सचमुच कितनी स्थिर हुआ है, यह जानने का एक महत्वपूर्ण साधन यह है कि उसने अपनी इन्द्रियों के विषय-वेग को कितना काबू में लिया है, वह कितना कम हुआ है तथा उसका आचरण कितना विवेक और संयम युक्त बना है[५२]।"

योगी पुरुष इस प्रकार इन्द्रियों से विषयों का सेवन करता है. पहले तो वह अपनी बुद्धि के अनुसार यह निर्णय करता है कि कौन-कौन से विषय जीवन के धारण-पोषण के लिए आवश्यक हैं और कौन-कौन

से नहीं है. इस निर्णय के लिए वह राग-द्वेष से भरसक ऊपर उठकर विचार करने का प्रयत्न करता है. इसका मतलब यह हुआ कि जीवन के धारण-पोषण के लिए क्या आवश्यक है और क्या अनावश्यक, यह निश्चित करने में वह जीवन के गलत आदर्शों से विचार नहीं करता. उदाहरण के लिए प्रतिष्ठा कायम रखने के लिए, सगे-सम्बन्धियों को खुश करने के लिए, सुविधायें बढ़ाने के लिए तथा असुविधायें दूर करने के लिए इतने विषयों के बगैर नहीं चल सकता, या इतने विषयों का आकर्षण छोड़ा नहीं जा सकता, अथवा इतने विषय आवश्यक तो हैं, लेकिन अहंकार होने के कारण उन्हें बरदाश्त नहीं किया जा सकता--आदि विचारों को वह एक ओर रख देता है. यह सच है कि ऐसा करने में वह शुरू में ही सफल नहीं हो जाता, उसे बहुत बार असफलताओं का सामना करना पड़ता है, लेकिन संतों, साधकों और विशेष अनुभवियों के समागम तथा उपदेश की सहायता से उसका यह प्रयत्न चालू रहता है.

इस प्रकार राग-द्वेष से ऊपर उठकर, भोगने और त्याग करने योग्य विषयों का निर्णय करके, जो विषय बिल्कुल आवश्यक लगे हों, उनमें भी इन्द्रियों को लोलुप न होने देकर, जितने जरूरी हों उतनों का ही भोग करना योग कहा जायगा और ऐसा करने वाले पुरुष को धार्मिक पुरुष कहा जाता है. ऐसे प्रयत्नशील योगी को शुरू शुरू में तो कठिनाई मालूम होती है. लेकिन जैसे-जैसे उसका प्रयत्न बढ़ता जाता है, वैसे-वैसे कठिनाई घटती जाती है. और जैसे-जैसे प्रयत्न सफल होता जाता है, वैसे-वैसे उसे इस कार्य में चित्त की प्रसन्नता बढ़ती हुई जान पड़ती है. शुरू में तो उसका यह प्रयास उसे ऐसा भास कराता है मानों उसे चारों ओर से सांकल में जकड़ रखा है, लेकिन बाद में उसे उलटा ही अनुभव होता है. वह समझने लगता है कि मैं सब ओर से बंधा हुआ कैदी नहीं हूं, बल्कि अपने ही निर्माण किए हुए अनेक बन्धनों से मुक्त होकर विशेष स्वाधीन और स्वतंत्र बना हुआ पुरुष हूं. इससे वह दिनोंदिन चित्त की अधिकाधिक प्रसन्नता का अनुभव करता है. श्रीकृष्ण ने इसी प्रकार अर्जुन से कहा है--" मैंने कहा था कि धर्म

का मार्ग चित्त को प्रसन्न दशा में ही सुझाता है और उस प्रसन्नता को बढ़ाता है । यही बात मैं तुम्हें फिर से कहता हूं कि मेरे बतलाये हुए संयमी पुरुष के चित्त की प्रसन्नता दिनोंदिन बढ़ती जाती है । उससे वह दुःख में भी हंस और खेल सकता है और अत्यन्त शोक पैदा करने वाले कारणों के आ जाने पर भी शांतचित्त से उचित-अनुचित का निर्णय कर सकता है । दूसरे शब्दों में, ऐसे पुरुष की ही बुद्धि स्थिर होती है ।[५३]

स्थिर बुद्धिवाला ही सच्चा धार्मिक कहलाता है. प्रश्न उठता है कि स्थिर बुद्धिवाले के क्या लक्षण होते हैं. यह तो हम समझ चुके हैं कि स्थिर बुद्धि वाले पुरुष की क्रियायें अकृत्रिम होती हैं. संयमी स्थिर बुद्धि वाले पुरुष और संसारी भोगासक्त पुरुष के बीच उनकी जीवन-दृष्टि में दो दिन और रात के जितना बड़ा भेद रहता है. स्थिर बुद्धि वाला संयमी पुरुष जिन बातों में उदासीन और नीरस होता है, वे भोगी पुरुष को अत्यन्त महत्वपूर्ण और रसप्रद मालूम होती हैं और उनके लिए वह रात-दिन प्रयत्न करता है और जिन बातों के लिए संयमी जी तोड़ मेहनत करता है, उनमें भोगी को जरा भी रस नहीं आता. भोगी पुरुष इन्द्रियों के सुख और उन्हें प्राप्त करने के साधनों को काम और अर्थ को विशेष महत्व देते हैं और इन्हीं की सिद्धि में अपने जन्म को सार्थक समझते हैं. इन दो को दृष्टि में रखकर ही वे धर्म और ज्ञान की साधना करते हैं और यदि धर्म को भंग करने या अज्ञान का आश्रय लेने से उन्हें अपने सुख की प्राप्ति होती दिखाई देती है तो वैसा करने में भी वे हिचकिचाते नहीं. इसके विपरीत संयमी और विचारी पुरुष अपने काम और अर्थ के प्रति उदासीन रहते हैं, और धर्म का नाश करके या अज्ञान का आश्रय लेकर कभी भी उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न नहीं करते. वे रात-दिन धर्म और ज्ञान का आश्रय लेकर प्राणियों की भलाई के लिए ही प्रयत्न करते रहते हैं. संयमी पुरुष के हृदय में जो शान्ति रहती है, संसारी पुरुष को न तो कभी तृप्ति होती है न कभी शान्ति मिलती है. श्रीकृष्ण जी कहते हैं -- "जो पुरुष सब वासनाओं का त्याग करके निस्पृह भाव से व्यवहार करता है, जिसके मन में यह मेरा, यह दूसरे का ऐसा भेदभाव नहीं है, जिसके मन में अहंभाव का मद नहीं है,

और इसलिए जिसके मन में 'या तो मैं नहीं या वह नहीं अथवा 'अमुक काम मेरे ही हाथों पूरा होना चाहिये,' मुझे ही उसका सिद्धि का यश मिलना चाहिये' -- ऐसे आग्रह नहीं हैं, उस पुरुष को ही शांति प्राप्त होती है।[५४]

(६) बुद्धि और श्रद्धा

बुद्धि मानवीय प्रकृति का प्रधान तत्व है. मनुष्य बुद्धि के द्वारा ही समाज में अपना एक अलग स्थान रखता है. बुद्धि की सक्रियता के द्वारा ही आत्मा अनुभूतियों, इच्छाओं, सहज प्रवृत्तियों तथा प्रेरणाओं को नियंत्रित, नियमित तथा परिवर्तित करता है. बुद्धि अपने सहज ज्ञान द्वारा आत्मा के हित एवं उपदेश को जान लेता है. यह किसी कार्य को आदर्श के अनुकूल होने पर सत् तथा उसके प्रतिकूल होने पर असत् ठहरा देती है. यह कार्य के विभिन्न योजनाओं के गुण-दोष पर विचार करता है तथा अन्य योजनाओं को त्याग कर एक विशेष कार्य-योजना को चुन लेता है. इस प्रकार ऐच्छिक कर्म बुद्धि पर आश्रित रहते हैं. हम अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी रहते हैं, क्योंकि बुद्धि के द्वारा ही हम अच्छे और बुरे कर्मों में अन्तर पाते हैं. यदि हम बुरे कर्म करते हैं तो इसका अर्थ है कि हमने अपनी बुद्धि के अनुसार ही यह बुरा रास्ता चुना है. इस प्रकार उस बुरे कार्य के लिए हम जिम्मेदार हैं. मूढ़ तथा पागल व्यक्ति बुद्धिहीन होते हैं. वे सत्-असत् में अन्तर नहीं कर सकते. अतः वे अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नहीं होते.

बुद्धि का लक्ष्य उस ध्येय रूप वस्तु की खोज करना है जिसमें विषयी एवं विषय दोनों एक साथ समाविष्ट हों, किन्तु बुद्धि के अन्दर उस पूर्ण को उस ध्येय रूप वस्तु को ग्रहण करने की योग्यता का अभाव है. बुद्धि नाना प्रकार के प्रत्ययों एवं रूढ़ सिद्धांतों, संप्रदायों और रूढ़िगत परंपराओं के कारण परमसत्ता को ग्रहण करने के लिए अपने-आप में अपर्याप्त है. 'जिस तक न पहुंच कर वाणी और मन दोनों वापस लौट आते हैं।'[५५] 'दृष्टि वहां नहीं पहुंच सकती, न वाणी और न मन ही पहुंच पाते हैं। हम नहीं जानते। हम यह भी नहीं समझते कि कैसे कोई इसके विषय में शिक्षा दे सकता है।'[५६] 'परमसत्ता

को इस प्रकार के प्रमेय पदार्थ के रूप में भी नहीं उपस्थित किया जा सकता कि बुद्धि उसे ग्रहण कर सके. जहां परम को जानने के प्रश्न उठेंगे, बुद्धि अपने को वहां साधनहीन और कोरा पायेगी. देवता इन्द्र के अन्दर हैं, इन्द्र पिता ईश्वर के अन्दर है, और पिता ईश्वर ब्रह्म में है, किन्तु ब्रह्म किसके अन्दर है ? अब याज्ञवल्क्य उत्तर देते हैं," अब आगे अधिक प्रश्न मत कीजिये।"[56] हमारे बौद्धिक विभाग केवल इन्द्रियगम्य भौतिक जगत् की व्याख्या देश, काल और कारणों से आबद्ध आकृतियों के रूप में कर सकते हैं, किन्तु यथार्थ सत्ता इन सबके परे है.

बृहदारण्यक में याज्ञवल्क्य पूछते हैं जो सब को जानता है, वह अपने-आपको कैसे जान सकता है? ज्ञाता और ज्ञान किस प्रकार संभव है ? इस प्रकार मैं हूं का आधार मैं सोचता हूं को सिद्ध करना होगा और इस प्रकार तर्क की एक अनन्त शृंखला बन जायगी. आत्म चेतना बुद्धि द्वारा नहीं उत्पन्न हो सकती. जहां तक बाह्य पदार्थों का सम्बन्ध है, बुद्धि द्वारा हमें उनकी वास्तविकता नहीं, उनके आभास का धारणात्मक ज्ञान होता है.

उपनिषदों का कभी-कभी दावा है कि विचार के द्वारा हमें उस परमसत्ता का अपूर्ण एवं आंशिक चित्र ही मिलता है, अन्य समयों में वे यहां तक दावा करते हैं कि विचार के द्वारा व्यवस्थित ढंग से हम यथार्थसत्ता तक पहुंच ही नहीं सकते. क्योंकि विचार (बुद्धि) संबंधों के ऊपर आश्रित हैं, इसलिए वह संबंधविहीन सत्ता को ग्रहण नहीं कर सकता.

बुद्धि के विषय में कांट का मत है कि वह प्रकृति का निर्माण करती है और इसके लिए शक्ति आत्मतत्त्व से आती है. कांट के अनुसार इन्द्रियां ज्ञान के लिए सामग्री प्रस्तुत करती हैं और बुद्धि उसको व्यवस्थित करके ज्ञान का रूप प्रस्तुत करती है, इस प्रकार अतीन्द्रिय मत में इन्द्रियानुभव और बुद्धिविकल्प दोनों आवश्यक हैं. दोनों का अलग-अलग समर्थन करना एकांगी दृष्टिकोण होगा. हेगल कांट के इन्द्रिय संवेदन और बुद्धि विकल्प के द्वैत को स्वीकार नहीं करता. बोसांके ने हेगल के विचारों से आगे बढ़कर यह स्वीकार किया है कि चरम तत्त्व का ज्ञान बुद्धि द्वारा हो सकता है उनके अनुसार परम तत्त्व या सत्य बुद्धिमय है. इस प्रकार बोसांके यथार्थता की परिभाषा विचार द्वारा

स्वाकृत पदार्थ के रूप में करते हैं, किंतु बुद्धि स्वयं आता के ज्ञान का साधन नहीं हो सकती और यह (स्वयं का) ज्ञान सम्पू ज्ञान की पूर्व मान्यता और शर्त है, ब्रेडले के अनुसार चरमतत्व पूर्ण एवं निरपेक्ष होने के कारण बुद्धि द्वारा ग्राह्य नहीं है, गांधी जी की मान्यता ब्रेडले से साम्य रखता है, उन्होंने माना है कि सत्य ज्ञान की प्राप्ति साधारण बुद्धि से परे है, वे कहते हैं कि ईश्वर अवर्णनीय, अचिन्त्य और बुद्धि से परे हैं," हम उसे इन्द्रियों द्वारा जानने में सदा असफल होंगे, क्योंकि वह उनसे परे है । यदि हम अपने आपको इन्द्रियों से हटा लें, तो हम उसका अनुभव कर सकते हैं । दैवी संगीत हमारे अन्दर निरन्तर हो रहा है, किन्तु कोलाहल करने वाला इन्द्रियां इस कोमल संगीत को दबा देता है ।[55] इसका यह अर्थ नहीं कि बुद्धि या तर्क का कोई स्थान नहीं है, सांसारिक क्रियाओं में बुद्धि का योग बड़ा हितकारी होता है, उसमें भी ध्यान बुरे एवं भले का होना चाहिए, कुबुद्धि एवं कुतर्क वास्तविक निर्णय देने में असमर्थ हैं, गीता की भाषा में व्यावसायिक बुद्धि ही वास्तविक निर्णय देने में सक्षम हैं, इसमें सार-असार और धर्म-अधर्म का भेद संभव होता है, यदि बुद्ध विवेकशील या विकसित नहीं है तो उसपर भरोसा करना ठीक नहीं है, गांधी जी का स्पष्ट मत है कि --" यह मानना भ्रम है कि जिन चीजों का जीवन में कोई उपयोग न हो, उन्हें बालकों के दिमाग में ठूंसने से भी उनकी बुद्धि बढ़ती है, इसमें बुद्धि का विस्तार भले हो, परन्तु विकास नहीं होता, क्योंकि बुद्धि भले-बुरे का विवेक नहीं कर सकती ।[56] भले और बुरे का विवेक करने के लिए बुद्धि का विकास आवश्यक है, विकसित बुद्धि ही साधारण बुद्धि की अपेक्षा अधिक यथार्थ ज्ञान दे सकती है, इसके सम्बन्ध में ध्यान देना होगा कि बुद्धि का सच्चा विकास हाथ, पैर, कान आदि अंगों का ठीक-ठीक उपयोग करने से ही हो सकता है यानि समझ-बूझ कर शरीर का उपयोग करने से बुद्धि का विकास उत्तम ढंग से और जल्दी से जल्दी हो सकता है, इसमें भी यदि परमार्थ की वृत्ति न मिले तो शरीर और बुद्धि का एकांगी विकास होता है, परमार्थ की वृत्ति हृदय यानि आत्मा का क्षेत्र है, इसलिए यह कहा जा सकता है कि बुद्धि के विकास के साथ हृदय, आत्मा, शरीर का साथ-साथ विकास और मेल होना आवश्यक है,

आत्मा, बुद्धि और शरीर का विकास उनकी कसरत द्वारा होता

है, बुद्धि की कसरत विद्या प्राप्त करना है, विकसित बुद्धि या विवेक आध्यात्मिक परीक्षण एवं सांसारिक क्रियाओं की यथार्थता के सम्बन्ध में आवश्यक है, श्री अरविन्द का भी मत है कि " विवेक आध्यात्मिक अनुभूति के लिए पूर्णत: उचित नहीं, बल्कि अनिवार्य है, परन्तु विवेक ज्ञान-निष्ठ होना चाहिए, अज्ञान पर आधारित तर्कमात्र नहीं।"[60] यहां विवेक विकसित बुद्धि है और जहां कहां भी गांधी जी ने बुद्धि का अनुगमन करने के लिए अपना मत व्यक्त किया है, वहां उन्होंने बुद्धि शब्द का प्रयोग विवेक या विकसित बुद्धि के अर्थ में ही किया है, इस अर्थ में वे दृढ़तापूर्वक कहते हैं-- "नहीं, आप अपनी बुद्धि के अनुसार चलिये, क्योंकि मेरी शुद्ध की बुद्धि अन्त:-प्रेरणा का समर्थन नहीं करती। मेरी अंत: प्रेरणा मेरी बुद्धि से विद्रोह करती है... जब तक मेरी बुद्धि सहारा न दे तब तक मैं शुद्ध अपनी अन्त:प्रेरणा के अनुसार नहीं चलता।"[61] जिस बुद्धि में अज्ञान के स्थान पर विवेक है उसका निश्चय अनुगमनीय होगा, अविकसित बुद्धि का अज्ञानता के परिणामस्वरूप उसका अनुगमन न होगा, अविकसित बुद्धि को गांधी जी मनुष्य की छोटी बुद्धि कहते हैं,

ऐसी बुद्धि जो विकसित नहीं है, जो विवेकशील नहीं है और जिसमें कर्म-अकर्म के प्रति सोचने की शक्ति नहीं है, उससे दूर रहना ही श्रेयस्कर है, इस प्रकार गांधी जी बुद्धि को उसी हद तक मान्यता प्रदान करते हैं, जहां तक वह विवेक के विरुद्ध न जाती हो, इस सन्दर्भ में वे बुद्धिवादियों की तरह एकांगी दृष्टि से नहीं सोचते, उनका निश्चित मत है कि " बुद्धि की अपनी जगह तो है हां-- लेकिन उसे हृदय की जगह पर नहीं बैठना चाहिए--बुद्धि का एक विकास हो जाने के बाद वह अपने स्वभाव के अनुसार अपने आप ही काम करती है, और अगर हृदय शुद्ध हो तो जो कुछ अनीतिमय है, उसे वह छोड़ देती है। बुद्धि एक चौकीदार है जो अपने दरवाजे पर सदा जाग्रत और अटल हालत में रहे, तो कहा जा सकता है कि वह अपनी जगह पर है। जीवन यानी कर्तव्य यानी कर्म जब बुद्धि से तर्क से कर्मों को खत्म कर दिया जाता है, तब वह दूसरे की जगह लेने वाली बन जाती है और ऐसी बुद्धि को हटाना जरूरी है।[62] गांधी जी बुद्धि शब्द का प्रयोग तीन रूपों में करते हैं-- बुद्धि, तर्क और विवेक, इनमें से तीनों को मान्यता तब मिलती है जब वे स्वाभाविक रूप से अनीतिमय का खण्डन करें, ऐसी क्षमता विवेक में है, विकसित

बुद्धि में है, भावात्मक तर्क में है. ये तीनों परस्पर विरोधी नहीं हैं. गांधी जी का मत गीता की व्यावसायिक बुद्धि और श्री अरविन्द के विवेक से ब मिलता-जुलता है.

उपनिषदों के अनुसार एक उच्चतर शक्ति है, जो हमें इस केन्द्रीय आध्यात्मिक सत्ता को ग्रहण करने योग्य बनाती है. विषयों का विवेचन आध्यात्मिक दृष्टि से ही होना चाहिए. योग की प्रक्रिया एक क्रियात्मक अनुशासन है जो इसकी प्राप्ति के मार्ग की ओर निर्देश करती है. मनुष्य के अन्दर एक दैवीय अन्तर्दृष्टि की योग्यता है, जिसे यौगिक अन्तर्दृष्टि कहते हैं, जिसके द्वारा वह बुद्धिगत भेदों से ऊपर उठकर तर्क की पहेली को बुझा लेता है. जिस क्षण हम तर्क से ऊपर उठकर धार्मिक जीवन व्यतीत करना प्रारम्भ करते हैं, बुद्धि की सब समस्याएं स्वयं अपने समाधान आपसे कर लेती हैं।[43] उपनिषदों का अभिप्राय यह नहीं है कि बुद्धि एक अनुपयोगी पथ-प्रदर्शक है. बुद्धि द्वारा प्राप्त यथार्थ सत्ता का विवरण असत्य नहीं है. बुद्धि वहीं असफल होती है, जहां यह उक्त सत्ता को उसके पूर्ण रूप में ग्रहण करने का प्रयत्न करती है. अन्य प्रत्येक स्थान पर इसे सफलता प्राप्त होती है. बुद्धि जिस वस्तु की गवेषणा करती है वह मिथ्या नहीं है, यद्यपि वह परम रूप से यथार्थ सत् नहीं है. कारण और कार्य में, पदार्थ और उसके गुण में, पाप और पुण्य में, सत्य एवं भ्रांति में, विषयी और विषय में जो सत्याभास प्रतीत होते हैं, वे मनुष्य की परस्पर सम्बद्ध परिभाषाओं को पृथक्-पृथक् करके देखने की प्रवृत्ति के कारण है. फिश्ते की आत्मा एवं अनात्म संबंधी जटिल समस्या, कांट के सत्याभास, ह्यूम का घटनाओं का नियमों के साथ विरोध, ब्रेडले के अरागतिपरक विसंवाद-- इन सब का समाधान हो सकता है, यदि हम इस बात को स्वीकार कर लें कि परस्पर विरोधी अवयव परस्पर एक-दूसरे के पूरक अंश हैं, जिन सबका आधार एक ही सामान्य तत्त्व है. बुद्धि के निषेध की आवश्यकता नहीं, किन्तु उसकी अनुपूर्ति की आवश्यकता है. अन्तर्दृष्टि के ऊपर जिस दर्शन पद्धति का आधार हो, जरूरी नहीं कि वह तर्क एवं बुद्धि के विपरीत ही हो. जहां बुद्धि का प्रवेश संभव नहीं ऐसे अंधकारमय स्थानों में अन्तर्दृष्टि प्रकाश डाल सकती है. यौगिक अन्तर्दृष्टि से प्राप्त निष्कर्षों को तार्किक विश्लेषण के अधीन करने का

आवश्यकता है और केवल यही प्रक्रिया ऐसी है कि परस्पर संशोधन एवं पूर्ति के द्वारा प्रत्येक व्यक्ति सात्विक एवं संतुलित जीवन बिता सकता है. यदि अन्तर्दृष्टि की सहायता न ली जाय तो बुद्धि द्वारा प्राप्त किए गए निष्कर्ष नीरस, निस्सार, अधूरे एवं आंशिक ही रहेंगे. दूसरी ओर नैसर्गिक अन्तर्दृष्टि के निष्कर्ष विचारशून्य मूक, अंधकारावृत्त एवं अस्पष्ट प्रतीत होंगे, जब तक कि उन्हें बुद्धि का समर्थन प्राप्त न हो. बुद्धि के आदर्श की प्राप्ति अन्तर्दृष्टि के अनुभव द्वारा होता है, क्योंकि सर्वोच्च सत्ता (ब्रह्म) जो है, उसके अन्दर सभी विरोधी विषयों का समन्वय हो जाता है.

गांधी जी को राजनीति तथा कूटनीति का कुछ अनुभव था. दक्षिण अफ्रीका और भारत में उन्होंने देख लिया था कि एक ही प्रश्न पर लोग विभिन्न मत देते हैं और अपने मत के लिए विभिन्न तर्क पेश करते हैं. सब को विश्वास रहता है कि उनके तर्क सही हैं पर सब के तर्कों में इतनी विषमता रहती है कि वे लोग अपने-अपने तर्कों को अपने प्रतिपक्षियों से मनवा नहीं पाते, इससे उन्हें रोष और असंतोष होता है. गांधी जी कहते हैं कि " इसका अनुभव किसको नहीं हुआ होगा कि हमारी अन्तर्वृत्ति जैसी बनी हो वैसी ही दलीलें हमें सूझा करती हैं और वे दूसरों के गले न उतरें तो हमें असन्तोष, अधीरता और अन्त में रोष भी होता है।"[64] अत: गांधी जी चाहते हैं कि पाठक भिन्न-भिन्न दृष्टियों को समझें. इससे स्पष्ट है कि बौद्धिक क्रिया का प्रचुर विकास गांधी जी को इष्ट था. बिना बुद्धि के विभिन्न दृष्टियों को समझना असम्भव है. जो बात वे गीता को समझने के विषय में कहते हैं वही बात प्रत्येक वस्तु, आध्यात्मिक या भौतिक को समझने के विषय में कही जा सकती है, गांधी जी का विचार है कि --" गीता का अर्थ समझने में बुद्धि का काम है। यह कठिन है। इससे तुम्हें रस नहीं मिलता, किन्तु जब बुद्धि के काम में रस मिलने लगेगा तब अर्थ समझने की इच्छा जागेगी। इसीलिए बुद्धि के विषयों में रस लेने लगो।"[65]

गांधी जी प्राय: कहा करते हैं कि इंसान का स्वभाव गलती करना है, पर यह भी उसका स्वभाव है कि वह गलती को सुधार सकता है और आगे बढ़ता है. बुद्धि को विकसित करने में भी इसी प्रयोगवाद का उपयोग होता है. बुद्धि-बल जितना ही अधिक होगा उतनी ही आत्म-भावना फलवती होगी

तथा उतनी ही जल्दी बुद्धि का उसमें लय होगा. बुद्धि का विकास विद्याभ्यास से होता है और उसका परिपाक आत्मदर्शन है. बुद्धि द्वारा प्राप्त ज्ञान विद्या है.

गांधी जी ने पूना की सभा में अपने दिए गए भाषण में बताया है कि श्रद्धा का अर्थ है आत्मविश्वास और आत्मविश्वास का अर्थ है ईश्वर पर विश्वास. जो श्रद्धावान् होता है वह दूसरे की अश्रद्धा देखकर नहीं डरता, उल्टे वह दुगना दृढ़ होता है. गांधी जी कहते हैं सुरक्षित मनुष्य डाकुओं के चले जाने पर जिस तरह असावधानी छोड़कर सावधान हो जाता है, उसी प्रकार श्रद्धावान् मनुष्य अपने साथियों को भागता देखकर स्वयं सुदृढ़ हो जाता है, सिंह की तरह अकेला लड़ता है और पहाड़ की तरह अडिग हो जाता है. गांधी जी कहते हैं श्रद्धा कोई अक्ल दौड़ाकर नहीं पैदा की जा सकती. वह धीरे-धीरे मनन, चिन्तन और अभ्यास से आती है. इस श्रद्धा को प्राप्त करने के लिए ही हम प्रार्थना करते हैं.

ईश्वर का अस्तित्व, आत्मा की अमरता, सत्य की शाश्वत सत्ता आदि आध्यात्मिक विश्वासों के निमित्त श्रद्धा का योग आवश्यक होता है. द्रष्टाओं, शास्त्रों एवं धर्मों के प्रति तथा उनके उपदेशों के प्रति श्रद्धा ज्ञानदायिनी होती है. चार्वाक को छोड़कर प्राय: सभी भारतीय धार्मिक एवं दार्शनिक मतों ने श्रद्धा को मान्यता प्रदान की है. चार्वाक के अनुसार वेदों या पुरोहितों के प्रति श्रद्धा रखना मूर्खता है. जैन दर्शन में सम्यक्-दर्शन यथार्थ ज्ञान के प्रति श्रद्धा पर आधारित है. मणिभद्र की मान्यता है कि श्रद्धा अन्ध-श्रद्धा नहीं है और किसी के भी युक्ति-संगत वचन के प्रति श्रद्धा रखा जा सकता है. बौद्ध दर्शन में चतुर्थ आर्य-सत्य में सम्यक् समाधि के अन्तर्गत चार अवस्थाओं का वर्णन है. द्वितीय अवस्था श्रद्धा की ही है. इसमें सब प्रकार के सन्देह दूर हो जाते हैं. सांख्य, न्याय, मीमांसा और वेदान्त में भी श्रद्धा को किसी न किसी हद तक आवश्यक बतलाया गया है. पाश्चात्य दार्शनिक कांट ने भी इसे अपने दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान दिया है.

दार्शनिक श्रद्धा का स्वरूप धार्मिक श्रद्धा से भिन्न जान पड़ता है. दर्शन उन्हीं द्रष्टाओं या धर्मग्रन्थों के प्रति श्रद्धा की सीख देते हैं, जिनकी सत्यता की प्रामाणिकता पूर्वमान्य है और जिनके उपदेश युक्तिसंगत हैं. धर्म में श्रद्धा को युक्ति या तर्क से उच्च माना गया है, इसलिए धार्मिक श्रद्धा बुद्धि-प्रधान की अपेक्षा भावना-प्रधान है. इसका यह तात्पर्य नहीं कि वह अलौकिक या

अंध-श्रद्धा है, लेकिन उस दिशा में जाने के लिए कोई नियंत्रण न होने के कारण अंध श्रद्धा को प्रश्रय मिल सकता है. श्रद्धा की अपनी मान्यता के विषय में गांधीजी ने कहा है --" मेरी श्रद्धा तो ज्ञानमयी और विवेकपूर्ण है, जो बुद्धि का विषय है वह श्रद्धा का विषय कदापि नहीं हो सकता । इसलिए अंध श्रद्धा ही नहीं है ।"[66] श्रद्धा में विवेक एवं ज्ञान रहता है, इसलिए विवेक रहित श्रद्धा या अंधश्रद्धा गांधीजी को कदापि मान्य नहीं है.

गांधी जी ने श्रद्धा को बुद्धि से परे मानते हुए उसे छठा इन्द्रिय माना है. बुद्धि से परे का तात्पर्य बुद्धि विरोधी नहीं--" श्रद्धा बुद्धि के विरुद्ध नहीं-- उससे परे है । श्रद्धा एक प्रकार का छठी इन्द्रिय है जो उन मामलों में कारगर होती है, जो बुद्धि क्षेत्र के बाहर है ।"[67] जहां बुद्धि की पहुंच नहीं होती वहां से श्रद्धा का आरम्भ होता है और इसका स्रोत हृदय है. श्रद्धा का स्रोत हृदय होने के कारण उसे भावना-प्रधान कहा जा सकता है और इस अर्थ में गांधी जी धार्मिक श्रद्धा के पक्ष में आते हैं. लेकिन लगता है, गांधी जी धार्मिक श्रद्धा को बुद्धि-प्रधान के रूप में जानते हैं, क्योंकि हमें धार्मिक श्रद्धा, यानी केवल बुद्धि का ही पोषण करने वाली नहीं बल्कि अंतर में स्थायी बन जाने वाली श्रद्धा के अचल और अक्षुण्ण प्रकाश की ज़रूरत है. फिर भी गांधी जी का गंतव्य आंतरिक श्रद्धा को ही प्रश्रय देना है. उन्होंने बताया है कि हृदय पर बौद्धिक विकास का प्रभाव धीरे-धीरे होता है और कभी-कभी तो "हृदय बुद्धि का कहना नहीं मानता या साथ नहीं देता ....[68] । "इसका प्रधान कारण श्रद्धा का अभाव माना गया है.

शरीरधारी आत्मा के लिए "अत्यंत सजीव श्रद्धा भी सम्पूर्ण से कम ही रहती है, क्योंकि शरीरधारी की मर्यादा है, फिर भी अपनी श्रद्धा को बढ़ाने का प्रयत्न तो करना ही चाहिए ।"[69] श्रद्धा बढ़ाने का प्रयत्न करना आवश्यक है, क्योंकि श्रद्धा बढ़ाना हमारा कर्तव्य है.[70] इस कर्तव्य का ध्यान समस्याओं के समाधान के लिए श्रद्धा की उपयोगिता सिद्ध करता है. गोस्वामी तुलसीदास ने श्रद्धा के बिना धर्म नहीं होता[71] " ऐसा माना है. गांधी जी की मान्यता है कि धर्म के सम्बन्ध में "श्रद्धा सर्वोपरि होती है । सब की श्रद्धा एक ही वस्तु के बारे में एक हो तो फिर जगत में एक ही धर्म हो सकता है[72] ।" लेकिन ऐसा सम्भव नहीं है.

श्रद्धा और बुद्धि का अन्तर स्पष्ट है. श्रद्धा आध्यात्मिक चिन्तन के लिए आवश्यक है, बुद्धि बाह्य प्रत्ययों से संबंधित है. इसलिए दोनों का क्षेत्र भिन्न-भिन्न है. श्रद्धा से अन्तर्ज्ञान आत्म-ज्ञान की वृद्धि होती है इसलिए अन्तःशुद्धि भी होती ही है. बुद्धि से बाह्य ज्ञान की सृष्टि के ज्ञान की वृद्धि होती है. परंतु उसका अन्तः शुद्धि के साथ कार्य-कारण जैसा कोई सम्बन्ध नहीं रहता. आत्मज्ञान या अन्तर्ज्ञान के लिए बुद्धि निरुपाय है. उसके लिए श्रद्धा कारगर सिद्ध हो सकती है. सन्देह हो सकता है कि बुद्धि के परे श्रद्धा अंधश्रद्धा हो सकती है. लेकिन ऐसा नहीं है. बुद्धि के परे श्रद्धा का यह तात्पर्य नहीं कि श्रद्धावान् के पास बुद्धि होती ही नहीं, बल्कि ज्यों-ज्यों श्रद्धा बढ़ेगी, त्यों-त्यों बुद्धि बढ़ेगी।"[73]

साधारण रीति से हमारे निर्णयों में बुद्धि का स्थान बहुत गौण और अधीनता का है. गांधी जी के शब्दों में "... मनुष्य का अंतिम पथ-प्रदर्शन बुद्धि से नहीं, किन्तु हृदय से होता है। हृदय निष्कर्षों को स्वीकार कर लेता है और बुद्धि बाद में उनके लिए मुक्ति खोजती है। तर्क विश्वास का अनुगामी होता है। मनुष्य जो कुछ करता है और करना चाहता है, उसके समर्थन में कारण खोज लेता है।"[74] इस प्रकार वास्तविक जीवन में बुद्धि भावना के अधीन है. लेकिन गांधी जी बुद्धि को उचित महत्त्व देते हैं. उनका मत है कि "बुद्धिगम्य मामलों में जो तर्क विरुद्ध है वह त्याज्य है।"[75] लेकिन वे बुद्धि के सर्वशक्तिमान् होने के दावे को भी नहीं मानते. उनके अनुसार ऐसी भी बातें हैं, जिनमें बुद्धि हमें दूर तक नहीं ले जा सकती और हमें श्रद्धा पर आश्रित होना पड़ता है. उस श्रद्धा का कोई मूल्य नहीं है, जो केवल सुख के समय ही पनपती है. सच्चा मूल्य तो उस श्रद्धा का है जो कड़ी-से-कड़ी कसौटी के समय भी टिकी रहे. यदि श्रद्धा सारी दुनिया की निन्दा के सामने भी अडिग खड़ी रह सके, तो वह निरा दंभ और ढोंग है. गांधी जी श्रद्धा की विशेषतायें बताते हुए कहते हैं कि "श्रद्धा ही हमें तूफानी समुद्रों के पार ले जाती है, श्रद्धा ही पर्वतों को हिला देती है और श्रद्धा ही महासागर को कूद कर पार कर जाती है। यह श्रद्धा और कुछ नहीं केवल अन्तर्यामी प्रभु का सजीव, जाग्रत भान ही है। जिसे यह श्रद्धा प्राप्त हो गई, उसे और कुछ नहीं चाहिए। शरीर से रोगी होकर भी वह आध्यात्मिक दृष्टि से नीरोग है। भौतिक दृष्टि से चाहे वह निर्धन हो, पर आध्यात्मिक दृष्टि से वह सम्पन्न होता है।"[76] आध्यात्मिक तत्व

का ज्ञान केवल बुद्धि द्वारा ही नहीं बल्कि श्रद्धा द्वारा भी होता है. गांधी जी कहते हैं कि " ईश्वर की अनुभूति बुद्धि के द्वारा नहीं हो सकती । बुद्धि केवल कुछ दूर तक ले जा सकती है, उससे आगे नहीं । ईश्वर का साक्षात्कार श्रद्धा और श्रद्धा द्वारा प्राप्त अनुभव की बात है ।... पूर्ण श्रद्धा को अनुभव की कभी नहीं प्रतीत होती ।"[७७]

श्रद्धा के साथ ही बुद्धि चलती है. मनुष्य की श्रद्धा जितना अधिक तीव्र होगी, उतनी ही वह बुद्धि को पैना बनायेगा. जहां बड़े-बड़े बुद्धिमानों की बुद्धि काम नहीं करती, वहां एक श्रद्धालु की श्रद्धा काम कर जाती है. जहां बुद्धि का प्रयोग किया जाता है वहां केवल श्रद्धा से हम नहीं चल सकते. जो बातें बुद्धि से परे हैं, उन्हीं के लिए श्रद्धा का उपयोग है. जो बुद्धि से परे है वह निश्चित रूप से बुद्धि के प्रतिकूल नहीं है. किसी से ऐसी बात पर बिना प्रमाण के विश्वास करने के लिए कहना, जिसके संबंध में प्रमाण दिया जा सकता है, बुद्धि के प्रतिकूल है. परन्तु एक अनुभवी व्यक्ति का बिना सिद्ध किए दूसरे व्यक्ति से ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने के लिए कहना विनम्रतापूर्वक अपनी सीमाओं की स्वीकृति है. श्रद्धा के बिना यह संसार एक क्षण में नष्ट हो जायेगा. सच्ची श्रद्धा उन लोगों के बुद्धि संगत अनुभव को स्वीकार करना है, जिन्होंने हमारे विश्वास के अनुसार प्रार्थना और तपस्या द्वारा शुद्ध जीवन बिताया है. इसलिए प्राचीन युगों के पैगम्बरों या अवतारों पर आस्था कोरा अन्धविश्वास नहीं है, बल्कि एक आन्तरिक आध्यात्मिक आवश्यकता की परितुष्टि है. गांधी जी के अनुसार पथ-प्रदर्शन का सूत्र यह है कि यदि कोई बात प्रमाणित की जा सकती है, तो इस बात को अस्वीकार कर देना चाहिए कि वह श्रद्धा के आधार पर मान ली जाय, किंतु यदि किसी बात का प्रमाण व्यक्तिगत अनुभूति के अतिरिक्त कुछ अन्य नहीं हो सकता, तो उसे श्रद्धा के आधार पर निर्विवाद स्वीकार कर लेना चाहिए ।" आत्मा अथवा ईश्वर ज्ञान का विषय नहीं है । यह स्वयं ज्ञाता है, अतः बुद्धि से परे है । ईश्वर को जानने के दो चरण हैं । प्रथम है श्रद्धा तथा दूसरा और अंतिम चरण, उस(श्रद्धा) से उत्पन्न अनुभव ज्ञान है ।"[७८] इसप्रकार "श्रद्धा बुद्धि का खंडन नहीं करती, वरन् उसका अतिक्रमण करती है ।"[७९]

ईश्वर बुद्धि से परे अवश्य है, " पर एक सीमित अंश तक ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणों द्वारा समझना सम्भव है।[80]" इस वाक्य से गांधीजी का आशय यह मालूम पड़ता है कि यद्यपि बुद्धि की सीमायें हैं तब भी , जैसा कि कांट का मत है, वह हमें ईश्वर के अस्तित्व में विश्वास करने से नहीं रोकता. गांधी जी का एक तर्क यह है कि हम विश्व को एक अतिक्रमण करने वाली सत्ता की मान्यता के बिना नहीं समझ सकते. गांधी जी के शब्दों में --" विश्व में व्यवस्था है और प्रत्येक अस्तित्ववान नियम है। यह नियम अन्ध-विश्वास नहीं है, क्योंकि अंध-नियम जीवधारियों के व्यवहार का अनुशासन नहीं कर सकता। और अब तो सर जगदीशचन्द्र बोस के आश्चर्यजनक अनुसंधानों के फलस्वरूप यह सिद्ध किया जा सकता है कि जड़ पदार्थों में भी जीवन है। सब प्रकार के जीवन का अनुशासक नियम ही ईश्वर है। नियम और नियम-निर्माता एक ही है[81]।"

कांट ने यह प्रदर्शित किया है कि परमतत्व के ज्ञान के लिए बुद्धि अपर्याप्त है और ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने के लिए दी हुई युक्तियां दोषपूर्ण होती हैं. गांधी जी का भी यह विश्वास है कि अनुभूति इन्द्रियों और बुद्धि के द्वारा अगम्य है. बुद्धि केवल इतना ही कर सकती है कि वह श्रद्धा द्वारा ईश्वर के अस्तित्व की उत्पन्न विश्वास का औचित्य प्रदर्शित करे.

गांधी जी का आग्रह है कि आत्मा मनुष्य का केन्द्रीय लक्ष्य है और देवत्व या ईश्वर में अटल श्रद्धा आदर्श जीवन के लिए और अहिंसात्मक प्रतिरोध के उपयोग के लिए आवश्यक है. और अन्य कर्तव्यों का बंधन वहां तक मान्य है, जहां तक वे सत्य के प्रति आधारभूत भक्ति से मेल खाते हैं. इसमें किसी को आपत्ति न होगी कि ईश्वर संबंधी धारणा में गांधी जी परम उदार हैं. उनके लिए ईश्वर केवल वास्तविकता का, सत्य का, नियम का और विश्व में व्याप्त सामंजस्य का ही दूसरा नाम है. उनका मत है कि ईश्वर और आत्मा में विश्वास श्रद्धा की बात है. कोई भी श्रद्धा अनुभूत ज्ञान के प्रति ही होती है. आकाश-कुसुम के प्रति श्रद्धा नहीं होती. अनुभूत ज्ञान के प्रति श्रद्धा रखने वाले को अन्ततोगत्वा अनुभव अवश्य होगा. इस दृष्टि से गांधी जी का मत है कि किसी भी मामले में श्रद्धा की पुष्टि अनुभूत ज्ञान द्वारा होना आवश्यक है, क्योंकि आखिर तो श्रद्धा अनुभव पर अवलम्बित है, और जिसे श्रद्धा है उसे कभी-न-कभी अनुभव होगा ही.

परन्तु श्रद्धावान कभी अनुभव की आकांक्षा नहीं करता, क्योंकि श्रद्धा में शंका को स्थान ही नहीं है. इसका यह अर्थ नहीं कि श्रद्धामय मनुष्य जड़-रूप है या जड़ बन जाता है. जिसमें शुद्ध श्रद्धा है, उसकी बुद्धि तेजस्वी रहती है. वह स्वयं अपनी बुद्धि से जान लेता है कि जो वस्तु बुद्धि से भी अधिक है--परे है-- वह श्रद्धा है. जहां बुद्धि नहीं पहुंचती वहां श्रद्धा पहुंच जाती है. बुद्धि की उत्पत्ति का स्थान मस्तिष्क है, श्रद्धा का हृदय.

गांधी जी ने यह बताया है कि उन्होंने अपने महत्त्वपूर्ण निर्णय कैसे किये, उन्हें ईश्वर या अन्तरात्मा से पथ-प्रदर्शन मिला. किन्तु उन्होंने तर्क द्वारा यह जांच लिया कि वह निर्णय जिसकी उन्हें प्रेरणा मिली, ठीक था अथवा नहीं. इस प्रकार वे लिखते हैं--" ठीक हो या गलत मैं जानता हूं कि सत्याग्रही के रूप में सोची जा सकने वाली कठिनाई में ईश्वर की सहायता के अतिरिक्त मेरा अन्य कोई साधन नहीं और मैं यह विश्वास दिलाना चाहूंगा कि मेरे जो कार्य समझ में न आने जैसे लगते हैं, वे वास्तव में आंतरिक प्रेरणाओं के कारण हुए हैं।[82] गांधी जी कहते हैं--" अपने जीवन में जो भी महत्त्वपूर्ण कार्य मैंने किए हैं, उन्हें मैंने बुद्धि के सहारे नहीं, वरन् अन्त:प्रेरणा की, मैं कहूंगा कि ईश्वर की प्रेरणा से किये हैं.[83]"

श्रद्धा पर ज़ोर देते हुए गांधी जी कहते हैं, जिस चीज़ का आत्मा से संबंध है, उसको बुद्धि द्वारा सिखाना असंभव है. यह तो ठीक वैसा ही हुआ, जैसे कि बुद्धि द्वारा ईश्वर में श्रद्धा रखना सिखाया जाये. ऐसा नहीं हो सकता, क्योंकि यह वस्तुत: हृदय का विषय है. श्रद्धा केवल हृदय से आ सकती है, बुद्धि से नहीं. बुद्धि तो श्रद्धा के विषय में बाधक ही हो सकती है. गांधीजी ने बताया है कि उन्होंने जितने भी महत्त्वपूर्ण निर्णय किए हैं, उनमें उन्हें श्रद्धा और अन्त:प्रेरणा का पथ-प्रदर्शन मिला है, परन्तु वे इसका अनुसरण तब तक नहीं करते जब तक उनकी बुद्धि उसका समर्थन नहीं करती.

(६) नैतिक धर्म

यूरोप और अमेरिका में बहुत से लोग धर्म के विरोधी हो गये हैं, उनका कहना है कि दुनिया में यदि धर्म नाम की कोई चीज होती, तो यह जो दुराचरण बढ़ गये हैं, बढ़ना नहीं चाहिए था. किन्तु यह ख्याल गलत है. व्यक्ति अपनी दुष्टता का विचार न करके धर्म को ही बुरा मानकर स्वच्छन्दतापूर्वक व्यवहार करता रहता है.

विभिन्न धर्मों की छानबीन करके यह तथ्य प्रस्तुत किया गया है कि सारे धर्म नीति की ही शिक्षा देते हैं, इतना ही नहीं, सारे धर्म नीति के नियमों पर ही टिके हुए हैं. ऐतिहासिक दृष्टि से भी धर्म और नीति सर्वदा साथ रहे हैं. चाहे किसी काल में मनुष्य को आत्मा, परमात्मा, भावी जन्म आदि का ज्ञान न रहा हो, फिर भी जब से मनुष्य ने समाज में रहना शुरू किया है, तब से मनुष्य कुछ ऐसे नियमों व प्रचलनों को अपनाये हुए है कि जिसके बिना सामाजिक जीवन असम्भव है. गांधी जी कहते हैं--" नीति-मार्ग यह बतलाता है कि दुनिया कैसी होनी चाहिए। इस मार्ग से यह जाना जा सकता है कि मनुष्य को किस प्रकार आचरण करना चाहिए।"[८४]

नीति ही एक ऐसा शास्त्र है, जिसका सम्पूर्ण तत्व आचरण पर निर्भर है. अन्य शास्त्रों अथवा विधाओं की भांति इसे आचरण से अलग किया ही नहीं जा सकता, और चूंकि हमने अपने ज्ञान को केवल मानसिक कल्पना, तर्क एवं संग्रह की वस्तु बना लिया है, उसे आचरण से भिन्न कर लिया है, इसलिए नीति मार्ग हमें खांडे की धार के समान मालूम होता है. सदाचरण ही व्यवहार्य है, क्योंकि उसे ही नीति एवं धर्म का सम्बल प्राप्त होता है. अनेक सन्तों एवं मनीषियों के आचरण से बुरी बात दब गई, अच्छी ही बची रहीं. रीति-नीति में परिणत हो गई और सदाचरण धर्म में. इस प्रकार धर्म और नीति अच्छे समाज को चलाने के साधन हैं. उनका सम्बन्ध बतलाते हुए गांधी जी ने लिखा है--" नीति रूपी बीज को जब तक धर्मरूपी जल का सिंचन नहीं मिलता तब तक उसमें अंकुर नहीं फूटता। पानी के बिना वह बीज सूखा ही रहता है और लम्बे अरसे तक पानी न पाये तो नष्ट भी हो जाता है। इस प्रकार हमने देख लिया कि सच्ची नीति में

सच्चे धर्म का समावेश होना चाहिए । इसी बात को दूसरी रीति से यों कह सकते हैं कि धर्म के बिना नीति का पालन नहीं किया जा सकता, यानी नीति का आचरण धर्मरूप में करना चाहिए[85]। गांधी जी ने ऐसा कहकर यह बतला दिया कि नीति का आचरण यदि धर्म के रूप में कर्तव्य के रूप में-- नहीं किया गया तो वह सूख जायेगी, उसका कोई महत्त्व नहीं रह जायगा.

गांधी जी ने नीति और धर्म दोनों का आधार आचरण बताया है. उनके अनुसार नीति आचरण पर अवलम्बित है. आचरण के बिना उसका महत्त्व अभाव बनकर रह जाता है. धर्म के विषय में भी यही बात है. इसी प्रकार धर्म और नीति का व्यवहार भी आधार है. इसी को दृष्टि में रखकर उन्होंने कहा --" जैसा अन्तर में है, वैसा ही दिखाना और तदनुसार आचरण करना धर्माचरण की आखिरी नहीं पहली सीढ़ी है[86]।"

नीति अपने व्यावहारिक रूप में यद्यपि सामाजिक हैं,किन्तु उसका मूल व्यक्ति के अन्दर ही है. मूलत: अन्तर्मुखी होने से उसकी कसौटी व्यक्तिगत है, इसलिए एक बात जो एक आदमी के लिए नैतिक हो सकती है, वही दूसरे के लिए अनैतिक भी हो सकती है. नीति में भावना प्रधान है. कार्य तो बाह्यरूप है-- वह तो अच्छा होना ही चाहिए, पर उसके पीछे जो भावना हो, उसका सात्विक एवं ऊर्ध्वमुखी होना अनिवार्य है. नीति के लिए भावना की पवित्रता एवं शुभ संकल्प अनिवार्यत: आवश्यक है. गांधी जी लिखते हैं कि दो मनुष्य एक ही काम को करते हैं, परन्तु उनमें से एक का काम नीति मय हो सकता है और दूसरे का नीति रहित, जैसे कि एक मनुष्य अत्यन्त दयार्द्र होकर गरीबों को भोजन देता है और दूसरा मान-बड़ाई या प्रतिष्ठा के लिए या ऐसे ही अन्य स्वार्थपूर्ण विचार से वही कार्य करता है. दोनों काम एक से होने पर भी पहला काम नीतियुक्त है और दूसरा नीति रहित.

नैतिक कार्य का परिणाम सदा अच्छा नहीं होता. हमें नीति के सम्बन्ध में विचार करते हुए इतना भर देखना है कि किया गया काम शुभ हो और शुद्ध इरादे से किया गया हो. उसके परिणाम पर हमारा कोई नियंत्रण नहीं है. फलदाता तो एकमात्र परमेश्वर है. सम्राट सिकन्दर को इतिहासवेत्ताओं ने

महान् माना है. वह जहां-जहां गया, वहां-वहां उसने यूनान की शिक्षा, कला, रीति-रिवाज आदि दाखिल किए और उसका फल हम आज भी स्वाद से चखते हैं. पर इतना सब करने में सिकंदर का हेतु महान बनना और विजय पाना था, अतः उसके कार्यों में नैतिकता थी, ऐसा कौन कह सकेगा ? भले ही वह महान कहलाया, परन्तु उसे नीतिमान नहीं कहा जा सकता. इसी प्रकार नीतियुक्त कार्य भय रहित और स्वार्थ रहित होने चाहिए. जिस प्रकार इस दुनिया में लाभ पाने की दृष्टि से किया गया कार्य नैतिक नहीं माना जाता, ठीक उसी प्रकार परलोक में लाभ पाने की आशा से किया गया कार्य भी नीति रहित है. भलाई भलाई के लिए करनी है, इस दृष्टि से किया गया काम नीतिमय माना जायेगा. जेवियेर[87] नामक एक महान संत हो गये हैं. उन्होंने प्रार्थना की थी कि मेरा मन सदा स्वच्छ रहे. उनका विश्वास था कि ईश्वर-भक्ति मृत्यु के बाद दिव्य भोग भोगने के लिए नहीं, बल्कि वह तो मनुष्य का कर्तव्य है, इसलिए वे भक्ति करते थे. इस प्रकार हम देखते हैं कि नीति का पालन किस प्रकार किया जाता है. नीति के नियम अटल होते हैं. मत बदलते रहते हैं, परन्तु नीति नहीं बदलती. सम्भव है अज्ञान की दशा में हम नीति को न समझ पायें पर ज्ञान चक्षु खुलने पर उसे समझने में हमें कठिनाई नहीं होती. नीति मनुष्य की धारणाओं और इच्छाओं से परे एक व्यवस्था है, जिसे हम विधान कहते हैं. जिस प्रकार राज्य के नियमों के मातहत हम रहते हैं, उसी प्रकार नीति के विधान के मातहत रहना हमारा कर्तव्य है. नीति के नियम और दुनियादारी के नियम में बहुत गहरा भेद है.

डार्विन जो कि नीति-विषय के लेखक नहीं थे, फिर भी उन्होंने यह स्पष्ट किया है कि बाहरी वस्तुओं के साथ नैतिक सम्बन्ध बहुत गहरा है. उन्होंने बुद्धि बल और शरीर बल पर ज़ोर दिया है, लेकिन सबसे ज़्यादा नीति-बल पर जोर दिया है." मनुष्य और अन्य प्राणियों में सबसे बड़ा अन्तर यह है कि मनुष्य अधिक परमार्थी है. अपने नैतिक बल के अनुसार मनुष्य दूसरों के लिए यानी अपनी सन्तान के लिए, अपने कुटुम्ब के लिए और अपने देश के लिए अपनी जान कुर्बान करता आया है[88]. मतलब यह कि डार्विन साफ साफ बतलाते हैं कि नीतिबल सर्वोपरि है. यूनानी लोग आज के यूरोपीय लोगों से कहीं अधिक बुद्धिमान थे. फिर भी

ज्यों ही उन लोगों ने नीति का परित्याग किया त्यों ही उनकी बुद्धि उन्हीं की दुश्मन बन गई और आज वह समाज देखने में भी नहीं आता. जातियां न पैसे के बल पर टिकती हैं और न सेना के बल पर, वे केवल नीति के आधार पर ही टिक सकती हैं. यह विचार सदा मन में रखकर परमार्थ रूपी परम नीति का आचरण करना मनुष्य मात्र का कर्तव्य है.[86] ईसामसीह ने अपने उपदेशों में नीतिशास्त्र पर बहुत ज़ोर दिया है. ईसाई धर्म का नीति शास्त्र अत्यन्त ही प्रभावशाली है. नैतिकता इस धर्म का केन्द्रबिन्दु है. ईश्वर के प्रति प्रेम तथा अपने पड़ोसी के प्रति प्रेम रखना ईसाइयों के नीतिशास्त्र का आधार प्रतीत होता है. इस्लाम धर्म में भी नैतिकता पर ज़ोर दिया गया है. इस्लाम के नैतिक विचार का समावेश कुरान में है. नैतिकता का चरम मापदंड कुरान ही है, क्योंकि उसमें ईश्वरीय आदेश सन्निहित हैं. हिन्दू धर्म में नीतिशास्त्र की इस बात पर बल दिया गया है कि किसी आचरण को नैतिक होने के लिए उसे आदर्श के अनुकूल होना ही पर्याप्त नहीं है, वरन् चित्त की शुद्धि भी अनिवार्य है.

महात्मा गांधी ने नीति पर सबसे ज्यादा ज़ोर दिया है. प्रत्येक मनुष्य के लिए नीति आवश्यक है. यह उन्नति का प्रथम सोपान है. छोटे से लेकर बड़े तक सब के लिए यह एक निश्चित और विश्वसनीय पथ प्रदर्शक है. नीति को गांधी जी ने अपने जीवन में इतनी प्रधानता दी है कि उसे धर्मतत्त्व से मिलाकर एक कर दिया है. यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो उनका सारा तत्वज्ञान सम्पूर्ण धर्मतत्व नीतिमय है और नीति में ही बद्धमूल है. इसलिए इनका तत्त्वज्ञान (दर्शन) आध्यात्मिक की अपेक्षा नैतिक अधिक है.

नीति से मनुष्य को मालूम होता है कि उसे कैसा बनना चाहिए. मनुष्य जैसा है, जिस स्थान पर खड़ा है, उस अवस्था से, उस स्थान से, जहां उसे जाना है वहां तक पहुंचने का जो मार्ग है, जो नियम है, जो सिद्धांत है, उन्हें ही नीति कहते हैं. यह हमारे भविष्य का निर्माता है. आगे हम जैसा बनेंगे या दुनिया को बनायेंगे, वह सब इसके अन्तर्गत आ जाता है.

इस परिभाषा के अनुसार धर्म का समावेश भी नीति में हो जाता है. आज हमारे व्यवहार जगत् में धर्म नीति से पृथक् हो गया है. कुछ लोगों

ने धर्म पर ज़ोर दिया है और कुछ लोगों ने नीति पर. डेकार्त,लाक एवं पैलो इत्यादि विद्वानों का मत है कि धर्म नीति का मूल है, नीति का उत्थान धर्म से होता है. ईश्वरीय नियम ही नैतिक मानदंड है. ईश्वर अपनी इच्छा से नीति की सृष्टि करता है. कांट एवं मार्टिनो ने नीति को धर्म का पूर्वगामी माना है. जहां नीति धर्म से पहले है, वहीं नींव है. नीति को ही प्राथमिकता दी गई है. इसका यह मतलब नहीं कि धर्म रहे या न रहे नीति ही पर्याप्त है, नीति का पालन करने से धर्म आ ही जाता है. लेकिन केवल नीति के पालन से धर्म आने को बात मान लेने पर नीति और धर्म को अखण्डता सिद्ध नहीं होती. नीति के विषय में गांधी जी का विचार है कि " कर्तव्यपालन और नीतिपालन एक ही चीज़ है। नीतिपालन का अर्थ है अपने मन और अपनी इन्द्रियों को वश में रखना।[60]" यहां कर्तव्यपालन का अर्थ धर्मपालन से है. कर्तव्यपालन और नीतिपालन एक ही चीज है-- इसलिए धर्मपालन और नीतिपालन एक ही है. दोनों में भेद नहीं है और न नीति धर्म का पूर्वगामी है और न धर्म नीति का पूर्वगामी है. बल्कि दोनों एक-दूसरे पर आश्रित हैं. धर्म नैतिकता का आदर्श आधार है, और नैतिकता धर्म का हमारे सामाजिक सम्बन्धों में बाह्य प्रकाशन है. नीति व्यक्ति और समाज के सम्बन्ध पर ज़ोर देती है, धर्म व्यक्ति और ईश्वर के सम्बन्ध पर. हमारे मन में नीति और धर्म के मूल भिन्न-भिन्न हैं. वे हमारे अनुभव में साथ-साथ विकसित होते हैं और एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं. नीति धर्म पर प्रतिक्रिया करती है और उसे परिष्कृत करती है. धर्म नीति पर प्रतिक्रिया करता है, उसे प्रेरणा देता है और उसका उत्थान करता है. धर्म और नैतिकता के सम्बन्ध के बारे में प्रो० हौफडिंग ने धर्म का आधार नैतिक मूल्यों को माना है.[61] यहां गांधी जी का नैतिक धर्म तथा हेफडिंग का यह कथन कि धर्म मूल्यों में आस्था का नाम है, अद्भुत समता रखता है. गांधी तथा हेफडिंग दोनों धर्म का सार जीवन के मूल्यों को मानते हैं. नैतिक मूल्यों के अभाव में धर्म की कल्पना करना भी कठिन है. नैतिक मूल्यों को धार्मिक मूल्य कहना अप्रमाणसंगत नहीं होगा. नैतिकता धर्म का आवश्यक अंग है. धर्म का मूल्यांकन भी नैतिक दृष्टिकोण से किया जाता है, अतः धर्म और नैतिकता एक-दूसरे को प्रभावित करते हैं.

धर्म और नीति का विकास मनुष्य के जीवन में साथ-साथ

हुआ है, बहुत से विचारवान नैतिक व्यवहार को प्रत्येक धर्म का केन्द्रीय अंग समझते हैं, मानो वह धर्म का हृदय और उसकी आत्मा है, मनुष्यों और अन्य प्राणियों से अच्छा व्यवहार करना धर्म का आदि अंत है, ईश्वर के भक्त, ईश्वर की सन्तान और प्रजा के सेवक और हितैषी होते हैं, गांधी जी ने ऐसा मान्यता के अनुसार नीतिधर्म रूपी एक निबन्ध लिखा था, जिसमें नैतिक जीवन और व्यवहार को ही धर्म का सार सिद्ध करने का प्रयास किया है, नीति और धर्म साथ-साथ चलते हैं, ये एक-दूसरे के पूरक हैं अथवा एक ही हैं, गांधी जी ने तो धर्म और नैतिकता का इतना घनिष्ठ सम्बन्ध बताया है कि वे इस हद तक कहने को तैयार हैं," मैं किसी भी धार्मिक सिद्धांत को अस्वीकार कर देता हूं, जो बुद्धि को मान्य नहीं और नैतिकता के विरुद्ध हो । मैं अबौद्धिक धार्मिक मत को मान लेता हूं जब कि यह अनैतिक नहीं रहता."[६२] गांधी जी बुद्धि का विरोध कर सकते हैं, पर नैतिकता का नहीं, और जो धर्म नीति के विरुद्ध है उसे वे धर्म मानने के लिए तैयार नहीं, तभी तो उन्होंने कहा है कि " नैतिकता से बढ़कर कोई धर्म नाम की चीज़ नहीं।"[६३] गांधी जी प्रत्येक उस धार्मिक सिद्धान्त का त्याग करते हैं,जिसे बुद्धि स्वीकार नहीं करती और जो नैतिक भावना के विरुद्ध हो, गांधी जी के अनुसार जब हम नैतिक आधार छोड़ देते हैं, हम लोग धार्मिक नहीं रह जाते, क्योंकि नैतिकता से अलग धर्म नाम की कोई चीज़ नहीं है, उदाहरणार्थ यह नहीं हो सकता कि कोई मनुष्य झूठा हो, क्रूर हो, असंयमी हो और साथ ही यह दावा करे कि ईश्वर उसके साथ है, इस प्रकार गांधी जी के अनुसार धर्म की आधारशिला नैतिकता है,

(८) धार्मिक अनुभूति

धार्मिक तथा आध्यात्मिक अनुभूति मूलत: एक रहस्यपूर्ण परिणति,लक्ष्य अथवा उपस्थिति(सत्ता) की प्रतीति है,जो जीवन के समस्त मूल्यों का आधार समझी जाती है, जिसे हम धार्मिक जीवन कहते हैं, यह वह लक्ष्य है जो उक्त लक्ष्य तथा सत्ता की सापेक्षता में जिया जाता है, यह परिभाषा धार्मिक आध्यात्मिक चेतना तथा जीवन के विषय के सम्बन्ध में मुख्यत: दो बातें कहती हैं-- प्रथमत: उस विषय के स्वरूप का हमें धुंधला आभास ही रहता है, दूसरे यह समझा

जाता है कि वह विषय उन सब मूल्यों का आधार है, जिनका अन्वेषण मनुष्य करता है. धार्मिक चेतना के इस विषय की कभी एक ईश्वर के रूप में कल्पना की जाती है और कभी अनेक देवी-देवताओं के समूह के रूप में.

ईश्वर तथा पूर्वोक्त की विभिन्न कल्पनाओं, और मानव जीवन के लक्ष्य-सम्बन्धी विभिन्न धारणाओं में जहां अनेक समानतायें पाई जाती हैं, वहां अनेक भेद भी दिखाई देते हैं. इन धारणाओं तथा कल्पनाओं पर विभिन्न संस्कृतियों की छाप रहती है. उदाहरण के लिए मुसलमानों के ईश्वर तथा वैष्णवों के ईश्वर में बहुत अन्तर है. इसी प्रकार बौद्धों के निर्वाण तथा मुसलमानों और ईसाइयों के स्वर्ग में कोई समानता नहीं है. विभिन्न धारणायें यह सिद्ध करती हैं कि विभिन्न जातियों की धार्मिक अथवा आध्यात्मिक अनुभूति भी अलग-अलग होती है.

धार्मिक अनुभूति का विषयमूल तत्व रहस्यमय है. इस रहस्यमयता को किस प्रकार समझा जाये और उसका सामान्य जीवानुभूति से कैसे संबंध स्थापित किया जाये. कुछ रहस्यवादियों ने कहा है कि धार्मिक अनुभूति एक निराली अनुभूति होती है जिसका मनुष्य की साधारण संवेदनाओं से कोई संबंध नहीं होता. रहस्यवादियों के इस दावे को स्वीकार करने का अर्थ यह होगा कि आध्यात्मिक अनुभूति एक अतिमानवीय अनुभूति है, जिसका सामान्य व्यक्तियों के जीवन और अनुभव से कोई लगाव नहीं है. यदि यह मान लिया जाय कि तथाकथित रहस्यवादी सन्तों की अनुभूति एकदम निराली होती है तो यह स्वीकार करना पड़ेगा कि वे लोग सामान्य मनुष्यों से उच्च कोटि के प्राणी होते हैं. गांधी जी के अनुसार धार्मिक अनुभूति अन्तर-आत्मा की आवाज या आत्मा की वाणी है. गांधी जी के अनुसार जब मनुष्य अन्तर-वाणी की बात करता है तो वैज्ञानिक उसे आटोसजेशन्स कहते हैं. वैज्ञानिकों का आटोसजेशन्स की बात करना दमित इच्छाओं की अभिव्यक्ति की बात सोचना है, परन्तु गांधी जी जब अन्तर-वाणी को धार्मिक अनुभूति बताते हैं तो वे उसका अर्थ उदात्त भावना की अभिव्यक्ति (एक्सप्रेशन आफ़ सब्लाइम फीलिंग) से लेते हैं.

गांधी जी का कहना है कि जीवन में बहुत सारे अवसरों पर

उन्होंने अन्तरात्मा की आवाज़ के आधार पर कार्य किया है, गांधी जी ने अन्तर-आत्मा को छठी बुद्धि के नाम से पुकारा है, इस छठी बुद्धि को जाग्रत कर हम अन्त: से उठी आवाज को सुन सकते हैं, धार्मिक अनुभूति प्रत्यक्ष ज्ञान है, कुछ दार्शनिक इस अन्तर-अनुभूति को बुद्धि से निम्न कोटि का मानते हैं तथा इसे मूल प्रकृति का ज्ञान कहते हैं, परन्तु गांधी जी का धार्मिक अनुभूति मूलप्रवृत्ति के स्तर की न होकर, बुद्धि से ऊपर उठकर अन्तर अनुभूति के स्तर की होती है, राधाकृष्णन् ने प्रत्यक्ष ज्ञान के दो स्तर माने हैं-- एक है, बुद्धि से नीचे का स्तर तथा दूसरा है, बुद्धि से ऊपर का स्तर,

अन्तर अनुभूति बुद्धि के सारतत्व को अपने में सन्निहित कर व लेता है तथा वह बुद्धि से परे होता है, अंतर-अनुभूति किसी भी चीज़ को उसकी समग्रता में समझती है, अन्तर अनुभूति और बुद्धि में कहीं कोई खाई नहीं पैदा होता, बुद्धि से अन्तर अनुभूति की ओर जाने में हम अबौद्धिकता की ओर नहीं जाते बल्कि हम बौद्धिकता की परिपक्वता तक पहुंचते हैं, इस अवस्था में हम सत्य को ठीक ढंग से समझते हैं, उपनिषद् के मनीषियों ने धार्मिक अनुभूति को बुद्धि से परे उद्यात भावना माना है, उन लोगों ने बुद्धि का सीमित कार्य माना है, तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार सत्य वह है जहां वाणी और बुद्धि दोनों की पहुंच नहीं हो सकती, केन उपनिषद् में भी ऐसा कहा गया है कि दृष्टि, वाणी और बुद्धि सत्य को नहीं समझ सकते, बुद्धि हमें सीमित ज्ञान प्रदान करती है, उपनिषद् में परा और अपरा विद्या की चर्चा की गई है, अपरा विद्या को अन्त: अनुभूति या आध्यात्मिक ज्ञान का नामकरण दिया जा सकता है, मनुष्य ईश्वर के साथ तादात्म्य बुद्धि या अपरा विद्या के द्वारा स्थापित नहीं कर सकता, उसके लिए परा विद्या या आध्यात्मिक ज्ञान की आवश्यकता पड़ती है, धार्मिक अनुभूति को बौद्ध धर्म में प्रज्ञा के नाम से जाना जाता है, बौद्ध दार्शनिकों ने बुद्धि और प्रज्ञा में भेद किया है, माध्यमिक बौद्ध दर्शन दो प्रकार की शक्ति को संवृति सत्य और परमार्थ सत्य के नाम से जानता है, संवृति सत्य का ज्ञान बुद्धि के द्वारा संभव है, जब कि परमार्थ सत्यप्रज्ञा या आध्यात्मिक ज्ञान के द्वारा संभव है, बुद्धि उस जगत्

का ज्ञान प्रदान करती है जो दिक् और काल से आबद्ध है, प्रज्ञा हमें ऐसा ज्ञान प्रदान करता है जो दिक् और काल से परे सत्य है, धार्मिक अनुभूति मनुष्यको ईश्वर की गहराई समझने में समर्थ बनाती है, बुद्धि ईश्वर की ओर इंगित कर सकती है, परन्तु धार्मिक अनुभूति ईश्वर को सर्वांगीण रूपों में समझ सकती है. महात्मा बुद्ध बुद्धि के विरोधों के प्रति जागरूक थे और उन्होंने इस कारण से तत्वशास्त्री चिन्तन पर अपना अभिमत प्रकट करने से इन्कार कर दिया.

अद्वैतवेदान्त ने भी दो प्रकार के सत्य को माना है-- व्यावहारिक सत्य और पारमार्थिक सत्य, बुद्धि व्यावहारिक सत्य तक ही सीमित रहती है, पारमार्थिक सत्य का ज्ञान हमें आध्यात्मिक अनुभूति या अन्तर-अनुभूति के द्वारा ही हो सकता है, अन्तर-अनुभूति हमें ईश्वर के साथ तादात्म्य कराती है, शंकराचार्य ने इस अन्तर-अनुभूति या आध्यात्मिक ज्ञान को अपरोक्षानुभूति का नाम दिया है, हिन्दू धर्म वेत्ताओं की ऐसी मान्यता है कि हम बुद्धि से उच्च शक्ति से युक्त हैं जो हमें लौकिक ज्ञान से ऊपर ईश्वरीय ज्ञान देता है, धार्मिक अनुभूति विषयी और विषय के द्वैत से परे उठती है, बुद्धि विषयी और विषय के द्वैत से परे नहीं जा सकती । किन्तु बुद्धि का धार्मिक अनुभूति में अपना एक विशेष महत्व है, धार्मिक अनुभूति बुद्धि से परे अवश्य है, पर अलौकिक नहीं है, धार्मिक अनुभूति बुद्धि की सीमितता को लांघकर सर्वांगीण सत्य का ज्ञान देता है, बर्गसाँ का भी यह मत है कि बुद्धि सत्य को नहीं जान सकता, उन्होंने अपनी पुस्तक दि टू सोर्सेज ऑफ मॉरेलिटी एण्ड रिलीजन में यह दर्शाने का प्रयत्न किया कि धार्मिक अनुभूति अन्त: अनुभूति है. महात्मा गांधी बर्गसाँ से सहमत हैं कि अन्त: अनुभूति हमें सर्वांगीण ज्ञान प्रदान करता है, महात्मा गांधी और बर्गसाँ की धार्मिक अनुभूति में इतना ही अन्तर है कि बर्गसाँ जीवन-शक्ति को अन्त: अनुभूति या अन्तःप्रेरणा का स्रोत मानते हैं, बर्गसाँ की अन्त: अनुभूति जैविक स्तर पर क्रियाशील है वहाँ महात्मा गांधी की अन्त: अनुभूति आध्यात्मिक स्तर की चीज है, जहाँ तक साम्यता की बात है, दोनों इस बात को मानते हैं कि धार्मिक अनुभूति के द्वारा प्रत्यक्ष ज्ञान की

प्राप्ति होता है, कोसी जीवन-शक्ति पर अधिक बल देते हैं, महात्मा गांधी आत्मा पर बल देते हैं, धार्मिक अनुभूति अन्तरात्मा का आवाज होने के अतिरिक्त एक मानवीय ज्ञान का क्षेत्र। में आता है, उसका अपनी मान्यताएं हो जाती हैं, उसकी मान्यताएं उसके उज्ज्वल पक्ष को प्रभावित नहीं करतीं.

धार्मिक अनुभूति की आलोचना की जाती है कि यह व्यक्तिगत एवं विषयीगत होती है, इसमें सर्वमान्यता का सर्वथा अभाव पाया जाता है, इसे वाणी के द्वारा समझाया नहीं जा सकता, महात्मा गांधी का ऐसा मत है कि धार्मिक अनुभूति वाणी के परे है, यह अभिव्यक्ति से ऊपर की चीज है, इसकी परिभाषा नहीं दी जा सकती, इसकी मात्र अनुभूति की जा सकती है, इसकी व्याख्या करने का अर्थ है, इसकी शुद्धता का विनाश करना, यह भी कहा जाता है कि धार्मिक अनुभूति अपरीक्षणीय है, लॉजिकल पॉजिटिविज्म यह मानता है कि वही सत्य है जिसकी इन्द्रियों के द्वारा परीक्षा की जा सकती है, यहाँ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक होता है कि अपरीक्षणीय और अनिर्वचनीय का अर्थ यह है कि धार्मिक अनुभूति इन्द्रियों तथा बुद्धि के द्वारा परीक्षणीय और वचनीय नहीं है, धार्मिक पुरुषों ने इसे स्वत: सिद्ध, स्वसंवेद्य और स्वयं प्रकाश माना है, कुछ लोग यह आपत्ति उठाते हैं कि धार्मिक अनुभूति के लिए कौन से प्रमाण दिये जा सकते हैं, महात्मा गांधी कहते हैं कि धार्मिक अनुभूति के लिए प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, क्योंकि यह अन्तरात्मा की आवाज है, महात्मा गांधी कहते हैं कि इस आवाज को जो चाहे सुन सकता है, वह हर एक के अन्दर है.

-o-

सन्दर्भ

(१) छांदोग्य उपनिषद् १-२-२३, त्रयी धर्मस्कन्धा:

(२) तैत्तिरीय उपनिषद् १-११ धर्म चर ।

(३) ऋग्वेद १-२२-१८

(४) शांतिपर्व १०६।२४

"धारणाद्धर्ममित्याहु धर्मेण विधृता: प्रजा
य: स्याद्धारण संयुक्त: स धर्म इतिनिश्चत:"

(५) मनुस्मृति १-१२

"धृति: क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिंद्रियनिग्रह:
धीर्विद्या सत्यमक्रोध: दशकं धर्म लक्षणम्"

(६) वैशेषिक सूत्र, यतोऽभ्युदयनिःश्रेयससिद्धि: स: धर्म: ।

(७) एडवर्ड, डी०एम० फिलासफी ऑफ रिलीजन, पृ० ५८

(८) It is not with a vague fear of unknown powers, but with a loving reverence for unknown Gods who are knit to their worshippers by strong bonds of kinship, that religion in the only true sense of the word begins.
स्मिथ, डब्लू०आर० दि फिलासफी ऑफ सिमिटीज, पृ० ५५

(९) फ्लिन्ट : थीइज्म, पृ० २

(१०) वही, पृ० २

(११) Religion is man's faith in a power beyond himself whereby he seeks to satisfy emotional needs and gain stability of life and which he expresses in acts of worship and service.

गैलवे : फिलासफी ऑफ़ रिलीजन, पृ०१८४

(१२) Religion is man's belief in a being or beings mighter than himself and inaccessible to his senses but not indifferent to his sentiments and actions, with the feelings and practices which flow from such belief.

फ्लिन्ट, आर० : थीइज़्म, पृ०३२

(१३) गांधी जी : इन सर्च ऑव दि सुप्रीम, भाग २, पृ०३११

(१४) गांधी, एम०के० : माई रिलीजन, पृ०३-४

(१५) यंग इंडिया, २२-१-३०, पृ०२५

(१६) "The inspiration of Gandhi's life has been what is commonly called religion."

राधाकृष्णन् : ग्रेट इण्डियन्स, पृ०५२

(१७) रे, प्रो० बिनय गोपाल : कन्टेम्परी इंडियन फिलॉसफर्स, पृ०८२

(१८) गांधी जी : मेरा धर्म (संपादक का निवेदन),पृ०३

(१९) प्रभु०आर०के०,यू०आर० राव (संग्राहक) दि माइण्ड ऑव महात्मागांधी,पृ०३१

(२०) गांधी जी : मेरा धर्म, पृ०३

(२१) वहीं, पृ० ३

(२२) (एडीटेड बाय) सेन, एन०बी० : विट एंड विज़्डम ऑव महात्मा गांधी,पृ०१६२

(२३) वही, पृ० १६३

(२४) Religion is not really what is grasped by the brains.

वही, पृ० १६३

(२५) राधाकृष्णन् : गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० १८

(२६) प्रभु, आर०के०, यू०आर० राव (संग्राहक) : दि माइण्ड ऑव महात्मा गांधी, पृ० ११

(२७) गांधी : माइ रिलीजन, पृ० ४

(२८) "Gandhi's conception of religion had nothing to do with any dogma or custom or ritual."
(एडाटेड बाय) सेन, एन०बी० : विट एंड विज़डम ऑव महात्मा गांधी, पृ० १४

(२९) The term 'religion' I am using in its broadest sense, meaning thereby self-realization or knowledge of self.

गांधी : दि स्टोरी ऑव माइ एक्सपेरिमेण्ट्स विद ट्रथ, पृ० २३

(३०) Religion means knowledge of one's self and knowledge of God.
सेन, एन०बी० : विट एंड विज़डम ऑव महात्मा गांधी, पृ० ३२

(३१) गांधी जी : मेरा धर्म, पृ० ५

(३२) वही, पृ० ३

(३३) सेन, एन०बी० : विट एंड विज़डम ऑव महात्मा गांधी, पृ० १६४

(३४) you must watch my life, how I live, eat, sit, talk, behave in general. The sum total of all those in me is my religion.
(एडीटेड बाय) बोस, एन०के० : सेलेक्शन्स फ्राम गांधी, पृ० २५४

(३५) राधाकृष्णन् (संपादक) : गांधी श्रद्धांजलि ग्रन्थ, पृ० ४०

(३६) रामनाथ `सुमन` : गांधीवाद की रूपरेखा, पृ० ३६-३७

(३७) राधाकृष्णन् (संपादक) : गांधी - श्रद्धांजलि ग्रन्थ, पृ० ४०

(३८) प्रार्थना-प्रवचन, भाग २, पृ० २६८

(३९) यंग इंडिया १२-५-२०, पृ० २

(४०) यंग इंडिया २९-५-२४, पृ० १८०

(४१) हिन्द स्वराज्य, १९४६, पृ० ३६

(४२) डा० राधाकृष्णन् : रिकवरी ऑव फेथ, पृ० १८८

(४३) The different religions are like partner in a quest for the same object.

डा० राधाकृष्णन् : ईस्ट एण्ड वेस्ट इन रिलीजन्स, पृ० २६

(४४) हरिजन, १६-२-३४, पृ० ६

(४५) हरिजन, ६-३-३०, पृ० २५-२६

(४६) गांधी जी : मेरा धर्म, पृ० ४

(४७) हरिजन ५-१२-३६, पृ० ३३९, ३४५

मेरा धर्म पृ० २५

(४८) हरिजन ५-१२-३६, पृ०३३६-३४५

(४९) यंग इंडिया २२-११-२७, पृ०४२५

(५०) राधाकृष्णन् : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ०११६

(५१) वही, पृ०११६

(५२) मशरुवाला, कि०घ० : गीता मंथन, पृ०५१

(५३) वही, पृ०६०

(५४) वही, पृ०६३

(५५) तैत्तिरीय, २:४

यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह

(५६) केन, १:३, मुंडक, १:१, देखिए कठ, १: ३, १० ।

(५७) बृहदारण्यक, ३:६, १ ।

(५८) हरिजन, १३-६-३६, पृ० १४१

(५९) हरिजन - बन्धु । १८-४-३७

(६०) अखिल पत्रिका, १५ अगस्त ५१, पृ०११८

(६१) गांधी जी की कहानी, पृ०१८६

(६२) गांधी : आत्मसंयम--ब्रह्मचर्य, भाग १, पृ०७०२

(६३) छांदोग्य, ६:१३

बृहदारण्यक, २: ४, ५

(६४) गांधी जी : दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, पृ०१२१

(६५) गांधी जी : गीता माता, पृ० ५७०

(६६) हिन्दी नवजीवन, २६-८-२६

(६७) हरिजन ६-३-३७

(६८) गांधी जी : बापू के पत्र मीरा के नाम, १५-१२-३२, पृ० २३७

(६९) वही, २२-१२-३२, पृ० २४०

(७०) गांधी जी : गीतामाता, पृ० ५६९

(७१) रामचरितमानस, उत्तरकाण्ड, १२७।२।

(७२) गांधी जी : आत्मकथा, पृ० ५१५

(७३) गांधीजी : गीतामाता, पृ० ५६८

(७४) यंग इंडिया, भाग २, पृ० ९३४

(७५) हरिजन , ६-३-३७, पृ० २६

(७६) यंग इंडिया, २४-९-२५

(७७) हरिजन ४-८-४६, पृ० २७६

(७८) गांधी जी : डायरी, भाग १ में उद्धृत गांधी जी का पत्र, पृ० १३५

(७९) हरिजन ६-३-३७, पृ० २६

(८०) यंग इंडिया, भाग २, पृ० ८७०

(८१) यंग इंडिया, भाग ३, पृ० ८७१

(८२) हरिजन, ११-३-३६, पृ० ४६

(८३) वही १४-५-३८, पृ० ११०

(८४) गुजराती से इंडियन ओपिनियन ५-१-१९०७, पृ० २८१

(८५) धर्मनीति, पृ० ३९-४०

(८६) दक्षिण अफ्रीका का इतिहास, प्र०सं०, पृ०९

(८७) सेंट फ्रांसिस जेवियर(१५०६-१५५२), स्पेन के एक संत जिन्होंने भारत में और पूर्वी द्वीपसमूह में ईसाईधर्म का बहुत प्रचार किया था.

(८८) गुजराती से- इंडियन ओपीनियन, ९-२-१९०७, पृ० ३३७

(८९) वही, पृ०३३७

(९०) गांधी जी : हिन्द स्वराज्य

(९१) सिन्हा, हरेन्द्रप्रसाद : धर्म-दर्शन की रूपरेखा, पृ० २७५

(९२) यंग इंडिया, २१-७-२०

(९३) वही, २८-११-२१

चतुर्थ अध्याय

-0-

ईश्वर का स्वरूप

-0-

चतुर्थ अध्याय

-०-

ईश्वर का स्वरूप

(१) ईश्वर का स्वरूप

ईश्वर विश्व का उत्पादन करता है, पालन करता है, तथा संहार करता है. ईश्वर के विषय में विचार करना ही धार्मिक भावनायें हैं.धर्म का वर्गीकरण विभिन्न प्रकार से किया गया है. दार्शनिक दृष्टिकोण से धर्म को निम्नलिखित वर्गों में रखा गया है --

१- अनीश्वरवाद (एथीइज्म)

२- सर्वेश्वरवाद (पेनथीइज्म)

३- द्वैतवाद (ड्वेलिज्म)

४- अनेकेश्वरवाद (पोलिथीइज्म)

५- एकेश्वरवाद (मोनोथाइज्म)

साधारण भाषा में इन सिद्धान्तों को धर्म कहना अनुपयुक्त है. व्यावहारिक जीवन में धर्म का अर्थ ईश्वरवाद से होता है. इसलिए इन्हें धर्म न कहकर धर्म के सिद्धान्त कहना उपयुक्त होगा. इन सिद्धान्तों में ईश्वर को तरह-तरह से माना गया है.

अनीश्वरवाद में ईश्वर की सत्ता का खण्डन किया गया है. सर्वेश्वरवाद धार्मिक सिद्धान्त का वह रूप है,जिसके अनुसार ईश्वर ही एकमात्र परमार्थ सत्ता है. इसके अतिरिक्त किसी भी सत्ता को परमार्थ नहीं कहा जा सकता. यह ईश्वर स्वतन्त्र है, यह अनन्त,अनादि है. यह सर्वव्यापक है. संक्षेप में हम कह सकते हैं कि ईश्वर ही सब है और सब कुछ ईश्वर है. द्वैतवाद के अनुसार

विश्व का मूल तत्व एक ही प्रकार का नहीं, बल्कि उसकी प्रकृति में द्वैत है.

जिस धर्म में अनेक ईश्वरों अथवा देवताओं का साम्य माना जाये, उस धर्म को अनेकेश्वरवाद कहा जाता है. प्रो० फ्लिण्ट के अनुसार अनेकेश्वरवाद वह विश्वास है, जो एक की अपेक्षा अनेक ईश्वर में किया जाता है. इस धर्म के अनुसार ईश्वर पूर्ण जीवन व्यतीत करते हैं. आनन्द ही इनके जीवन की प्रधानता है. वे अमर हैं, वे संताप और शोक से मुक्त हैं. इनके जीवन में दुःख का साधारणतः अभाव है. एकेश्वरवाद -- यह एक ईश्वर की सत्ता में विश्वास करता है. ईश्वर सर्वशक्तिमान्, सर्वज्ञ, सर्वव्यापक, करुणा आदि विशेषणों से विभूषित है. ईश्वरवाद के अनुसार ईश्वर विश्व का निमित्त और उपादान कारण दोनों है. ईश्वर विश्व का उपादान कारण इसलिए है कि वह विश्व को अपने अन्दर में से उत्पन्न करता है, और निमित्त कारण इसलिए है कि वह अपनी प्रवीणता से विश्व का निर्माण करता है.

पश्चिमी दर्शन में ईश्वरवाद के प्रचुर उदाहरण मिलते हैं. ईश्वरवाद के समर्थकों में डेकार्ट, बर्कले, प्रिंगल- पैटीसन, डब्ल्यू० आर० सौरले, जेम्सवार्ड, फ्लिण्ट का नाम विशेष उल्लेखनीय है. डेकार्ट के अनुसार ईश्वर स्वतन्त्र, असीम तथा निरपेक्ष है. ईश्वर शाश्वत, सर्वज्ञ, सर्वव्यापी है. वह विश्व की सभी वस्तुओं का स्रष्टा है. बर्कले ईश्वर को असीम तथा परम तत्व

मानता है. वह हमारे ससीम आत्माओं तथा अनुभवजगत् का मूल आधार है. यही कारण है कि ससीम आत्माओं के अभाव में भी विश्व का अस्तित्व कायम रहता है. प्रिंगल-पैटोसन के अनुसार ईश्वर विश्व का स्रष्टा है और विश्व का सम्बन्ध ऐसा है कि दोनों एक-दूसरे के अपेक्षित है. जेम्सवार्ड के अनुसार ईश्वर विश्व का स्रष्टा तथा पालनकर्ता दोनों है. ईश्वर अन्तर्यामी है. इस्लाम धर्म का केन्द्र-बिन्दु ईश्वर-विचार है, क्योंकि इस्लाम का अर्थ ही होता है, ईश्वर के प्रति आत्म-समर्पण. कुरान में ईश्वर को सर्वदा जीवित और सभी जीवन का आधार कहा गया है. ईश्वर जीवन का प्रतीक है. ईश्वर सर्वज्ञानी है. वह सभी विषयों की जानकारी रखता है. उससे कुछ भी छिपा नहीं रहता. ईश्वर सर्वशक्तिमान् अर्थात् अनन्त शक्ति वाला है. उसका सर्वशक्तिमान होना इस बात का प्रमाण है कि उसने बिना उपादान कारण के ही जगत् का निर्माण किया है. ईश्वर सब कठिनाइयों से अछूता है. ईश्वर किसी प्रकार सीमित नहीं है, उसकी शक्ति असीम है. ईसाई धर्म में ईश्वर को परमसत्ता के रूप में प्रतिष्ठित किया गया है. ईश्वर सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है. नैतिक दृष्टिकोण से वह पूर्ण है. अनन्त दृष्टि, अनन्त-ज्ञान, करुणा आदि

देवदूतों से वह युक्त समझा जाता है. वह स्वर्ग और पृथ्वी का स्वामी है. वह न्यायी, परोपकारी तथा पवित्र है. ईसाई धर्म में ईश्वर को 'प्रेममय' माना गया है.

भारतीय दर्शन में भी ईश्वरवाद के अनेक उदाहरण मिलते हैं. वेद और उपनिषदों में ईश्वरवादी विचारों की झलक मिलती है.

न्याय-दर्शन ईश्वरवादी दर्शन है. न्याय सूत्र, जिसके रचयिता गौतम हैं, में ईश्वर का उल्लेख मिलता है. कणाद ने ईश्वर के सम्बन्ध में स्पष्ट रूप से कुछ नहीं कहा है. बाद के वैशेषिक ने ईश्वर के स्वरूप की पूर्ण चर्चा की है. इस प्रकार न्याय वैशेषिक दोनों में ईश्वर की प्रामाणिकता मिलती है, दोनों में अन्तर केवल मात्रा को लेकर है. न्याय ईश्वर पर अत्यधिक ज़ोर देता है, जब कि वैशेषिक में उतना ज़ोर नहीं दिया गया है. यही कारण है कि न्याय का ईश्वर सम्बन्धी विचार भारतीय दर्शन में महत्वपूर्ण स्थान रखता है. न्याय ने ईश्वर को आत्मा कहा है. ईश्वर मानव का कर्मफलदाता है. हमारे सभी कर्मों का निर्णायक ईश्वर है. जीवात्मा को शुभ अथवा अशुभ कर्मों के अनुसार ईश्वर सुख अथवा दुःख प्रदान करता है. ईश्वर दयालु है. न्याय ईश्वर को अनन्त मानता है. ईश्वर में आधिपत्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान एवं वैराग्य ये गुण हैं. योगदर्शन -- योगदर्शन का मुख्य उद्देश्य चित्तवृत्तियों का निरोध है, जिसकी प्राप्ति ईश्वरप्राणिधान से ही संभव माना गया है. ईश्वर प्राणिधान का अर्थ है-- ईश्वर की भक्ति. योग दर्शन के प्रणेता पातंजलि ने ईश्वर को एक विशेष प्रकार का पुरुष कहा है जो दुःख, कर्म से अछूता रहता है. ईश्वर स्वभावतः पूर्ण है और अनन्त है. उसकी शक्ति सीमित नहीं है. ईश्वर नित्य है. वह अनादि और अनन्त है. वह सर्वव्यापी, सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् है. वह त्रिगुणातीत है. योगदर्शन में ईश्वर को दयालु, अन्तर्यामी, वेदों का प्रणेता, धर्म, ज्ञान और ऐश्वर्य का स्वामी माना गया है.

शंकर ने सगुण ब्रह्म को ईश्वर कहा है. निर्गुण ब्रह्म ब्रह्म कहलाता है. शंकर ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानते हैं. ब्रह्म स्वयं ज्ञान है. वह प्रकाश की तरह ज्योतिर्मय है. इसलिए ब्रह्म को स्वयं प्रकाश कहा गया है. ब्रह्म अपरिवर्तनशील है. उसका न विकास होता है न रूपान्तर होता है. वह निरन्तर एक ही समान रहता है.

रामानुज का ब्रह्म सगुण है. उन्होंने ब्रह्म में शुद्धता, सुन्दरता, शुभ, धर्म, दया, इत्यादि गुणों को समाविष्ट माना है. वह पूर्ण है. अन्तर्यामी है. ब्रह्म उपासना का विषय है. वह भक्तों के प्रति दयावान रहता है. वह अनेक प्रकार के गुणों से युक्त है. उसमें ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, शक्ति तथा तेज आदि गुण हैं. गीता में ईश्वर को परम सत्य माना गया है. ईश्वर अनन्त और ज्ञान-स्वरूप है. वह ब्रह्म से भी ऊँचा है. वह शाश्वत है. ईश्वर कर्म फलदाता है. हिन्दू धर्म एक ईश्वर की सत्ता में विश्वासकरते हैं. ईश्वर भक्तों का उद्धार करता है तथा धार्मिक आत्माओं की रक्षा करता है. ईश्वर अन्तर्यामी है. वह भूत, भविष्य को समान रूप से जानता है. ईश्वर दयालु है, कर्मफलदाता है.

इस प्रकार हम देखते हैं कि सब धर्मों ने अपने-अपने अनुसार ईश्वर की व्याख्या की है.

महात्मागांधी के अनुसार ईश्वर एक ऐसी अनिर्वचनीय शक्ति है, जो सर्वत्र व्याप्त है. उसे अनुभव कर सकतेहैं लेकिन देख नहीं सकते. गांधी जी के अनुसार ईश्वर सत्य और प्रेम है, ईश्वर नीति और सदाचार है. ईश्वर अभय है, वह प्रकाश और जीवन का स्रोत है, फिर भी वह इन सबसे ऊपर और परे है. ईश्वर विवेक-शक्ति है, वह नास्तिक की नास्तिकता भी है, क्योंकि अपने निःसीम प्रेम के कारण वह नास्तिक को भी जीने देता है. ईश्वर हमारे हृदयों को खोजने और टटोलने वाला है. वह वाणी और बुद्धि से परे है. वह हमें और हमारे हृदयों को खुद हमसे भी अधिक जानता है. गांधी जी के अनुसार जिन्हें ईश्वर के साकार रूप की आवश्यकता है, उनके लिए वह साकार रूप है. जिन्हें उसके स्पर्श की आवश्यकता है, उनके लिए वह साकार है. वह शुद्धतम सारतत्व है. जिनमें श्रद्धा है उनके लिए वह सत-स्वरूप है. वह सब मनुष्यों के लिए प्रत्येक की भावना के अनुसार सब कुछ है. वह हमारे भीतर है, फिर भी हमसे ऊपर और परे है. ईश्वर के विषय में गांधीजी कहतेहैं -- "एक अवर्णनीय रहस्यमय शक्ति है, जो वस्तुमात्र में व्याप्त है। मैं इसे देखता नहीं, परन्तु इसे अनुभव करता हूं। यह अदृष्ट शक्ति अनुभव द्वारा ही गम्य है। प्रमाणों से इसकी

सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि मेरी इन्द्रियों से गम्य जो कुछ भी है उस सबसे यह शक्ति सर्वथा भिन्न है । इसकी सत्ता बाह्य साक्षी से नहीं, प्रत्युत उन व्यक्तियों के कायापलट से -- उनके जीवन व व्यवहार से --सिद्ध होती है, जिन्होंने अपने अन्तःकरण में ईश्वर का अनुभव कर लिया है । यह साक्षी पैगम्बरों और ऋषियों की अविच्छिन्न शृंखला के अनुभवों से, सब देशों और सब कालों में, निरन्तर मिलती रही है । इस साक्षी को अस्वीकार करना अपने आपको ही अस्वीकार करना है ।"[१] ईश्वर सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ है, ईश्वर कानून बनाने वाला है, कानून भी है और उसे कार्यान्वित करने वाला भी है, ईश्वर का वर्णन मनुष्य अपनी टूटी-फूटी भाषा में ही कर सकता है, जिस शक्ति को हम ईश्वर कहते हैं, वह वर्णनातीत है, गांधी जी कहते हैं--" यह युक्ति या तर्क का विषय कभी नहीं बन सकता । यदि आप मुझे औरों को युक्ति द्वारा विश्वास करा देने को कहें तो मुझे हार माननी पड़ेगी, परन्तु मैं आपसे इतना कह सकता हूं कि इस कमरे में अपने और आपके बैठे होने को मैं जितना निश्चित सत्य समझता हूं, उससे कहीं अधिक मुझे उसकी सत्ता का निश्चय है । मैं इस बात का भी सबूत दे सकता हूं कि बिना हवा पानी के चाहे मैं जी जाऊं, परन्तु बिना ईश्वर के जीना असम्भव है । आप मेरी आंखें निकाल लें, मैं मरूंगा नहीं । आप मेरी नाक काट लें, उससे मैं मरूंगा नहीं । परन्तु ईश्वर में मेरे विश्वास को उड़ा दें तो मैं मरा पड़ा हूं ।"[२]

गांधी जी कहते हैं-अगर ईश्वर के नाम पर वीभत्स दुराचार या अमानुषिक अत्याचार किए जाते हैं, तो इससे ईश्वर का अस्तित्व मिट नहीं सकता, वह बड़ा सहनशील है, वह धैर्यवान है, परन्तु भयंकर भी है, वह इस लोक में और परलोक में सबसे कठोर शक्ति है, पर साथ ही वह क्षमाशील भी है, क्योंकि वह हमें पाश्चात्ताप का हमेशा अवसर देता है, वह संसार का सबसे बड़ा लोकतंत्रवादी है, क्योंकि उसने हमें बुराई और अच्छाई के बीच अपना चुनाव खुद कर लेने की छूट दे रखी है, वह दुनिया का क्रूर से क्रूर स्वामी है, क्योंकि

यह कई बार हमारे मुंह तक आये हुए कौर को छीन लेता है, और इच्छा स्वातन्त्र्य की आड़ में हमें इतनी अपर्याप्त छूट देता है कि हमसे कुछ करते धरते नहीं बनता, और हमारी इस परेशानी से वह अपने लिए केवल विनोद की सामग्री ही जुटाता है. इसलिए हिन्दू धर्म इसे उसकी लीला या माया कहता है. हम मिथ्या हैं, एक वही सत्य है, और अगर हम चाहते हैं कि हमारा अस्तित्व रहे, तो हमें सदा उसके गुणगान करने होंगे और उसकी इच्छा पर चलना होगा. गांधी जी ईश्वर को स्रष्टा और अस्रष्टा दोनों ही मानते हैं. यह भी उनके सत्य की अनेकान्तता के सिद्धांत की स्वीकृति का परिणाम है. जैनों के मंच से वे ईश्वर के अस्रष्टा होने का समर्थन करते हैं और रामानुज के मंच से स्रष्टा होने का. गांधी जी के अनुसार हम सब अकल्पनीय की कल्पना करते हैं, अवर्णनीय का वर्णन करते हैं और अज्ञेय को जानना चाहते हैं. इसीलिए हमारी वाणी लड़खड़ाती है, अपूर्ण सिद्ध होती है और बहुधा परस्पर-विरोधी होती है. अगर हम हैं, हमारे माता-पिता हैं और उनके भी माता-पिता थे, तो यह मानना भी उचित है कि इस सारी सृष्टि का भी कोई स्रष्टा है. अगर वह नहीं है तो हमारा भी कोई ठौर-ठिकाना नहीं है. यही कारण है कि ईश्वर एक है. गांधी जी कहते हैं कि एक ही ईश्वर को परमात्मा, ईश्वर, शिव, विष्णु, राम, अल्लाह, खुदा, दादा अहुरमज्द, जिहोवा और गॉड आदि विविध और असंख्य नामों से पुकारते हैं. वह एक भी है और अनेक भी. वह परमाणु से भी छोटा है और हिमालय से भी बड़ा है. वह महासागर की एक बूंद में भी समा जाता है और फिर भी सातों समुद्र उसका पार नहीं पा सकते. बुद्धि उसे जानने में असमर्थ है. वह बुद्धि की पहुंच के बाहर है. ईश्वर का अस्तित्व मानने में श्रद्धा अत्यावश्यक है. गांधी जी के अनुसार हमारा तर्क असंख्य धारणायें बना और बिगाड़ सकता है. कोई चतुर नास्तिक हमें वाद-विवाद में हरा भी सकता है, परन्तु हमारी श्रद्धा की गति हमारी बुद्धि से इतनी तेज है कि हम सारे संसार को चुनौती देकर कह सकते हैं कि ईश्वर था, ईश्वर है और ईश्वर रहेगा. गांधी जी कहते हैं--" परमेश्वर

पूर्ण है और सर्वशक्तिमान है, फिर भी वह लोकतन्त्र का कितना बड़ा हिमायती है। हमारा कितना छल-कपट और कितना अन्याय वह सहता है। हमारे अन्दर और बाहर प्रत्येक अणु में वह व्याप्त, फिर भी उसके होते हुये हम तुच्छ प्राणी उसके अस्तित्व में शंका उठाते हैं और वह हमें ऐसा करने देता है -- इतनी उसकी सहन-शक्ति है। लेकिन जिसे वह देना चाहे उसे अपना दर्शन देने का अधिकार उसने अपने पास सुरक्षित रखा है। उसके हाथ-पांव या कोई दूसरी इन्द्रियां नहीं हैं, किन्तु जिसे वह अपना दर्शन देना चाहे वह मनुष्य उसे देख सकता है।[3]" गांधी जी के अनुसार ईश्वर न तो ऊपर स्वर्ग में है, न नीचे किसी पाताल में वह तो हर एक के हृदय में विराजमान है. गांधी जी मानव जाति की सेवा के द्वारा ईश्वर-दर्शन का प्रयत्न करते हैं. गांधी जी कहते हैं--" और मैं जानता हूं कि ईश्वर ऊंचे और शानदार लोगों को अपेक्षा उसके अल्प से अल्प प्राणियों में अधिक मिलता है, इसलिए मैं उन प्राणियों के स्तर पर पहुंचने का संघर्ष कर रहा हूं। उनकी सेवा किए बिना मुझे अपने प्रयत्न में सफलता नहीं मिल सकती। इसी कारण मुझे दबे हुए और दुखी हुए लोगों की सेवा की लगन लगी हुई है। और यह सेवा मैं राजनीति में प्रवेश किये बिना नहीं कर सकता, इसलिए मैं राजनीति में आ गया हूं।[4]"

गांधी जी एक ईश्वर में विश्वास करते हैं. उनके अनुसार ईश्वर एक है. उस एक ईश्वर तक पहुंचने के लिए सभी धर्म अलग-अलग मार्गों से जाते हैं. जिस तरह वृक्ष की एक ही जड़ होती है, किन्तु उसकी शाखायें, पत्तियां अनेक होती हैं। उसी तरह ईश्वर एक है, किन्तु मानव जब इस पर विचार करता है तो वही अनेक बन जाता है. गांधी जी का कहना है कि हर मनुष्य अपनी दृष्टि से सही है, किन्तु इसका यह अर्थ नहीं कि वह गलत हो ही नहीं सकता. सात अंधे मनुष्यों ने हाथी के बारे में सात भिन्न-भिन्न तरीकों से वर्णन किया. उनका वह वर्णन उनकी दृष्टि से सही रहा, किन्तु वही सही या गलत हो सकता है किसी ऐसे मनुष्य की दृष्टि से जिसने हाथी देखा हो. गांधी जी कहते हैं कि उन्हें सही और गलत जानने का यह सिद्धान्त बहुत पसन्द है. उनके अनुसार ईश्वर

सिद्धांत ने उन्हें ईसाई को ईसाई की दृष्टि से,मुसलमान को मुसलमान की दृष्टि से देखना सिखाया है. इस तरह डा० राधाकृष्णन् कहते हैं, --" ईश्वर के विषय में हमारी जो भी सम्मति हो, इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि गांधी जी के लिए वह बड़े महत्व का है और परम सत्य है। यह उनका ईश्वर-विश्वास ही है,जिसने उनको वह मनुष्य बना दिया है,जिसकी शक्ति,भावना और प्रीति का हम सब बार-बार अनुभव करते हैं[4]।"

(४) ईश्वर की सत्ता के प्रमाण

मानव जो धर्म में विश्वास करता है, प्राचीनकाल से ही ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करने का प्रयत्न करता रहा है. माध्यमिक काल में ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए चिन्तन का सहारा लिया गया है. आधुनिक दार्शनिकों ने भी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने के लिए अनेक प्रकार की युक्तियों का सहारा लिया है. गांधी जी की कृतियों में भी ईश्वर की सत्ता को सिद्ध करने वाली प्रायः वे सभी युक्तियां पाई जाती हैं,जिनको अधिकांश महान दार्शनिकों ने अपने -अपने समय में दिया. यहां कुछ युक्तियों की व्याख्या की जाती है --

तात्त्विक युक्ति (ऑन्टोलॉजिकल आरगुमेण्ट)

मध्ययुग में सर्वप्रथम एन्सेल्म ने इस युक्ति के आधार पर ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने का प्रयत्न किया. एन्सेल्म के अनुसार ईश्वर भावना सभी प्रत्ययों में सर्वोच्च है. ईश्वर का अस्तित्व विचार और वास्तविकता दोनों में है, इसलिए ईश्वर यथार्थ में परम सत्ता है.

आधुनिक युग में डेकार्ट, स्पिनोज़ा,लाइबनीज़ के नाम मुख्य हैं. डेकार्ट का कहना है कि जिस तरह त्रिभुज के ज्ञान में ही यह ज्ञान भी निहित है कि उसके तीनों कोणों का जोड़ दो समकोण के बराबर है,उसी तरह ईश्वर

की पूर्णता में यह भी निहित है कि उसका अपना अस्तित्व है. स्पिनोज़ा ने भी ईश्वर के अस्तित्व को प्रमाणित करने के लिए तात्विक युक्ति का सहारा लिया. स्पिनोज़ा के अनुसार ईश्वर का विचार एक अनन्त द्रव्य का विचार है जो स्पष्ट तथा परिस्पष्ट है. ईश्वर की सत्ता उसके पूर्ण और अनन्त विचार में ही सन्निहित है. लाइबनीज़ के अनुसार प्रत्येक मोनड में दो पक्ष हैं--(१) वास्तविक और सम्भावित तथा (२) सक्रियता और निष्क्रियता. जो मोनड जितने ही उच्चतर होंगे उनमें उतनी ही अधिक सक्रियता तथा वास्तविकता होगी. इसके विपरीत निम्नतर मोनड में निष्क्रियता होगी. ईश्वर सर्वोच्च मोनड है, इसलिए उसके अन्दर सभी निष्क्रियता और सम्भावना वास्तविक होगी. इसी प्रमाणित होता है कि ईश्वर पूर्ण तथा वास्तविक है. यदि ईश्वर सम्भव है तो उसकी सत्ता है, क्योंकि उसका अस्तित्व उसकी सम्भावना का अनिवार्य परिणाम है. ईश्वर सम्भव है, क्योंकि उसके विषय में संगत रूप से सोचा जा सकता है. चूंकि ईश्वर सम्भव है, इसलिए वह वास्तविक भी है.

गांधी जी ने कहा है -- सत्य ईश्वर है. "सत्य का अर्थ है सत्, उसका सत् जिसको हम नहीं जानते हैं। सकल सत्ता का महायोग निरपेक्ष सत्य है.... सत्य के विचार(प्रत्यय) विभिन्न हो सकते हैं। पर सभी सत्य को स्वीकार करते हैं, सत्य का आदर करते हैं। उसी सत्य को मैं ईश्वर कहता हूं[6]।" यहां स्पष्ट है कि गांधी जी सत्य को अप्रत्याख्येय सिद्ध कर रहे हैं। सभी प्रत्याख्यानों में जो सर्वगत विद्यमान सत्ता रहती है, वही सत्य है. सत्तामात्र का खण्डन असम्भव है, अतः सत्य का खण्डन भी असम्भव है. फिर सत्य ईश्वर है, इस कारण ईश्वर का भी खण्डन असम्भव है. डा० राजू ने इस प्रसंग में ठीक ही कहा है कि," कोई शंका नहीं करता कि संसार में सत्य है। जब कहा जाता है कि यही सत्य ईश्वर है,तो यह वाक्य सारगर्भित हो जाता है और यथार्थतः ईश्वर की सत्ता का प्रमाण हो जाता है। यह प्रमाण प्राचीन तात्त्विक युक्ति का नया रूप है[7]।"

विश्व सम्बन्धी युक्ति (कोस्मोलोजिकल आर्गुमेण्ट)

'कोसमोस' शब्द का अर्थ है संसार, यह युक्ति अत्यन्त प्राचीन है, इसका प्रयोग प्लेटो से लेकर आधुनिक युग के दार्शनिकों तक ने किया है, इस युक्ति के मुख्यत: दो रूप हैं-- प्रथम संसार आकस्मिक है, आकस्मिक उसे कहा जाता है जिसका स्वतन्त्र अस्तित्व न हो, विश्व क्षणिक है,क्योंकि यहां का हर वस्तु क्षणभंगुर है, ऐसे क्षणभंगुर विश्व की व्याख्या स्वयं नहीं की जा सकती, इसी कारण मानव ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है, लाइबनीज़ ने इस युक्ति का समर्थन किया है, उनके अनुसार विश्व की प्रत्येक वस्तु आकस्मिक है, समस्त आकस्मिक विश्व का पर्याप्त हेतु ईश्वर है, द्वितीय इस युक्ति का दूसरा रूप यह है कि संसार एक कार्य है, प्रत्येक कार्य का कोई-न-कोई कारण अवश्य होता है। यदि एक वस्तु का कारण दूसरी वस्तु, फिर दूसरी का तीसरी वस्तु माना जाय तो अनवस्थादोष आ जायगा, अर्थात् किसी भी वस्तु के कारण की खोज अनन्त तक जायेगी पर फिर भी उससे समाधान न होगा, अत: मानना पड़ेगा कि प्रत्येक वस्तु का कारण कोई ऐसी वस्तु है,जो स्वयं अकारण है,अत: ईश्वर है,

इस युक्ति के समर्थकों में डेकार्ट,प्रो० फिलण्ट का नाम उल्लेखनीय है, महात्मा गांधी ने भी इस युक्ति को माना है, गांधी जी कहते हैं-- "इस विश्व में जो कुछ भी छोटा या बड़ा, अंगणित अणुओं को भी लेकर वह ईश्वर से व्याप्त है। उसे सृष्टा या ईश कहा जाता है। ईश का मतलब शासक या प्रभु है। जो सृष्टा है, वह स्वभावत: अपने इस अधिकार से ईश या शासक भी है।" गांधी जी कहते हैं कि यदि जगत है, जगत की कोई वस्तु है, अणु है तो ईश्वर अवश्य है, क्योंकि वह उनका कारण या सृष्टा है, सृष्टा होने के कारण वह उसका स्वामी या ईश्वर है, गांधी जी ने ईश्वर को जगत का निमित्त कारण तथा उपादान कारण दोनों माना है, कुरान की अलफातिहा गांधी जी की प्रात:कालीन प्रार्थना का अंग है, उसका मतलब हिन्दी में बतलाते हुए एक बार गांधी जी ने कहा --" ईश्वर एक है, वह सनातन है,

वह निरालम्ब है, वह अज्ञ है, अद्वितीय है, वह सारी सृष्टि को पैदा करता है, उसे किसी ने पैदा नहीं किया।"[9] जिन-जिन वाक्यों में विश्व सम्बन्धी युक्ति स्पष्ट है, उन्हें गांधी जी बहुमूल्य समझते थे और उनका प्रतिदिन स्मरण करते थे. इस प्रकार हम कह सकते हैं कि गांधी जी ने विश्व सम्बन्धी युक्ति पर अधिक महत्व दिया है.

प्रयोजनात्मक युक्ति (टेलिओलॉजिकल आरगुमेण्ट)

ग्रीक शब्द टैलॉस का अर्थ है-- प्रयोजन. कुछ विद्वानों ने सिद्ध किया है कि विश्व की प्रत्येक वस्तु के पीछे कोई-न-कोई प्रयोजन अवश्य होता है. प्रयोजन के पीछे किसी की सत्ता आवश्यक है. व्यवस्था प्रयोजन का द्योतक है. संसार में हर तरफ व्यवस्था दिखाई पड़ती है. इन व्यवस्थाओं के पीछे अवश्य ही कोई बुद्धि सम्पन्न व्यक्तित्व है, जो कि ईश्वर है. गांधी जी के निम्नलिखित शब्द इस युक्ति को स्पष्ट करते हैं, " मैं देखता हूं कि विश्व में अनुक्रम है, प्रत्येक वस्तु तथा प्रत्येक जीव जो हैं या जो जीवित हैं, उनको नियंत्रित करने का एक अटल नियम है। यह अन्ध विधान नहीं है। क्योंकि जीते-जागते जीवों के आचरण को अंध-विधान नियंत्रित नहीं कर सकता और सर जगदीशचन्द्र बोस की अद्भुत खोजों की धन्यवाद है कि अब यह सिद्ध किया जा सकता है कि भौतिक पदार्थ भी जीवधारी है। वह नियम या विधान जो सकल जीवन को नियंत्रित करता है नियंता, विधाता या ईश्वर है। विधि(विधान) और विधाता दोनों एक ही है।"[10] हमारी भाषा का शब्द विधि विधान और विधाता दोनों के अर्थ में प्रयुक्त होता है. विधि ब्रह्मा को भी कहा जाता है जो कलाकार की भांति जगत की सविचार रचना करता है. साधारण कृतियों में भी चिन्तन एवं प्रयोजन की आवश्यकता रहती है तो इस जगत की कृति में चैतन्य की आवश्यकता क्यों न हो ? जगत की यह कृति ही ईश्वर है.

इसी प्रसंग में गांधी जी कहते हैं-- सूर्य, चन्द्र, पृथ्वी इत्यादि की अविराम और अचूक गति ईश्वर के कर्म सूचित करती है।[11]

कारणिक युक्ति (कॉज़ल आरगुमेण्ट)

कारणिक युक्ति विश्व सम्बन्धी युक्ति का ही अंश है. कारणिक युक्ति यों है -- यदि मैं हूं या हम हैं,तो मेरा या हमारा कोई कर्ता या कारण भी होना चाहिए. मेरे मां-बाप और जड़ वस्तुएं मुझे पैदा नहीं कर सकतीं । क्योंकि वे हमको सुरक्षित भी नहीं रख सकीं. यदि वे हमको बनातीं तो सुरक्षित भी रख सकतीं. पर ऐसा होता नहीं है. अत: हमें बनाने वाला कोई ईश्वर है. गांधी जी ने इस युक्ति को इस प्रकार व्यक्त किया है --

"यदि हम हैं, यदि हमारे मां-बाप हैं और उनके भी मां-बाप हैं,तो यह विश्वास करना उचित जान पड़ता है कि समस्त सृष्टि का भी पिता है । यदि वह नहीं है, तो हम कहीं के नहीं होते ।"[12]

नैतिक युक्ति (मॉरल आरगुमेण्ट)

नैतिक तर्क यह सिद्ध करने का प्रयत्न करता है कि ईश्वर की सत्ता में नैतिक जीवन की समस्याओं का सफल समाधान होता है. प्राय: देखा जाता है कि अधर्मी तथा नीतिच्युत व्यक्ति भोग करते हैं और आचारवान व्यक्तियों को कष्ट भोगना पड़ता है. अत: सुख और कर्तव्य को समन्वित करने के लिए ईश्वर की आवश्यकता मानी गई है. गांधी जी कहते हैं --"दुनिया के सारे निर्जीव नैतिक सिद्धान्त बेकार हैं,क्योंकि भगवान से अलग उनकी कोई हस्ती नहीं है-- वे बेजान हैं । भगवान के प्रसाद के रूप में वे जानदार बनकर आते हैं । वे हमारे जीवन के अंग बन जातेहैं और हमें ऊंचा उठाते हैं । इसके खिलाफ भलाई के बिना भगवान भी बेजान है । हम अपनी झूठी कल्पनाओं में ही उसे जिन्दा बनाते हैं-- उसमें प्राण फूंकने की कोशिश करते हैं ।[13] भगवान है,लेकिन हमारी तरह नहीं है. भलाई भगवान का गुण नहीं है,बल्कि भलाई भगवान ही है. भगवान से अलग जिस भलाई की कल्पना की जाती है,वह बेजान है. लोक-व्यवहार में हम देखते हैं कि कुछ-न-कुछ भलाई अवश्य रहती है. यह भलाई सिद्ध

करता है कि ईश्वर जो उस भलाई को सिद्ध करने वाला है, अवश्य है.

गांधी जी कहते हैं कि मृत्यु के अभ्यन्तर जीवन रहता है, असत्य के अभ्यन्तर सत्य रहता है, अन्धकार के अभ्यंतर प्रकाश रहता है. अतः हम निष्कर्ष निकालते हैं कि ईश्वर जीवन है, सत्य है, प्रकाश है. वह प्रेम है. वह परम शुभ या निःश्रेयस् है. गांधी जी नैतिक महापुरुष हैं. उन्होंने सत्य एवं प्रेम नैतिक नियमों को अपने जीवन में भी उतारने का प्रयत्न किया है.

जगत् की नैतिकता ईश्वरवादी तथा अनीश्वरवादी और चैतन्यवादी तथा जड़वादी सभी को मान्य है, क्योंकि इसके बिना लोक-व्यवहार चल नहीं सकता. जगत की नैतिकता या नीति-परायणता से व्यक्त होता है कि सत्य, प्रेम आदि नैतिक गुणों की स्वयंमेव सत्ता है और इन्हीं की सम्पूर्ण इकाई का नाम ईश्वर है, अतः ईश्वर की सत्ता है. जब गांधी जी कहते हैं कि "मेरे लिए ईश्वर सत्य तथा प्रेम है, ईश्वर नीतिशास्त्र है, नैतिकता है, ईश्वर अभयत्व है"[14] तो वे ईश्वर को नैतिकता की मूर्ति के रूप में ग्रहण लेते हैं. ईश्वर अन्तरात्मा (Conscience) है, अन्तरात्मा 'ईश्वर' का छोटा रूपान्तर है।[15] "वह (ईश्वर) हृदयरूपी बन में रहता है और उसका स्वर है अन्तर्नाद। हमें निर्जन बन में जाने की आवश्यकता नहीं है। अपने अन्तर में हमें ईश्वर का मधुर नाद सुनना है।"[16] गांधी जी अन्तरात्मा की आवाज़ को ईश्वर की आवाज मानते हैं. यह आवाज ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करती है.

मूल्य मीमांसक युक्ति (एक्सिओलॉजिकल आरगुमेण्ट)

यहां पर यह दिखलाया गया है कि अस्तित्व उसी का हो सकता है जिसे हमेशा रहना चाहिए, जो आदि, मध्य और अवसान में एक रूप रहता हुआ भी सदा के लिए वैसा ही आदर्श बना हुआ है, और जो सबको मदद करता है, या जिसको पाने से दूसरे लोग अस्तित्व पाते हैं और जिसकी ओर दूसरे बढ़ रहे हैं. स्पष्ट है कि यहां पुरुषार्थ या मूल्य पर अस्तित्व टिका हुआ है. इस युक्ति के बारे में गांधी जी ने कहा है --" सम्पूर्ण सत्य को यदि हमने देख पाया होता तो फिर सत्य के आग्रह की क्यों बात थी ? तब तो हम परमेश्वर हो गये होते, क्योंकि हमारी भावना है कि सत्य हा

परमेश्वर है । हम पूर्ण सत्य को पहचानते नहीं है, इसलिए उनका आग्रह करते हैं । इसी से पुरुषार्थ की गुंजाइश है ।[27] चूंकि गांधी जी ने सेवा द्वारा कार्य-क्षेत्र में ही ईश्वर का दर्शन करने की शिक्षा दी और सामाजिक तथा नैतिक मूल्यों के मानने वाले गोरा जैसे निरीश्वरवादियों को भी नैतिक सहयोग देते हुए कहा कि अगर हम इन मूल्यों को मानते हैं तो वस्तुत: हम ईश्वर को मानते हैं, इसलिए कहा जा सकता है कि इन मूल्यों का बोध ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण है.

प्रतिभौतिकमय निगमन (ट्रान्सनडेण्टल डिडक्शन)

गांधी जी के अनुसार --" मैं अस्पष्टतया देखता हूं कि जहां मेरे चारों तरफ प्रत्येक वस्तु सदा परिवर्तनशील है, सदा मर्त्य है, वहां उस सकल परिवर्तन के अन्तराल में एक जीती-जागती शक्ति है, जो बदलती नहीं है, जो सब को एक साथ पकड़े हुए है, जो रचना करती है, नाश करती है और पुन: निर्माण करती है । वह सर्वान्तर निर्मात्री शक्ति या आत्मा ईश्वर है । और चूंकि अन्य कोई वस्तु जिसे मैं इन्द्रियों से देखता हूं सदा रह नहीं सकती या रहेगी नहीं, अत: वही अकेला है ।[28] यहां रचना करना, नाश करना और पुन: निर्माण करना लगता है वाद (थीसिस), प्रतिवाद (एण्टी थीसिस) और संवाद (सिन्थेसिस) के रूप में सोचे गए हैं. सब को उत्पन्न करने वाला सदा वर्तमान स्वरूप और एकरूप रहने वाला सर्वान्तर ईश्वर ही है. गांधी जी ईश्वर को सर्वत्र अन्तर्यामी मानते थे. इस दृष्टि से शेष सभी युक्तियां प्रतिभौतिकमय निगमन पर प्रतीत होती हैं या इसी के परिणामस्वरूप लगती हैं. मानवी बुद्धि जो स्वयं ईश्वर पर निर्भर है, केवल यही दिखा सकती है कि उसका आधार, सकल वस्तुओं का आधार ईश्वर ही है. गांधी जी ईश्वर के विषय में कहते हैं--" एक ऐसी अलक्षणीय गुप्त शक्ति है जो सब में व्याप्त है । मैं इसे अनुभव करता हूं, हालांकि मैं उसे देखता नहीं हूं । यह अदृश्य शक्ति है जो अपने को अनुभूत कराती है और सिद्ध पर भी सभी प्रमाणों को तिरस्कृत करती है, क्योंकि मैं जो कुछ भी इन्द्रियों से देखता हूं, वह उन सबसे असमान है । वह

वह इन्द्रियों से अगोचर है।[१९] स्पष्ट है कि जब गांधी जी ऐसा कहते हैं तो वे ईश्वर को गोचर और अगोचर न कहते हुए प्रतिगोचर कह रहे हैं अर्थात् वह जिस पर गोचर आधारित है, यहां प्रति गोचरमय निगमन हा है.

गांधी जी सत्य-दर्शन, ईश्वर-दर्शन और आत्म-दर्शन या आत्म-साक्षात्कार में कोई अन्तर नहीं करते हैं, इससे स्पष्ट है कि वे सत्य को ईश्वर और फिर ईश्वर को आत्मा रूप में लेते हैं. गांधी जी के इनसे संबंधित कथनों में वस्तुत: ईश्वर का प्रतिगोचरमय निगमन मिलता है. किशोरलाल मशरूवाला ने तो स्पष्ट कहा कि --"ईश्वर प्रत्येक प्राणी का परम 'अहम्' है।"[२०]

शब्द प्रमाण (अथोरिटेरियन आरगुमेण्ट)

यह प्रमाण भी गांधी जी को मान्य है. वे कहते हैं--"शास्त्रों का यानी वेद का निचोड़ इतना ही है कि ईश्वर है और वह एक ही है। कुरान और बाइबिल का भी यही निचोड़ है। कोई यह न कहे कि बाइबिल में तीन भगवान बताये हैं। वहां भी भगवान् एक ही है।"[२१] गांधी जी ने हिन्दु, मुसलमान, ईसाई, यहूदी और पारसी सभी के धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन किया और उनको उन सब में इस बात की एकवाक्यता मिली कि ईश्वर एक है और प्रत्येक धर्म या धर्मग्रन्थ के अनुसार उसके नाम अनेक हैं.

ऐतिहासिक साक्ष्य

ईश्वर के प्रमाण के लिए गांधी जी इतिहास का भी साक्ष्य देते हैं. उनका कहना है कि "ईश्वर का प्रमाण पैगम्बरों और ऋषियों संतों की अटूट परम्परा के अनुभवों में मिलता है। ऐसे लोग प्रत्येक युग में प्रत्येक देश में हुए हैं। उस प्रमाण को न मानना अपनेको न मानना है।"[२२] क्योंकि हम भी उस ऐतिहासिक परम्परा की कड़ी हैं और हम यदि उनके अनुभवों को नहीं मानते तो अपने अनुभवों को भी नहीं मान सकते.

व्यावहारिक युक्ति

गांधी जी व्यावहारिक अधिक हैं, उन्होंने किसी सिद्धांत तथा विचारधारा को उसके फल के अनुसार ही जांचा है, यदि उसका फल ठीक है, तब वह ठीक है, अन्यथा वह गलत है. ईश्वर है या नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर गांधी जी ने अपने व्यवहार से दिया. ईश्वर है ऐसा मानकर वे चले और उनके प्रत्येक कार्य-कलाप का यही आधार-सूत्र था. अपने सिद्धान्त से उन्हें काफी सफलता मिली. इससे ईश्वर में उनका दिन-प्रति-दिन विश्वास बढ़ता गया. हम प्राय: शब्दों पर ही झगड़ा करते हैं. गांधी जी ने देखा कि ईश्वरवादी और अनीश्वरवादी भी ईश्वर शब्द पर ही झगड़ा करते हैं. गांधी जी के अनुसार सत्यनिष्ठता या प्रेम सभी को मान्य है. अगर उन्हें ही ईश्वर कहा जाये तो फिर कोई अनीश्वरवादी नहीं रह सकता.

अस्तित्व दार्शनिक युक्ति (एग्ज़िस्टेन्शियल फिलॉसफिकल आरगुमेण्ट)

पश्चिम में अस्तित्व दर्शन ने ईश्वर के प्रत्यय पर नया प्रकाश डालते हुए नये तर्क प्रयोग में लाये हैं. यास्पर्स और मार्सेल इसके प्रचारक हैं. गांधी ने भी इस दृष्टि से ईश्वर के प्रत्यय पर विचार किया है और अस्तित्व-निष्ठ युक्तियां दी हैं. इस प्रसंग में कई दृष्टियां हैं --" बुद्धि ईश्वर को जानने में शक्तिहीन है । वह बुद्धि की पहुंच के बाहर है । किन्तु मुझे इसको सिद्ध करने की आवश्यकता नहीं है । श्रद्धा इस प्रसंग में आवश्यक है । मेरा तर्क अनगिनत प्रमेय बना और बिगाड़ सकता है । कोई अनीश्वरवादी मुझे वाद-विवाद में परास्त कर सकता है । किन्तु मेरी श्रद्धा मेरी बुद्धि से तीव्रतर है और इस कारण मैं सकल संसार को ललकार कर कह सकता हूं कि ईश्वर है, ईश्वर था और ईश्वर सदा रहेगा[२३]।" गांधी जी फिर कहते हैं, " बहुत सी वस्तुएं हैं जिनका विश्लेषण नहीं किया जा सकता है । जिस ईश्वर को मेरी अल्पबुद्धि विश्लेषण करती है, वह मुझे सन्तोष नहीं दे सकता । इस कारण मैं उसका विश्लेषण नहीं करता हूं । मैं सापेक्ष वस्तुओं के पीछे निरपेक्ष सत् तक जाता हूं और मुझे तब मन: शान्ति मिलती है[२४]। इसी प्रकार गांधी जी कहते हैं, --" क्या आप मुझे

अंधविश्वासी समझते हैं। मैं अनीश्वरवादी से ऊर्ध्व हूं।[२५]

इन उद्धरणों से स्पष्ट है कि गांधी जी स्वाभाविक या नैसर्गिक श्रद्धा से ईश्वर को सिद्ध करते हैं, यह श्रद्धा तर्क-निम्न न होकर तर्कोर्ध्व है, यह दार्शनिक श्रद्धा ही है, इससे व्यक्ति अपना सम्बन्ध अनन्त से जोड़ता है, यही सच्चा सम्बन्ध है और यह स्पष्टतः ईश्वर को सिद्ध करता है, क्योंकि उसके अभाव में यह सम्बन्ध हो नहीं सकता, यहां ईश्वर और व्यक्ति को अलग-अलग मानकर सम्बन्ध नहीं देखा गया है, नैसर्गिक श्रद्धा एक तथ्य है, यह एक सम्बन्ध है, यह सीमित और असीम को सिद्ध करती है, यही बतलाती है कि व्यक्तित्व इस कारण सत् है कि उसमें ईश्वरत्व है या वह ईश्वरत्व पर प्रतिष्ठित है या वह ईश्वरत्व की ओर झुका हुआ है, इस प्रकार नैसर्गिक श्रद्धा से ईश्वर को सिद्ध करते समय गांधी जी हमें यास्पर्स का स्मरण कराते हैं, यास्पर्स की ही भांति गांधी जी कहते हैं, --" हम पर और संदेहवादियों पर शासन करने वाला कोई वस्तु है जो बुद्धि से अनन्त गुना ऊंची है। उनका संदेहवाद और दर्शन उन्हें जीवन के संकट क्षणों में मदद नहीं करता। उन्हें किसी बेहतर चीज़ की, उनसे बाहर किसी चीज़ की, ज़रूरत पड़ती है जो उन्हें कायम रख सकती है। अगर ऐसी ही कोई मेरे सामने समस्या रखे तो मैं उससे कहूंगा कि तुम ईश्वर या प्रार्थना का मतलब तब तक नहीं जान सकते हो जब तक कि अपने को शून्यवत् न बना लो। तुम्हें इतना नम्र होना है कि महसूस करो कि बुद्धि की विशालता और महानता के भी बावजूद तुम इस विश्व में महज एक कण हो। जीवन की वस्तुओं का केवल बौद्धिक प्रत्ययन पर्याप्त नहीं है। आध्यात्मिक प्रत्ययन बुद्धि से परे है और वही संतोष दे सकता है। धनीमानी लोग भी संकट क्षणों का अपने जीवन में अनुभव करते हैं। हालांकि वे धन-दौलत से घिरे रहते हैं और उन चीजों से भी घिरे रहते हैं जो धन-दौलत से खरीदी जा सकती है, लेकिन फिर भी वे अपने जीवन के कतिपय क्षणों में अपने को पूर्णतया निराश और हतोत्साह पाते हैं। ये ही वे क्षण हैं जिनमें हमें ईश्वर की झांकी मिलती है, हम उसका दर्शन करते हैं जो जीवन में हमारे हर कदम को चला रहा है।[२६] जैसे अस्तित्व दार्शनिकों की तरह गांधी जी ने संकटापन्न क्षणों की अनुभूति को ईश्वर को सिद्ध करने वाला

कहा है.

मार्सेल की तरह गांधी जी रहस्य का लौकिक व्याख्या करते हैं. जब वे कहते हैं कि ईश्वर एक रहस्य है तो उनका अभिप्राय यह नहीं है कि हम उसको समझ नहीं सकते या हम उसको पा नहीं सकते,। वे सिर्फ यह कहना चाहते हैं कि ईश्वर एक गुप्त शक्ति है, जो बुद्धि से छिपा रहता है पर हृदय को खोलने पर वह हृदय में मिल जाता है. इस तरह गांधी जी को रहस्यशक्ति अलौकिक नहीं है. फिर वह लौकिक भी नहीं है. वह यत्न-साध्य है, हृदय द्वारा लभ्य है. इस कारण वह पूर्ण लौकिक है. इसमें कोई रहस्यवाद नहीं है. गांधी जी कहते हैं कि सच बात तो यह है कि ईश्वर एक शक्ति है, तत्व है, शुद्ध चैतन्य है, सब जगह मौजूद है, फिर भी सब उसका सहारा पा नहीं सकते. गांधी जी कहते हैं--"बिजली एक बड़ी शक्ति है । मगर सब उससे फायदा नहीं उठा सकते । उसे पैदा करने का अटल कानून है । उसके अनुसार काम किया जाय तभी बिजली पैदा की जा सकती है । बिजली जड़ है, बेजान चीज है । उसके इस्तेमाल का फायदा चेतन मनुष्य मेहनत करके जान सकता है । जिस चेतनमय बड़ी भारी शक्ति को हम ईश्वर कहते हैं,उसके प्रयोग का भी नियम तो है ही । लेकिन यह चीज बिल्कुल साफ है कि उस नियम को ढूंढने के लिए बहुत ज्यादा परिश्रम की जरूरत है । उस नियम का नाम ब्रह्मचर्य है ।" ब्रह्मचर्य से सभी मनुष्य ईश्वर को सिद्ध कर सकते हैं अर्थात् पा सकते हैं-- यह गांधी का अटल सिद्धांत है.

अस्तित्ववादी सार्त्र की भांति गांधी जी बलिदान में,दुःख में,धीरज में अपने अस्तित्व को संपन्न पाते हैं और यद्यपि सार्त्र अनीश्वरवादी हैं तथापि गांधी जी इस प्रक्रिया द्वारा ईश्वर के अस्तित्व को सिद्ध करते हैं," वह (ईश्वर) बहुत दीर्घकालीन सहनशीलता है । वह धीर है पर भयंकर भी । वह मौजूदा संसार में और आने वाले संसार में भी सबसे अधिक ताड़ना देने वाला है ।" गांधी जी कहते हैं, --" ईश्वर प्रमेय नहीं है, वह सभी प्रमाणों का प्रमाता है. यदि अपने संतानों द्वारा ईश्वर प्रमाणों का प्रमेय बन गया होता तो वह ईश्वर न रहता ।[२६] गांधी जी के मत को स्पष्ट करते हुए किशोरीलाल मशरूवाला ने कहा

कि, " ईश्वर के अस्तित्व या नास्तित्व का व्याख्यान करने के पूर्व हमें दो भूलों को बचाना चाहिए। पहली यह कि प्रश्नकर्ता अपने समझने के पूर्व ईश्वर को समझने की कोशिश करता है। जब तक कोई अपने अस्तित्व को न समझे, न सिद्ध करे, न जाने, तब तक ईश्वर के प्रति उसकी ऊहायें व्यर्थ हैं।.... जैसे-जैसे अपने अस्तित्व का, आत्मा के अस्तित्व की समझ बढ़ता है, वैसे-वैसे ईश्वर के प्रति हमारा दृष्टिकोण बदलता जाता है। अतः जो ईश्वर के विषय में स्पष्ट ज्ञान रखना चाहता है उसे सर्वप्रथम अपने अस्तित्व के स्वभाव के विषय में स्पष्ट ज्ञान रखना चाहिए।.... दूसरी भूल पहली भूल से, आत्मा की नासमझी से, उत्पन्न होती है। दूसरी भूल है ईश्वर को प्रमेय या अप्रमेय समझ लेना।"[30] चूंकि आत्मा प्रमेय नहीं है, अप्रमेय नहीं है, न विषय है और न अज्ञेय, इस कारण ईश्वर भी ऐसा नहीं है, आत्मा शुद्ध चैतन्य या ज्ञानस्वरूप है, तो ईश्वर भी ऐसा ही है, ईश्वर की सिद्धि इस प्रकार आत्मज्ञान रखने वाले ही कर सकते हैं.

रहस्यवादी युक्तियाँ

कुछ लोग गांधी जी को रहस्यवादी सन्त मानते हैं. रहस्यवादी हम उन लोगों को कहते हैं, जिन्होंने ईश्वर का साक्षात् दर्शन कर लिया हो और जो दूसरों को भी ईश्वर का साक्षात् दर्शन करा सकें. गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में ऐसे दर्शन को सम्भव बताया है, पर यह माना है कि उन्हें ऐसा दर्शन हुआ नहीं है. वे सदैव यह मानते रहे हैं कि " ईश्वर को आंखों से प्रत्यक्ष देखने में और उसे बड़ी दूर से सत्य के रूप में जीता-जागता देखने में बहुत बड़ा अन्तर है।"[31]

ईश्वर को प्रत्यक्ष देखने वाले रहस्यवादी कहे जाते हैं, ईश्वर को सत्य के रूप में दूर से देखने वाले दार्शनिक कहे जाते हैं. इस प्रकार हम गांधी जी को रहस्यवादी नहीं कह सकते. यदि हम उनको कुछ अर्थ में रहस्यवादी कहना चाहें तो बस इसी अर्थ में कह सकते हैं कि वे रहस्यवादी प्रत्यक्ष को संभव मानते हैं, वे रहस्यवाद के साथ साधारण प्रत्यक्ष का विरोध नहीं देखते, वे रहस्यवाद को साधारण प्रत्यक्ष की पूर्णावस्था मानते हैं और अन्त में यह भी

कहते हैं कि यदि प्रयत्न किया जाये, साधना की जाय तो रहस्यवादी प्रत्यक्ष मिल सकता है. इस प्रकार उनका रहस्यवाद केवल सम्भाव्य रहस्यवाद है, यथार्थ नहीं है.

यथार्थ रहस्यवाद से भिन्न एक प्रकार का रहस्यवाद प्रचलित है जो मानता है कि ईश्वर भक्तों की सहायता करता है, वह रहनुमा और हकीम है. उसका नाम लेने से उसकी प्राप्ति होती है. गांधी जी इस प्रचलित रहस्यवाद को मानते हैं. उनका निजी अनुभव है कि ईश्वर उनकी मदद करता है, उनको राह दिखाता है और उनको रोगों से अच्छा करता है. वे मानते हैं कि सच्ची निष्ठा वालों को ईश्वर उबार लेता है. व स्वयं गांधी जी के जीवन में ऐसे क्षण हैं जब उन्हें ईश्वर से मदद मिली है. इस मदद से वे ईश्वर को सिद्ध करते हैं.

यदि हम ध्यानपूर्वक देखें तो ईश्वर को मददगार, रहनुमा और हकीम मानना वस्तुतः रहस्यवादी धारणा नहीं है, बल्कि बहुत कुछ ईश्वर के प्रत्यय या अर्थ पर निर्भर है. गांधी जी के अनुसार ईश्वर स्वास्थ्य है, जीवन है, नैसर्गिक चिकित्सक है. जब वे ऐसा कहते हैं तो उनका अभिप्राय यह है कि ईश्वर मूल्य है. ईश्वर को पथ-प्रदर्शक या रहनुमा कहने का भी यही अभिप्राय है. चूंकि गांधी जी समस्त संसार की धारणा मूल्यों के रूप में करते हैं और उन मूल्यों की मूल्यता को ईश्वर मानते हैं, इस कारण उनकी धारणा है कि मदद या पथप्रदर्शन ईश्वर से मिलता है. गांधी जी ने इस प्रसंग में अपने मत को स्पष्ट कर दिया है कि जिसे ईश्वर में विश्वास नहीं है, जो ईश्वर के लिए अपने को बलिदान नहीं कर सकता, उसे प्रार्थना, जप आदि से कोई लाभ नहीं हो सकता, उसे ईश्वर मदद कर नहीं सकता, अतः हमारा मत है कि गांधी जी की उक्त धारणायें प्रचलित रहस्यवाद की धारणायें नहीं हैं. वे गांधी जी के संकल्प, व्रत और निश्चय का परिचय देती हैं. वे यह बतलाती हैं कि गांधी जी ने ईश्वर को कितना व्यापक मूल्य समझा है.

(३) क्या ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है ?

सर्वप्रथम हम यह देखेंगे कि व्यक्तित्व क्या है ? साधारणतः व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के विशिष्ट गुणों से लिया जाता है. कभी-कभी व्यक्तित्व का अर्थ व्यक्ति के बाह्य रूपों से भी समझा जाता है. मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ईश्वर इस अर्थ में व्यक्तित्वपूर्ण नहीं कहा जा सकता, क्योंकि ईश्वर में मन और शरीर का समन्वय नहीं हुआ है.

अब प्रश्न यह उठता है कि ईश्वर के व्यक्तित्व का क्या अर्थ है ? ईश्वर आत्म-चेतन सत्ता है. आत्म-चेतना का रहना व्यक्तित्व का सूचक है, मनुष्य में चेतना अनावश्यकरूप से है, इसलिए मनुष्य को भी व्यक्तित्वपूर्ण कहा जाता है. चूंकि ईश्वर आत्म-चेतन है, इसलिए वह व्यक्तित्वपूर्ण है. आत्म चेतना व्यक्तित्व का मूल लक्षण है. मैक्टैगार्ट ने भी व्यक्तित्व और आत्म-चेतना को आवश्यक रूप से सम्बन्धित बतलाया है. उन्होंने अपनी पुस्तक समडोगमाज़ आव रिलीजन में व्यक्तित्व की व्याख्या करते हुए कहा है कि --" जब हम ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण मानते हैं तब हमारा मतलब है कि वह आत्मचेतन है तथा उसे अपने अस्तित्व का उसी प्रकार ज्ञान है, जिस प्रकार हमें अपने अस्तित्व का ज्ञान है।"[३२]

आत्म चेतना के अतिरिक्त व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में संकल्प स्वातन्त्र्य का रहना अनिवार्य है. ईश्वर अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकता है. वह स्वतन्त्रतापूर्वक निर्णय कर सकता है. इसी विशेषता के कारण ईश्वर ने संसार के समस्त विषयों का निर्माण किया.

ईश्वर में कुछ निजी विशेषताएं होती हैं. उन्हें वैयक्तिक विशिष्टता कहते हैं. वैयक्तिक विशिष्टता के कारण ही हरेक व्यक्ति एक-दूसरे से भिन्न हो जाता है, इसी वैयक्तिक विशिष्टता के कारण ईश्वर मानव तथा पशु से भिन्न है, अतः व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर में वैयक्तिक विशिष्टता का होना आवश्यक है.

व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर के अभाव में धर्म पनप नहीं सकता. धर्म में एक ऐसी सत्ता का रहना आवश्यक है, जिसपर मनुष्य निर्भरता, भक्ति और आत्मसमर्पण

की भावना रखे, व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर पर ही इन भावनाओं का आरोपन किया जा सकता है. प्रो० गैलवे ने ईश्वर के व्यक्तित्व पर ज़ोर देते हुए कहा है कि यदि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण नहीं है तो मनुष्य की सम्पूर्ण धार्मिक चेतना के विकास को भ्रमात्मक मानना होगा.[33] दूसरे स्थान पर उन्होंने कहा कि धार्मिक अनुभूति की सत्यता तभी है जब हम एक ऐसे ईश्वर में विश्वास करते हैं जो व्यक्तित्वपूर्ण है.[34] प्रो० ब्राइटमैन ने भी धर्म के लिए एक व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की अपेक्षा महसूस करते हुए कहा है कि धर्म विशेष रूप से मानवीय अनुभूति है.[35] इस्लाम धर्म में ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना गया है. उसमें मनुष्य की तरह इच्छा सन्निहित रहती है. अल्लाह शाश्वत है. ईसाई धर्म के अनुसार भी ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है. वह एक है, वह स्वर्ग और पृथ्वी का स्वामी है. वह न्यायी, परोपकारी तथा पवित्र है. वह विश्व का संचालक है तथा नैतिक शासक है. भारतीय दर्शनों में चार्वाक दर्शन ने बताया है कि ईश्वर का न कोई रूप है और न कोई आकार. आकार-विहीन होने के कारण वह प्रत्यक्ष की सीमा से बाहर है. इस प्रकार इन्होंने व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर का ही नहीं, बल्कि ईश्वर का ही खण्डन किया है. न्याय दर्शन ने ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण माना है, जिसमें ज्ञान, सत्ता और आनन्द निहित है. अद्वैत वेदांती शंकर ने ईश्वर को ब्रह्म कहा है. उन्होंने ब्रह्म को व्यक्तित्व से शून्य कहा है. व्यक्तित्व में आत्मा और अनात्मा का भेद रहता है. ब्रह्म सब भेदों से शून्य है. इसलिए ब्रह्म को निर्वैयक्तिक कहा गया है, परन्तु शंकर का यह ब्रह्म सम्बन्धी विचार रामानुज के ब्रह्म विचार से भिन्न है. रामानुज के अनुसार ब्रह्म में व्यक्तित्व है. वह परम व्यक्ति है. इनके अनुसार ब्रह्म में आत्मा और अनात्मा के बीच भेद किया जाता है, इसका कारण यह है कि ब्रह्म के अन्दर ईश्वर, जीवात्मा और जड़ पदार्थ समाविष्ट है. गीता के अनुसार ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण है. ईश्वर का अवतार होता है. जब विश्व में नैतिक और धार्मिक पतन होता है तब ईश्वर किसी-न-किसी रूप में विश्व में उपस्थित होता है. इस प्रकार ईश्वर का जन्म धर्म के उत्थान के लिए होता है. श्रीकृष्ण को भी इसी प्रकार का अवतार समझा जाता है. हिन्दू धर्म में भी व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर की कल्पना की गई है. हिन्दू धर्म में ईश्वर का अवतार समय-समय पर होता है. श्रीकृष्ण, श्री रामचन्द्र आदि ईश्वर के विभिन्न अवतार माने

जाते हैं, इन व्यक्तियों में ईश्वरत्व निहित समझा जाता है, अत: इनकी आराधना अपेक्षित मानी जाती है. ईश्वर को निर्गुण और निराकार रूप में पूजना सम्भव नहीं है. ईश्वर की आराधना सगुण रूप में की जाती है, अत: ईश्वर का व्यक्तित्व है.

यद्यपि ईश्वर के व्यक्तित्व के विरुद्ध अनेक तर्क प्रस्तावित किए गए हैं, फिर भी ईश्वर के व्यक्तित्व का निषेध नहीं होता है. इसका कारण यह है कि ईश्वर के व्यक्तित्व को न हम तर्क से प्रमाणित कर सकते हैं और न अप्रमाणित कर सकते हैं. ईश्वर एक रचयिता है. उसकी रचनाओं को देखकर उसके व्यक्तित्व का हमें बोध होता है. यदि ईश्वर व्यक्तित्वपूर्ण नहीं होता तब वह विश्व की वस्तुओं की रचना इस प्रकार नहीं करता. विश्व के विभिन्न वस्तुओं के बीच सामंजस्य एवं व्यवस्था है. सभी वस्तुएं किसी नियम से शासित होती हैं. ईश्वर ने इस विश्व की सृष्टि की है, इसलिए सामंजस्य और व्यवस्था ईश्वर की ही देन है. विश्व के सामंजस्य एवं व्यवस्था का आधार व्यक्तित्वपूर्ण ईश्वर ही हो सकता है.

गांधी जी के अनुसार,-" ईश्वर स्वयं न नर है, न नारी है, उसके लिए न पंक्तिभेद है, न योनिभेद, वह 'नेति नेति' है।[36] गांधी जी कहते हैं ईश्वर कोई व्यक्ति नहीं है. यह कहना कि वह मनुष्य के रूप में समय-समय पर पृथ्वी पर उतरता है, आंशिक सत्य है और उसका इतना ही अर्थ है कि इसप्रकार का मनुष्य ईश्वर के निकट रहता है. अब चूंकि ईश्वर सर्वव्यापी है, इसलिए वह प्रत्येक मानव-प्राणी के भीतर निवास करता है और इसलिए सभी को उसका अवतार कहा जा सकता है, परन्तु इससे हम किसी नतीजे पर नहीं पहुंचते. राम-कृष्ण आदि ईश्वर के अवतार इसलिए कहे जाते हैं कि हम उनमें दैवी गुणों का आरोपण करते हैं. वास्तव में वे मानव-कल्पना की सृष्टि है. गांधी जी कहते हैं ---" चाहे उसे ईश्वर कहो या अल्लाह या गॉड या अहुरामज्दा । उसके असंख्य नाम हैं, उतने जितने मनुष्य हैं । वह एक और अद्वितीय है । वही अकेला ब्रह्म या बृहत् है । उससे बृहत् कोई नहीं है । वह कालातीत, निराकार, निष्कलंक है । ऐसा मेरा राम है । वही अकेला

मेरा प्रभु और स्वामी है।[37] इस प्रकार गांधी जी ईश्वर को निराकार कहते हैं, फिर भी कुछ लोगों ने गांधी जी को सगुण ब्रह्मवादी या अनीश्वरवादी कहा है, डा० धीरेन्द्रमोहन दत्त ने कहा,--" यदि व्यक्तित्व का अर्थ आत्मचेतना तथा संकल्पशक्ति है, तो कहा जा सकता है कि गांधी ईश्वर को व्यक्ति(पुरुष)मानते थे और उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, सृष्टा तथा जगत् का शासक कहते थे, सब कुछ देखने पर इसलिए यह कहना युक्तियुक्त होगा कि गांधी जी सगुण ब्रह्मवादी या ईश्वरवादी थे, एक वैष्णव थे, अद्वैतवादी या शंकर के अनुयायी नहीं थे।"[38]

(४) ईश्वर और मानव

गांधी जी का विचार है कि जहां तक धर्म का सम्बन्ध है, वह ईश्वरवादी सिद्धान्त है, इस दृष्टि से धर्म के लिए आवश्यक है कि उसका विश्वास किसी ईश्वर पर हो, ईश्वर के अभाव में धर्म की व्याख्या अमान्य है, ईश्वर ही धर्म का केन्द्रबिन्दु है,

मनुष्य के बारे में बताया गया है कि मनुष्य एक जटिल जाति है, उसका शरीर प्रकृति का एक अंश है, इस प्रकार उसके शरीर का निर्माण तथा विनाश प्रकृति के नियमों के अनुसार ही होता है, मनुष्य का शरीर उसके माता-पिता से बनता है, इसके बाद वह अपना जीवन शुरू करता है, उसको गुण अपने पूर्वजों से प्राप्त होते हैं, मनुष्य के ऊपर उसके वातावरण का भी बहुत प्रभाव पड़ता है, मनुष्य केवल शरीर ही धारण नहीं करता, उसके अन्दर चेतना, बुद्धि, संवेग, इच्छायें तथा अन्य गुण होते हैं, इन सब गुणों से पता चलता है कि उसके अन्दर आत्मा भी होती है, किन्तु शरीर और आत्मा दो स्वतन्त्ररूप से रहने वाले गुण नहीं हैं, केवल एक ही स्वतंत्र रूप से रहने वाला है-- वह ईश्वर है, यही ईश्वर भिन्न-भिन्न रूप में प्रकट होता है, जैसे शरीर के रूप में, आत्मा के रूप में, पदार्थ में, चेतना के रूप में,

मनुष्य अपूर्ण एवं ससीम है, जब मनुष्य ईश्वर के संघर्षों से दबाया जाता है तब वह ईश्वर या ईश्वरतुल्य सत्ता की मांग करता है, उसके

अन्दर जो निर्भरता की भावना है उसकी पूर्ति धर्म में होती है और ईश्वर को माने बिना धार्मिकता की रक्षा नहीं होती. ईश्वर और मनुष्य के बीच भेद भी होता है और सम्बन्ध भी.

मनुष्य समय और दिक् की सीमा में निहित रहता है. किन्तु, ईश्वर काल और दिक् की सीमा से परे है, बाहर है. ईश्वर एक सृष्टा है ,उसी ने विश्व की सृष्टि की है. मानव सृष्टि का महत्वपूर्ण जीव है. ईश्वर ने विश्व के शुभ-अशुभ विषयों का निर्माण किया है, परन्तु मानव को विश्व का सृष्टा नहीं कहा जा सकता. वह तो स्वतः एक ईश्वरीय सृष्टि है. इस दृष्टि से मानव और ईश्वर में बहुत भेद है.

ईश्वर शाश्वत है. उसका न आदि है और न अंत. ईश्वर की उत्पत्ति किसी विशेष समय में नहीं होती. इस प्रकार ईश्वर अनन्त है. परन्तु मानव दूसरी ओर अशाश्वत है. उसका आविर्भाव विशेष समय में हुआ है. ईश्वर एक पूर्ण जीव है. उसमें किसी प्रकार का अभाव नहीं है. वह हर एक दृष्टि से परिपूर्ण है. इसके विपरीत मानव में अनेक अपूर्णतायें पाई जाती हैं.

शारीरिक दृष्टि से देखने पर यह कहा जा सकता है कि मानवीय व्यक्तित्व में मन और स्नायुमण्डल है,जब कि ईश्वरीय व्यक्तित्व में इन चीजों का अभाव है. ईश्वर का कोई भौतिक शरीर नहीं है,जैसा कि मानव में पाया जाता है. यद्यपि ईश्वर और मनुष्य दोनों में चेतना पाई जाती है. फिर भी दोनों में अन्तर है. ईश्वर की चेतना पूर्ण है, जब कि मानवीय चेतना आंशिक और अपूर्ण है.

इस्लाम धर्म के अनुसार मानव ईश्वर का दास है, तथा ईश्वर मानव का अभिभावक है. दास और स्वामी के बीच जो संबंध है,वही संबंध मानव और ईश्वर के बीच है. ईश्वर और मानव दोनों व्यक्ति हैं. ईश्वर मानव के प्रति प्रेम और करुणा का भाव रखता है. मानव ईश्वर को प्रेम और आत्मसमर्पण के द्वारा अपना सकता है. मानव को ईश्वर-प्राप्ति के लिए अपने व्यक्तित्व का

त्याग करना अनिवार्य है तथा उसे ईश्वर के सम्मुख अपने को तुच्छ समझना नितांत आवश्यक है. इस्लाम धर्म में अल्लाह और मानव के बीच किसी प्रकार की खाई नहीं रह जाती है. इनके अनुसार मनुष्य ईश्वरत्व को प्राप्त कर सकता है. मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है. उसे अपने चरम उद्देश्य के लिए ईश्वर की कृपा पर निर्भर नहीं रहना पड़ता है. ईसाई धर्म के अनुसार मनुष्य ईश्वर की सृष्टि है. ईश्वर ने मनुष्य को अपने अनुरूप बनाया है. इसलिए ईसाई धर्म में मनुष्य को ईश्वर की प्रतिमा कहा जाता है. परन्तु ईसाई-धर्म में इस बात पर बल नहीं दिया गया है कि मानव ईश्वरतुल्य है. ईसाई-धर्म के अनुसार मनुष्य ईश्वर की करुणा का पात्र है. ईश्वर की तरह मानव व्यक्ति है. मानव में न्याय, धर्म, प्रेम आदि गुण पूर्ण रूप से निहित हैं. ईश्वर की कृपा के बिना मनुष्य मुक्ति का भागी नहीं हो सकता. इस प्रकार ईसाई धर्म में मानव और ईश्वर के बीच एक खाई रह जाती है. मानव अपने प्रयासों के बावजूद ईश्वर से तदाकार नहीं हो सकता. ईसाई धर्म में मानव ईश्वरत्व को नहीं अपना सकता. हिन्दू धर्म में मानव और ईश्वर के बीच खाई नहीं है. मानव अपने प्रयत्नों से मोक्ष को अपना सकता है. शंकर एक वादी हैं. उनका कहना है कि संसार में जितने भी परिवर्तन हो रहे हैं, वे रूपमात्र हैं. उनके अनुसार शरीर और मन ये एक अंतिम सत्य ब्रह्म की आकृतियां (रूप) हैं. इस प्रकार मनुष्य की आत्मा ही ब्रह्म है. इसको अद्वैतवाद कहा गया है, क्योंकि यहां यह प्रश्न पूछने पर कि क्या ईश्वर और मनुष्य दो हैं ? इसका उत्तर नहीं में दिया गया है. गांधीजी अपने को अद्वैतवाद का समर्थक मानते हैं, किन्तु शंकर का अद्वैत वे नहीं मानते. वे संसार को केवल आकृति नहीं मानते. उन्होंने एकवाद को लेकर उसे अद्वैत कहा है. वैष्णव भी एक वादी दर्शन है, किन्तु, वह शंकर का विरोध करते हैं. इनके अनुसार बाह्य वस्तुएं, शरीर-आत्मायें ये सब ब्रह्म के केवल रूप नहीं हैं, बल्कि वास्तविक हैं. गांधी जी के अद्वैतवाद के अन्दर ये दोनों ही दर्शन आ जाते हैं.

गांधी जी ने ईश्वर को प्रभु कहा है और मनुष्य को ईश्वर का दास. वे पुनः कहते हैं कि मनुष्य जो ईश्वर या जो परम शक्ति है, उसका अंश है. गांधी जी ने ईश्वरत्व और मानवत्व को एक माना है. एक जगह उन्होंने कहा है कि -- " हमारे शरीर अनंत हैं, किन्तु हमारी आत्मा एक है । सूर्य का

किरणें परावर्तन के कारण विलग लगता हैं। किन्तु उनका उद्गम एक है।[39]

गांधी जी ने अपने को स्पष्टरूप से अद्वैतवादी कहा है, वे कहते हैं,--" मनुष्य और ईश्वर यहां तक कि जीवनमात्र तत्वतः एक है।[40] मनुष्य ईश्वर की प्रतिमूर्ति है.

गांधी जी एक तरफ कहते हैं कि मनुष्य ईश्वर नहीं हैं, दूसरी तरफ कहते हैं कि न ही मनुष्य ईश्वर के प्रकाश से अलग है, इस तरह यहां मनुष्य और ईश्वर में सम्बन्ध भी पाते हैं और अन्तर भी, व्यक्ति ईश्वर के जीवन का एक अद्भुत केन्द्र है.

भारतीय ईश्वरवादी यह नहीं मानते कि मनुष्य की आत्मा का सृष्टा ईश्वर है, उनके अनुसार आत्मायें मौलिक होती हैं, उनका सम्बन्ध अवश्य ईश्वर से रहता है, वे ईश्वर पर निर्भर करती हैं.

शारीरिक तथा मानसिक दृष्टिकोण से प्रत्येक मनुष्य भिन्न-भिन्न तरह का होता है, मनुष्य के ऊपर उसकी अन्तः-बाह्य सभी क्रियाओं का असर पड़ता है, यही क्रियायें उसके शरीर, चरित्र,भाग्य को बनाती हैं, इसलिए मनुष्य सत्य के प्रति अज्ञान रहकर, चेतना के प्रति उदासीन रहकर,पशुओं की तरह अपनी इच्छाओं को पूरी करके अपने को पशु की तरह नीचा भी बना सकता है, इसके विपरीत रास्ता अपना कर वह ईश्वर की तरह भी बन सकता है, गांधी जी ने गीता की तरह कहा है,--" अपने को ऊंचा उठाओ अपने द्वारा, निराश मत हो, तुम स्वयं अपने मित्र हो, तुम स्वयं अपने शत्रु हो.[41] पशुओं में अपने को ऊंचा उठाने के लिए मनुष्य को अपनी पाशविक प्रवृत्तियों को रोकना चाहिए, पशु स्वभाव से स्व-नियंत्रण करना नहीं जानता, गांधी जी ने अपनी आत्मकथा में कहा है कि निम्न स्तर की प्रवृत्तियों के बदले जैसे ईर्ष्या,द्वेष ,स्वार्थ के बदले प्रेम, सेवा आदि अच्छी भावनायें आ जायें तो मानव-विकास संभव है, गांधी जी के अनुसार मनुष्य दिन-प्रतिदिन प्रगति कर रहा है, मनुष्य में जितनी क्षमता है वह उसे ऊपर उठा रही है और यह सब प्रेम, अहिंसा के फलस्वरूप है.

(५) ईश्वर और विश्व

विश्व की सृष्टि कब हुई, इसके बारे में भिन्न-भिन्न मत प्राप्त हुए हैं. पाश्चात्य देशों के कुछ लोगों का मत है कि विश्व की सृष्टि प्राय: छ: हजार वर्ष पूर्व हुई है तथा केवल मनुष्य के लिए ही हुई है. किन्तु यह मत अत्यन्त संकीर्ण है. इस मत के अनुसार मनुष्य को अधिक महत्त्व दिया गया है. डार्विन प्रभृति जीव-विज्ञान के पंडितों के आविष्कारों के अनुसार संसार के सभी जीवों की सृष्टि एक साथ नहीं हुई है, वरन् उनका क्रमिक विकास हुआ है. इस प्रकार ऐसा नहीं कहा जा सकता कि सृष्टि का प्रारम्भ अमुक समय में हुआ.

यह संसार ईश्वर की सृष्टि है. ईश्वर विश्व में व्याप्त है. विश्व ईश्वर पर आश्रित है और कभी विश्व से अलग नहीं हो सकता. विश्व ईश्वर के अभाव में एक घड़ी भी नहीं टिक सकता. यद्यपि ईश्वर विश्व में व्याप्त है, फिर भी वह विश्व में समाप्त नहीं हो जाता, बल्कि विश्व से परे अपनी सत्ता कायम रखता है. विश्व का स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं है. ईश्वर विश्व का स्रष्टा होने के साथ ही साथ पालक और रक्षक भी है.

हिन्दू धर्म में विश्व को ब्रह्माण्ड कहा जाता है. विश्व का विकास कर्ता ईश्वर को माना गया है. हिन्दू धर्म के अनुसार संसार ईश्वर की सृष्टि है, यह विश्व की उत्पत्ति शून्य से नहीं मानता है. हिन्दू धर्म विश्व का उपादान तथा निमित्त कारण ईश्वर को मानता है. ईश्वर विश्व का विकास अपने अन्दर से करता है. यद्यपि हिन्दू धर्म का यह सामान्य सिद्धांत है, फिर भी कुछ ऐसे विचार मिलते हैं, जिनमें ईश्वर को विश्व का उपादान एवं निमित्त कारण नहीं बतलाया गया है. नैयायिकों का कथन है कि ईश्वर विश्व का निर्माण चार प्रकार के परमाणुओं से करता है-- पृथ्वी के परमाणु, जल के परमाणु, वायु के परमाणु, अग्नि के परमाणु विश्व के उपादान कारण हैं. सांख्य दर्शन में विश्व का विकास अचेतन प्रकृति से हुआ है. जब प्रकृति की साम्यावस्था का खण्डन होता है तब विभिन्न विषयों का विकास होता है. सर्वप्रथम प्रकृति से महत् अर्थात् बुद्धि का

विकास होता है, महत् से अहंकार का विकास होता है, सबसे अन्त में पंचमहाभूत का विकास होता है. सांख्य के अनुसार विश्व के विकास में ईश्वर का कोई हाथ नहीं है, क्योंकि सांख्य ईश्वर की सत्ता का मण्डन नहीं करता. जैन धर्म में ईश्वर के अस्तित्व का खण्डन किया गया है, इसलिए वे विश्व का सृष्टि करने के लिए ईश्वर को नहीं मानते, बल्कि वे उसका खण्डन करते हैं. उनके अनुसार यदि ईश्वर को विश्व का कर्ता माना जाय तो कठिनाई होगी. जिस प्रकार किसी कार्य के सम्बन्ध में हम देखते हैं कि उसका निर्माता बिना शरीर के कार्य नहीं करता, उसी प्रकार यदि ईश्वर को अवयवहीन माना जाय तो वह जगत् की सृष्टि नहीं कर सकता. बौद्धधर्म के अनुसार ईश्वर नित्य एवं पूर्ण है, और विश्व कार्यकारण के नियम से संचालित होता है. सारा विश्व उत्पत्ति और विनाश के नियम से शासित है. विश्व परिवर्तनशील एवं अनित्य है. इस नश्वर एवं परिवर्तनशील जगत् का स्रष्टा ईश्वर को ठहराना जो नित्य एवं अपरिवर्तनशील है, असंगत है. अतः ईश्वर विश्व का स्रष्टा नहीं है. यदि थोड़े समय के लिए ईश्वर को विश्व का स्रष्टा मान लिया जाय तो अनेक कठिनाइयाँ उपस्थित हो जाती हैं. यदि ईश्वर विश्व का निर्माता है तो विश्व में भी परिवर्तन एवं विनाश का अभाव होना चाहिए. फिर ईश्वर को विश्व का स्रष्टा मानने से यह विदित होता है कि ईश्वर विश्व का निर्माण किसी प्रयोजन से करता है, इस प्रकार यहाँ उसकी अपूर्णता लक्षित होती है, क्योंकि प्रयोजन किसी-न-किसी कमी को ही अभिव्यक्त करती है. बुद्ध के अनुसार हर एक वस्तु कार्य-कारण के नियम से संचालित होती है. कोई भी ऐसी वस्तु नहीं है, जो अकारण हो. पेड़, पौधे, मनुष्य सभी कार्य-कारण के नियम के अधीन हैं. कारण का नियम विश्व के प्रत्येक क्षेत्र में काम करता है. कुछ लोग कारण नियम के संचालक के रूप में ईश्वर को मानने का प्रयास कर सकते हैं, परन्तु बुद्ध के अनुसार कारण-नियम के स्रष्टा के रूप में ईश्वर को मानना दोषपूर्ण है, क्योंकि ऐसा मानने से ईश्वर की अपूर्णता प्रमाणित हो जायेगी. इस प्रकार उन्होंने भी ईश्वर को विश्व का स्रष्टा नहीं माना. वैशेषिक के अनुसार सृष्टि और संहार के कर्ता ईश्वर हैं. उन्हीं की इच्छा से संसार की सृष्टि होती है, उन्हीं की इच्छा से प्रलय होता है. वे जब चाहते हैं तब ऐसा संसार बन जाता है, जिसमें सभी जीव अपने-अपने कर्मों के अनुसार सुख-दुःख का भोग

करते हैं, जब जीवों के पाप-पुण्य को ध्यान में रखते हुए ईश्वर नव-सृष्टि की रचना करता है. वायु परमाणुओं के संयोग से (स्पर्श गुण, द्व्यणुक आदि क्रमसे) वायु-महाभूत की उत्पत्ति होती है जो नित्य आकाश में निरन्तर प्रवाहित होने लगता है. वहाँ तरह जल परमाणुओं के संयोग से जल-महाभूत की उत्पत्ति होती है, जो वायु में अवस्थित होकर उसी के द्वारा प्रवाहित होने लगता है. इसी तरह पृथ्वी के परमाणुओं से पृथ्वी का महाभूत उत्पन्न होता है और तेज परमाणुओं में गति उत्पन्न होने से तेज-महाभूत बनता है. ये दोनों जल-महाभूत में अवस्थित रहते हैं. तदनन्तर ईश्वर के अभिध्यान मात्र से विश्व का गर्भस्वरूप ब्रह्माण्ड उत्पन्न हो जाता है, जो पार्थिव और तैजस् परमाणुओं का बाजरूप है. न्याय और सांख्य दर्शनों को छोड़कर समस्त हिन्दू धर्म ईश्वर को ही विश्व का उपादान एवं निमित्त कारण मानता है. ईश्वर विश्व का स्रष्टा, पालनकर्ता और संहर्ता है. सभी विषयों का विकास ईश्वर ही से होता है और प्रलय के समय सभी वस्तुएं ईश्वर में मिल जाती हैं.

यहां यह प्रश्न उठाया गया है कि ईश्वर ने विश्व का निर्माण किस प्रयोजन से किया है? यदि यह माना जाये कि ईश्वर ने किसी स्वार्थ के वशीभूत होकर विश्व का निर्माण किया है तो ईश्वर की पूर्णता खंडित हो जाती है. हिन्दू धर्म इस समस्या का समाधान यह कहकर करता है कि सृष्टि ईश्वर का खेल है. ईश्वर अपनी क्रीडा के लिए विश्व की रचना करता है. सृष्टि करना ईश्वर का स्वभाव है. सृष्टि के पीछे ईश्वर का अभिप्राय खोजना अमान्य है.

इस्लाम धर्म में कहा गया है-- अल्लाह विश्व का स्रष्टा है और विश्व अल्लाह की सृष्टि है. ईश्वर ने विश्व को जैसा चाहा है वैसा बनाया है. भौतिक विश्व ईश्वर पर आधारित है, क्योंकि विश्व का नियामक ईश्वर है. इसका परिणाम यह है कि भौतिक विश्व पूर्णत: वास्तविक है. ईश्वर के अच्छा होने के फलस्वरूप उसकी सृष्टि-- यह विश्व-- भी अच्छा है. इसलिए विश्व में किसी प्रकार का दोष नहीं दिखता. ईसाई धर्म में विश्व को सत्य माना गया है. ये मानते हैं कि विश्व का निर्माण ईश्वर ने किया है. इनके अनुसार ईश्वर ने

विश्व का निर्माण शून्य से किया है, यद्यपि शून्य से किसी वस्तु का निर्मित होना असान्य जंचता है, क्योंकि शून्य से शून्य का ही प्रादुर्भाव होता है, फिर भी ईसाई धर्म में शून्य से विश्व का प्रादुर्भाव माना गया है, अब प्रश्न उठता है कि ईश्वर ने विश्व का निर्माण क्यों किया ? यदि यह कहा जाये कि ईश्वर ने विश्व का निर्माण किसी प्रयोजन की पूर्ति के लिए किया है तब यहां ईश्वर की पूर्णता का खण्डन होता है, ईसाई धर्म में कहा जाता है कि ईश्वर ने विश्व की सृष्टि प्रेम के वशीभूत होकर की है, यही कारण है कि ईसामसीह ने प्रकृति को उल्लास और विश्वास की भावना से देखा है, सम्पूर्ण विश्व ईश्वर पर आश्रित है, ईश्वर विश्व की सृष्टि ही नहीं करता, बल्कि उसे व्यवस्थित भी रखता है, विश्व ईश्वर से भिन्न है, विश्व ईश्वर से भिन्न होने के कारण पूर्ण नहीं है, विश्व में अनेक प्रकार के अशुभ तत्व हैं, ईसाई धर्म में अशुभ को विश्व की विशेषता माना गया है, मानव ने इच्छा-स्वातन्त्र्य का उचित प्रयोग नहीं किया, जिसके फलस्वरूप अशुभ का विकास हुआ, अशुभ का कारण स्वयं मानव है, ईश्वर नहीं, जो कुछ भी कारण हो अशुभ का रहना विश्व की अपूर्णता का प्रतीक है, ईसामसीह का विश्व के प्रति दृष्टिकोण उनके ईश्वर विचार से प्रस्फुटित हुआ है, वे बताते हैं कि विश्व ही वह स्थल है जहां मानव अपनी मुक्ति के लिए प्रयत्नशील रहता है, इस दृष्टि से विश्व की महत्ता बढ़ जाती है, वन, उपवन, नदी, पुष्प आदि प्रकृति के सारे उपादान ईश्वर की देन हैं और उसी की संरक्षता में विकास को प्राप्त होते हैं, ईश्वर प्रकृति के ही माध्यम से अपने-आपको प्रकाशित करता है, मानव प्रकृति के माध्यम से ईश्वर का दर्शन कर सकता है, प्रकृति से ईश्वर तक पहुंचा जा सकता है, परन्तु इससे यह निष्कर्ष निकालना कि प्रकृति और ईश्वर अभिन्न हैं, भ्रांतिमूलक होगा, विश्व को ईश्वर से भिन्न माना गया है, ईश्वर को चरम सत्य कहा जाता है, परन्तु विश्व को चरम सत्य कहना भूल है, विश्व एक सृष्टि है, सृष्टि होने के नाते यह पूर्ण नहीं है,

गांधी जी के अनुसार विश्व या प्रकृति अनादि और अनन्त है, पर इसके साथ ही वह परमात्मा के अधीन है, उसी के द्वारा निर्मित है, इसी को हम माया कहते हैं, इसी को लीला भी कह सकते हैं, कुछ लोगों की दृष्टि में

मायावाद और लीलावाद में भेद है. उनका कहना है कि मायावाद में परम सत् एकमात्र परमात्मा है, जब कि लीलावाद में परमात्मा के अतिरिक्त प्रकृति भी है. दोनों के अनुसार विश्व का आधार ब्रह्म ईश्वर ही है. गांधी जी ने मायावाद और लीलावाद के विवाद से अपनी स्वतंत्र दृष्टि निकाली है. मायावाद के अनुसार परमात्मा और विश्व का सम्बन्ध नेति-नेति द्वारा व्यक्त किया जाता है. गांधी जी ने इसे माना है. उनके अनुसार ईश्वर विश्व के बिना भी रह सकता है, किन्तु विश्व किसी भी अर्थ में ईश्वर के बिना नहीं रह सकता है. गांधी जी ने मायावाद और लीलावाद का समन्वय करते हुए कहा है कि --" परमात्मा सबसे बड़ा जगत विदित प्रजातंत्रवादी है, क्योंकि वह हमें भलाई और बुराई में अपना पसंद करने के लिए बन्धन रहित या मुक्त किए हुए है। वह सबसे बड़ा जगत प्रसिद्ध निरंकुश शासक भी है. क्योंकि वह हमारी आशाओं पर पानी फेर देता है और स्वतंत्रेच्छा की आड़ में बहुत ही अपर्याप्त प्रकार हमको केवल इसलिए देता है कि हम अपनी हानि करके उसको आनंद दें। इसी कारण हिन्दू धर्म इस (जगत) को उसकी लीला कहता है या इस सबको माया कहता है।[४२]" गांधी जी अपने को अद्वैती बनाये रखते हैं. वे मायावाद से मिलती-जुलती लीला का समर्थन करते हैं.

सृष्टि के आदि का इतिहास जानने में कोई लाभ नहीं है. इसलिए गांधी जी ने योगानंद स्वामी से कहा--" जगत् की उत्पत्ति कैसे हुई, और क्यों हुई, इन सब प्रश्नों की चिन्ता में मैं कैसे पड़ूं?[४३]" गांधी जी कहते हैं जिन बातों का हम कोई और छोर नहीं निकाल सकते उनमें हमें माथा पच्ची नहीं करना चाहिए इस प्रकार गांधी जी ने मायावाद लीलावाद अथवा ऐसे ही किसी अन्यवाद पर माथापच्ची करना सचमुच अनावश्यक समझा. गांधी जी ने विश्व-विचार एक शृंखलाबद्ध रूप में प्रस्तुत नहीं किया है. विश्व के संदर्भ में उनके विचार बिखरे हुए मिलते हैं. यहां मैंने उसे एक शृंखला में प्रस्तुत करने का प्रयास किया है.

गांधी जी के लिए प्रकृति परमात्मा का बाह्य प्रकाशित रूप है. गांधी जी के शब्दों में --" ईश्वर अपने को विश्व के अनेक पदार्थों में विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त करता है तथा उसकी सारी अभिव्यक्तियों के प्रति मेरा श्रद्धा है.[४४]" इन पंक्तियों से गांधी का विश्व सम्बन्धित विचार स्पष्ट झलकता है.

भारतवर्ष में प्रकृति की छटा निराली है. टैगोर ने भी प्रकृति के प्रति अपना आभार व्यक्त किया है तथा वे प्रकृति के विभिन्न स्वरूपों से प्रभावित हुए हैं. प्रकृति ने जे०सी०बोस तथा सी०वी० रमन जैसे वैज्ञानिकों को भी आकर्षित किया है. जे०सी० बोस ने पौधों की संवेदनशीलता तथा सी०वी० रमन ने आकाश तथा समुद्र के रंगों से प्रेरणा प्राप्त की तथा नया वैज्ञानिक सिद्धांत प्रस्तुत किया. धार्मिक मनीषियों ने ईश्वर का ध्यान प्रकृति की गोद में जाकर ही किया है. बहुतों ने आध्यात्मिक चेतना को जागृत करने के लिए जंगल, पहाड़ और गंगा के तट अथवा हिमालय की तराई की शरण ली. गांधी जी प्रकृति या विश्व की छटा एवं शक्ति के प्रति जागरूक दिखते हैं. उन्होंने विश्व को ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप में समझने का प्रयास किया है. धीरेन्द्रमोहनदत्त के अनुसार, --" उन्होंने विश्व को ईश्वर की अभिव्यक्ति के रूप में समझना चाहा तथा सभी वस्तुओं में जीवन देखने का प्रयास किया है. इस तरह जीव और अजीव के भेद को भी नहीं माना."[४५]

गांधी जी ने सदा प्रकृति की शरण लेने की बात कही है. प्राकृतिक चिकित्सा पर गांधी जी ने बहुत कुछ किया है. जल, मिट्टी, हवा, धूप का प्रयोग बहुत से रोगों को दूर करने के लिए लाभदायक बताया. गांधी जी ने प्रकृति या विश्व की शक्ति की परीक्षा तथा प्राकृतिक चिकित्सा का प्रयोग कुछ लोगों के जीवन पर किया जब कि इस वैज्ञानिक युग में एक-से-एक दवाइयां उपलब्ध हैं. वे धरती के साथ सम्पर्क स्थापित करने के लिए नंगे पांव चलते थे. उनका शरीर हवा, पानी और धूप के सम्पर्क में रहा. प्रकृति के समीप रहने वाला व्यक्ति स्वस्थ रहेगा ऐसी गांधी जी की मान्यता थी. शारीरिक ही नहीं बल्कि आध्यात्मिक स्वास्थ्य के लिए भी गांधी जी प्रकृति की ओर झुकते हैं.

गांधी जी के अनुसार ईश्वर को जानने के लिए विश्व तथा मानव से सम्पर्क स्थापित करना पड़ेगा, क्योंकि ईश्वर विश्व तथा मानव में ही प्रकाशित रूप में है.[४६]

(६) प्रार्थना की उपयोगिता

प्रार्थना का अर्थ है-- धर्म भावना और आदरपूर्वक ईश्वर से कुछ माँगना, किन्तु किसी भक्ति-भाव युक्त कार्य को व्यक्त करने के लिए भी इस शब्द का प्रयोग किया जाता है. गांधी जी कहते हैं-- " मैं अपने आपसे, अपने उच्चतम रूप से, वास्तविक आत्मा से याचना करता हूं, जिसके साथ मैं अभी तक पूर्ण एकता स्थापित नहीं कर सका हूं । इसलिए आप इसका वर्णन यों कर सकते हैं कि जिस परमात्मा में सब समाये हुए हैं, उसमें अपने-आपको खो देने का सतत् आकांक्षा करना ही प्रार्थना है । अभियुक्त क्रियायें कब करना चाहिए, इसका कोई निश्चित नियम नहीं हो सकता. ये क्रियायें हमें शान्त और नम्र बनाने के लिए होती हैं और इसी रूप इस बात का अनुभव कर सकते हैं कि उसकी इच्छा के बिना कुछ भी नहीं हो सकता है और हम तो उस प्रजापति के हाथ में मिट्टी के पिंड हैं. मनुष्य अपने भूतकाल का निरीक्षण करता है. अपनी दुर्बलता को स्वीकार करता है और क्षमा याचना करते हुए अच्छा बनने की और अच्छा कर्म करने की शक्ति के लिए प्रार्थना करता है.

गांधी जी कहते हैं कि दिन का काम प्रार्थना से शुरू करना चाहिए और उसमें इतनी आत्मा उंडेलनी चाहिए कि वह शाम तक साथ बनी रहे. दिन का अंत भी प्रार्थना के साथ करना चाहिए, ताकि रात शान्तिपूर्ण तथा सपनों और दुःस्वप्नों से मुक्त रहे. प्रार्थना के स्वरूप की चिन्ता नहीं करना चाहिए. स्वरूप कैसा भी हो सिर्फ यह ध्यान रखना चाहिए कि प्रार्थना के समय मन इधर-उधर न भटकने पाये. प्रार्थना के लिए नम्रता का होना अति आवश्यक है. गांधी जी कहते हैं, --" जब तक तुम अपने आपको शून्य नहीं बना लोगे, तब तक तुम्हें ईश्वर या प्रार्थना का अर्थ मालूम नहीं होगा । तुममें यह समझने लायक नम्रता होनी ही चाहिए कि तुम्हारी महानता और जबरदस्त बुद्धि के बावजूद तुम विश्व में एक बिन्दु के समान ही हो । जीवन की बातों का निरा बौद्धिक कल्पना काफी नहीं होता । बुद्धि के लिए अगम्य आध्यात्मिक

कल्पना ही ऐसी चीज है जो मनुष्य को संतोष दे सकती है । धनवान लोगों के जीवन में भी नाजुक समय आते हैं । यद्यपि उनके चारों ओर वे सब चीजें होती हैं जो रुपये से खरीदी जा सकती हैं और प्रेम से मिल सकती हैं, फिर भी अपने जीवन में उन्हें कुछ अवसरों पर थोड़ी भी सान्त्वना नहीं मिलती । जिन्हीं अवसरों पर हमें ईश्वर की झांकी होती है, उसके दर्शन होते हैं, जो जीवन में हर कदम पर हमें रास्ता बता रहा है । यही प्रार्थना है ।[४८]

ईश्वर मनुष्य, जड़ चेतन, सभी पदार्थों में है, प्रार्थना का अर्थ है कि मैं अपने भीतर रहने वाले उस ईश्वर को पुकारता हूं, जगाता हूं ।[४९] पुन: कहते हैं-- प्रार्थना धर्म की आत्मा और उसका सार है । इसलिए प्रार्थना मानव जीवन का मर्म होना चाहिए, क्योंकि कोई मनुष्य धर्म के बिना जी नहीं सकता ।[५०] प्रार्थना जैसे धर्म का सबसे मार्मिक अंग है, वैसे ही मानव जीवन का है. प्रार्थना या तो याचना रूप होती है या व्यापक अर्थ में यह ईश्वर भीतरी लौ लगाना है. दोनों ही अर्थों में अंतिम परिणाम एक ही होता है. जब वह याचना के रूप में हो तब याचना आत्मा की सफाई और शुद्धि के लिए, उसके चारों ओर लिपटे हुए अज्ञान और अंधकार के आवरण हटाने के लिए होनी चाहिए. अत: जो अपने भीतर दिव्य ज्योति जगाना चाहता है, उसे प्रार्थना का सहारा लेना होगा. किन्तु प्रार्थना केवल मंत्र-जाप नहीं है. प्रार्थना में शब्दों के बिना हृदय होना, हृदय के बिना शब्द होने से बेहतर है. जिस प्रकार भूखा व्यक्ति भोजन पाने पर मजा लेता है, उसी तरह आत्मा को प्रार्थना में आनंद आता है. प्रार्थना से ही भीतरी शांति मिलती है.

प्रार्थना आत्मा की ध्वनि है. प्रार्थना को गांधी जी ने आत्मा की खुराक कहा है. इसके बिना आत्मा का हनन होता है. ईश्वर की चर्चा करना, उसके निमित्त कार्य करना, उसको अर्पण करके सभी कर्म करना, सब प्रार्थना में ही आते हैं. प्रार्थना जितनी की जाये उतना ही अच्छा है. प्रार्थना में अतिशून्यता जैसी कोई चीज नहीं है. गांधी जी कहते हैं-- प्रार्थना के लिए हम जितना समय दे सकें उतना ही अच्छा है. यहां तक कि अन्त में हम प्रार्थनामय बन जायें.

प्रार्थना करने से हृदय और बुद्धि के सामने सदैव सद्विचार तथा सद्भावनायें रहती हैं, जिनसे मनुष्य गलतियां करने से बच जाता है. प्रार्थना न करने वालों को कभी अपनी गलतियों से बचने का मार्ग पहले से नहीं सूझता है और न वह कभी अपनी गलतियों को मानता ही है. गांधी जी ने प्रार्थना के बारे में कहा कि "प्रार्थना अपनी कमजोरी और अयोग्यता की कबूलना है।"[51] वे पुन: कहते हैं, --" प्रार्थना अपने हृदय को टटोलना है ।.... अपनी नम्रता को स्मरण करना है.... अपने को शुद्ध करना है।"[52] "प्रार्थना का अर्थ है कि हम ईश्वर को अपने में देखना चाहते हैं" "प्रार्थना ईश्वर से कुछ मांगना है या ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करना है।"[53] या "ईश्वर से मिलने की आत्मा की अत्यन्त भावुक चीख है।"[54] हमारी प्रार्थना तो अपने ही हृदय की छान-बीन है. वह तो हमें ही यह स्मरण कराती है कि हम बिना प्रभु के सहारे के लाचार हैं. गांधी जी कहते हैं," सच्ची प्रार्थना वह है जो बुद्धि संगत और निश्चल है । हमें उसके साथ एकाकार होना पड़ता है । ज़बान पर अल्लाह का नाम लेते और माला जपते हुए हमारा मन इधर-उधर भटकता हो तो वह बेकार है।"[55] हृदय की सच्ची प्रार्थना से हमें सच्चे कर्त्तव्य का पता चलता है. प्रत्यक्ष सेवा के लिए योग्यता प्राप्त करने के लिए हम प्रार्थना करते हैं. मगर जहां प्रत्यक्ष कर्त्तव्य आ पड़े, वहां प्रार्थना उसमें समा जाती है. आखिर में कर्त्तव्य करना ही प्रार्थना बन जाता है.

गांधी जी का विश्वास है कि एक ऐसा नियम या सृष्टि का कर्ता है, जो जगत् में हर व्यक्ति और समष्टि को प्राणगति अथवा उन्नति करने की प्रेरणा देता है. उस नियम या कर्ता को सब कुछ मालूम है और वह तीनों कालों का ज्ञाता है. उसका उद्देश्य यह है कि सम्पूर्ण सृष्टि का उच्च से उच्चतर और उच्चतर से उच्चतम आध्यात्मिक तथा नैतिक विकास हो. यह विकास-वृत्ति ही मनुष्य का मूल प्राण है । और इस विकास से मनुष्य की आत्मा को सच्चा, समग्र अथवा सम्पूर्ण सन्तोष मिल सकता है, इसलिए मनुष्य को एक ही वस्तु की विशेष आवश्यकता है, वह यह कि मनुष्य अखिल ब्रह्माण्ड की शक्ति से ऐसी प्रार्थना करे कि वह उसे आध्यात्मिक और नैतिक विकास का मार्ग बताये. इसके सिवा, ब्रह्माण्ड के पीछे रही शक्ति की भी यही इच्छा है, इसलिए मनुष्य

प्रार्थना करता है. परन्तु प्रभु की इच्छा पूर्ण हो, इसके लिए मनुष्य को अपनी स्वार्थपूर्ण इच्छा का क्षय करना होगा, इसीलिए प्रत्येक धर्म की मूलभूत साधना मनुष्य के अहंकार को घटाने के लिए होती है. गांधी जी कहते हैं कि हम अपने में मर जायें जिससे प्रभु हमारे अन्दर आ बस जाये. जब ममत्व की मृत्यु होती है, तभी मनुष्य के हृदय और जीवन में ईश्वर का प्रत्यक्ष उद्भव होता है, उसके पश्चात् जैसे-जैसे उसके प्रत्येक श्वास में दासत्व का भाव पुष्ट होता है, वैसे-वैसे उसके हृदय से प्रभु के स्थायी सहवास के लिए प्रार्थना या पुकार निकलती है और यही सच्ची प्रार्थना है. ईश्वर की पूजा करना उसका गुणगान करना है. अपनी अयोग्यता और दुर्बलता को स्वीकार करना ही प्रार्थना है. जब हम सारी आशा छोड़कर बैठ जाते हैं-- हमारे दोनों हाथ टिक जाते हैं, तब कहीं न कहीं से मदद आ जाती है-- स्तुति, प्रार्थना वहम नहीं है, बल्कि हमारा उठना-बैठना, खाना-पीना जितना सच है उससे भी अधिक सच प्रार्थना है.

गांधी जी प्रार्थना की उपयोगिता पर ज़ोर देते हुए कहते हैं कि हमारा जन्म अपने मानव-बंधुओं की सेवा के लिए हुआ है. यह काम हम अच्छी तरह नहीं कर सकते, जब तक हम पूर्णरूप से जाग्रत न रहें. मनुष्य के हृदय में अंधकार और प्रकाश की शक्तियों में सतत् संग्राम होता रहता है, अतः जिसके पास प्रार्थना का आधार नहीं है, वह अवश्य अंधकार की शक्तियों का शिकार हो जायेगा. प्रार्थना करने वाला मनुष्य अपने मन में शांति का अनुभव करेगा और संसार के साथ भी उसका सम्बन्ध शांति का होगा. हमारे दैनिक कार्यों में व्यवस्था, शांति और संवादिता लाने का एकमात्र उपाय प्रार्थना है.

ईश्वर के सहस्र नाम हैं या वह नाम-रहित है. गांधी जी के अनुसार हमें जो भी नाम पसंद हो उसी से उसकी पूजा या प्रार्थना कर सकते हैं. कुछ लोग उसे राम कहते हैं, कुछ कृष्ण और कुछ रहीम कहते हैं और कुछ उसे गॉड कहते हैं. सब उसी परम तत्व की पूजा करते हैं, परन्तु जैसे सब आहार सब को अनुकूल नहीं पड़ते, वैसे सब नाम सबको नहीं जंचते. हर एक अपने-अपने संस्कारों

के अनुसार अपना प्रिय नाम चुन लेते हैं. ईश्वर अन्तर्यामी, सर्वशक्तिमान् और सर्वज्ञ होने के कारण हमारे भीतरी भाव जानता है और हमारी पात्रता के अनुसार हमें फल देता है.

हमारी प्रार्थना का अर्थ है अंतर का शोधन करना. प्रार्थना के द्वारा हम अपने को ही यह याद दिलाते हैं कि ईश्वर के सहारे के बिना हम असहाय हैं. हमारा कोई भी प्रयत्न ईश्वर -प्रार्थना के बिना निष्फल ही है. मनुष्य के जिस प्रयत्न के पीछे ईश्वर का आशीर्वाद नहीं, वह कितना ही अच्छा क्यों न हो, बेकार ही जाता है. प्रार्थना से हम विनम्र बनते हैं. प्रार्थना हमें आत्म-शुद्धि की ओर ले जाती है.

इसलिए पूजा या प्रार्थना वाणी से नहीं, हृदय से करने की चीज़ है, और यही कारण है कि गूंगा, तुतलाने वाला, अज्ञानी और मूर्ख सभी उसे समान रूप से कर सकते हैं. यहीं गांधी जी कहते हैं--" बड़े से बड़े अपवित्र या पापी मनुष्य की प्रार्थना भी सुनी जायेगी. यह मैं अपने व्यक्तिगत अनुभव पर से कहता हूं।" किन्तु जिनकी वाणी में अमृत परन्तु हृदय में विष भरा होता है, उनकी प्रार्थना कभी नहीं सुनी जाती, इसलिए जिसे ईश्वर की प्रार्थना करनी हो उसे अपनी आत्म-शुद्धि कर लेनी होगी. गांधी जी कहते हैं,--" हृदय में उतरी हुई प्रार्थना में तो फकत इतना ध्यान रहना चाहिए कि उस वक्त उसे किसी दूसरी चीज़ का भान ही न हो।'[57] ईश्वर की प्रार्थना करना और कुछ नहीं, ईश्वर और मनुष्य के बीच की पवित्र मैत्री है. गांधी जी कहते हैं, --" जिनके हृदय में ईश्वर हर समय बसा हुआ है, उनके लिए श्रम ही प्रार्थना है। उनका जीवन निरन्तर चलने वाली पूजा या प्रार्थना ही है। जो लोग पाप के लिए ही जीते हैं, भोग और स्वार्थ के लिए ही जीते हैं, वे तो जितनी प्रार्थना करें उतनी कम है। अगर उनमें धीरज, श्रद्धा और शुद्ध होने का संकल्प हो तो वे उस समय तक प्रार्थना करते रहेंगे, जब तक वे अपने भीतर ईश्वर के निश्चित और पावन प्रभाव को अनुभव न करने लगें। हम साधारण मनुष्यों के लिए इन दो उग्र मार्गों के बीच

का मध्यम मार्ग उचित है । हम यह कह सकने में जितने उन्नत नहीं है कि हमारे सारे कार्य समर्पण के कार्य हैं और न हम इतने गिर गये हैं कि केवल अपने लिए हो जायें । इसलिएसब धर्मों ने सामान्य प्रार्थना के लिए अलग समय नियत कर दिया है । दुर्भाग्य से ये प्रार्थनायें आजकल संपूर्ण नहीं तो निरी यांत्रिक और नाममात्र की जरूर हो गई हैं । इसलिए ज़रूरत इस बात की है कि प्रार्थनायें सच्ची भावना से हों ।[58]

प्रार्थना की हमारे जीवन में बहुत उपयोगिता है, गांधी जी ने उसकी उपयोगिता के ऊपर प्रकाश डालते हुए कहा कि" मैं कह सकता हूं कि कई आध्यात्मिक प्रसंगों में, वकालत के प्रसंगों में, संस्थायें चलाने में, राजनीति में ईश्वर ने मुझे बचाया है ।" मैंने यह अनुभव किया है कि जब हम सारी आशा छोड़कर बैठ जाते हैं, हमारे दोनों हाथ टिक जाते हैं, तब कहीं-न-कहीं से मदद आ पहुंचती है । स्तुति,उपासना,प्रार्थना वहम नहीं है, बल्किहमारा खाना-पीना, चलना-बैठना जितना सच है, उससे भी अधिक सच यह चीज़ है । यह कहने में अतिशयोक्ति नहीं कि यही सच है, अन्य सब झूठ है ।[59] गांधी जी कहते हैं--"प्रार्थना ने ही मेरे जीवन को बचाया । बिना उसके मैं बहुत समय तक विक्षिप्त अवस्था में था ।[60]

आरम्भ में गांधी जी को ईश्वर और प्रार्थना में विश्वास नहीं था, लेकिन बाद में प्रार्थना को उन्होंने अपने जीवन का अनिवार्य अंग बताया है"... मैं आपको यह बता दूं कि जिस अर्थ में सत्य मेरे जीवन का अंग रहा है, उस अर्थ में प्रार्थना मेरे जीवन का अंग नहीं रही है ।वह तो केवल आवश्यकतावश आई, क्योंकि मैं ऐसी स्थिति में पड़ गया जब प्रार्थना के बिना सुखी नहीं हो सकता था । और ईश्वर में मेरी श्रद्धा जितनी बढ़ती गई उतनी ही प्रार्थना की लगन अदम्य होती गई । उसके बिना जीवन निस्तेज और सूना प्रतीत होता था । मैंने दक्षिण अफ्रीका में ईसाई प्रार्थना में भाग लिया था,लेकिन वह मेरे दिल को पकड़ नहीं सकी । मैं प्रार्थना में उनके साथ शरीक नहीं हो सका । वे ईश्वर से भिक्षा मांगते थे, परन्तु मैं नहीं मांग सका ।मैं बुरी तरह असफल हुआ । शुरू में मेरा ईश्वर

और प्रार्थना में विश्वास नहीं था और जीवन में बहुत काल तक मुझे ऐसा महसूस नहीं हुआ कि किसी चीज की कमी है। लेकिन एक समय ऐसा अनुभव हुआ कि जैसे शरीर के लिए अन्न अनिवार्य है, वैसे ही आत्मा के लिए प्रार्थना अनिवार्य है। असल में शरीर के लिए अन्न जितना जरूरी नहीं है, जितनी आत्मा के लिए प्रार्थना, क्योंकि शरीर को स्वस्थ रखने के लिए निराहार रहना अक्सर जरूरी होता है, परन्तु प्रार्थना का उपवास तो हो ही नहीं सकता।[61] गांधी जी कहते हैं कि संसार के तीन महापुरुष -- बुद्ध, ईसा और मुहम्मद अपना अहं अनुभव छोड़ गये हैं कि उन्हें प्रार्थना के द्वारा प्रकाश मिला और उसके बिना जीवित रह सकना सम्भव नहीं. करोड़ों हिन्दू, मुसलमान और ईसाई अपने जीवन का समाधान केवल प्रार्थना से पाते हैं.

मनुष्य और पशु में अन्तर होता है. मनुष्य में अनुशासन संयम होता है. गांधी जी ने प्रार्थना को एक प्रकार का आध्यात्मिक अनुशासन कहा है. अगर हम सिर ऊंचा करके चलने वाले मनुष्य होना चाहते तो अपने आपको अनुशासन और संयम में रखना चाहिए. गांधी जी कहते हैं प्रार्थना मनुष्य केजीवन का हृदय है. जो व्यक्ति संसार में बिना प्रार्थना के रहता है वह स्वयं तो दुखी रहता है, साथ ही संसार को भी कष्टदायी बना देता है. प्रार्थना से ही हमारा दैनिक जीवन सुव्यवस्थित शान्तिपूर्ण ढंग से चल सकता है. ईश्वर की इच्छा, आज्ञा के बिना कोई कार्य नहीं हो सकता है. प्रार्थना हमें यह याद दिलाती है कि हम असहाय हैं बिना ईश्वर की सहायता के. कोई भी काम बिना प्रार्थना के पूर्ण नहीं हो सकता. प्रार्थना से ही भीतरी शुद्धि होती है. प्रार्थना नम्रता की पुकार है. यह आत्म-शुद्धि का आत्म-निरीक्षण का आह्वान है. प्रार्थना से क्रोध, हृदय की घृणा तथा अन्य बुराइयाँ समाप्त हो जाती हैं. ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए उसके स्वरूप में मिल जाने के लिए हम प्रार्थना करते हैं. गांधी जी कहते हैं कि प्रार्थना तो आत्मा की खुराक है. जिस तरह खुराक के बगैर शरीर कमजोर होता जाता है, उसी तरह प्रार्थना के बगैर हम लोग दिनों दिन असंस्कारी बनते जायेंगे.

गांधी जी कहते हैं सामुदायिक प्रार्थना में जो रस नहीं पैदा होता है उसका कारण है व्यक्तिगत प्रार्थना की आवश्यकता का अज्ञान होना.

सामाजिक प्रार्थना की व्यवस्था व्यक्तिगत प्रार्थना से ही हुई है. व्यक्ति की प्रार्थना की भूख न होती तो समाज की कैसे हो सकती है. सामाजिक प्रार्थना से व्यक्ति को लाभ भी है, उसे आत्मदर्शन के समय, आत्मशुद्धि में सामाजिक प्रार्थना ही सहायक होती है. इस प्रार्थना के दो समय पक्के हैं-- सबेरे उठते ही अन्तर्यामी को स्मरण करना और रात में आंख मूंदते समय उसको याद करना. इस व्यक्तिगत प्रार्थना में समय बिल्कुल नहीं लगता, सिर्फ हृदय को शुद्ध रखना चाहिए. मलीनता बनाये रखकर प्रार्थना नहीं की जा सकती. गांधी जी ने व्यक्तिगत प्रार्थना के साथ साथ सामूहिक प्रार्थना को भी माना है. भक्त को विषयी की उपमा ठीक ही दी गई है. विषयी को जब उसका विषय मिल जाता है तब वह अपने को भूलकर विषयरूप बन जाता है. उसकी सारी इन्द्रियां तदाकार हो जाती हैं, क्योंकि उसे अपने विषय के सामने कुछ सूझता ही नहीं. इससे भी ज्यादा तदाकारता उपासक में होनी चाहिए. यह तदाकारता उपासक बहुत प्रयत्न से, तप से, संयम से ही पाता है. जहां ऐसा कोई भक्त होता है वहां प्रार्थना में जाने के लिए किसी को बुलाना नहीं पड़ता. उसको भक्ति औरों को खींच लाती है.

सामुदायिक प्रार्थना अत्यन्त बलवती वस्तु है जो काम हम प्राय: अकेले नहीं करते, उसे हम सबके साथ करते हैं. प्राय: यह देखा गया है कि जिसके अन्दर दृढ़ विश्वास नहीं रहता, वे सामुदायिक प्रार्थना का सहारा लेते हैं. आश्रम में सामुदायिक प्रार्थना के साथ-साथ व व्यक्तिगत प्रार्थना पर भी ज़ोर दिया गया है. समाज के लिए सामूहिक प्रार्थना बहुत ज़रूरी है, लेकिन जिस तरह व्यक्ति के बिना समाज हो ही नहीं सकता, उसी तरह व्यक्तिगत प्रार्थना के बिना सामूहिक प्रार्थना संभव नहीं है. दोनों एक दूसरे की पोषक है. व्यक्तिगत प्रार्थना का मूल्य न समझने से सामुदायिक प्रार्थना मे रस नहीं मिलता और सामुदायिक प्रार्थना का लाभ व्यक्ति को नहीं होता. अत: प्रत्येक को व्यक्तिगत प्रार्थना भी नियमित रूप से करनी चाहिए. सामुदायिक प्रार्थना के बिना मनुष्य रह सकता है, वैयक्तिक प्रार्थना के बिना कभी नहीं रह सकता है.

(७) ईश्वर को पाने के साधन

ईश्वर का स्वरूप मन और वाणी से परे है. उनके विषय में हम इतना ही कह सकते हैं कि ईश्वर अनंत, अनादि, सदा एक सा रहने वाला, विश्व का आत्मस्वरूप अथवा आधार-रूप और विश्व का कारण है. वह चैतन्य अथवा ज्ञानस्वरूप है. परमेश्वर का साक्षात्कार करना ही जीवन का एकमात्र ध्येय है. जो प्रवृत्तियां इस ध्येय की विरोधी मालूम हों, स्थूल दृष्टि से उनका फल कितना ही ललचाने वाला और लाभदायक जान पड़े, तो भी उन प्रवृत्तियों को त्याज्य समझना चाहिए. जो प्रवृत्तियां इस ध्येय की साधना मूल जान पड़ें, वह कितनी ही कठिन, जोखिमभरी और स्थूल दृष्टि से हानिकर प्रतीत हों, तो भी उसे अपना कर्तव्य समझना चाहिए. गांधी जी कहते हैं-- "जो कुछ मुझे आज ऐसा धर्म्य, न्याय्य और योग्य प्रतीत होता है कि उसे करते, स्वीकार करते या प्रकट करते मुझे शर्म नहीं लगती, जो मुझे करना ही चाहिए और जिसे न करूं तो इज्जत के साथ जी ही न सकूं, वह मेरे लिए सत्य है । वही मेरे लिए परमेश्वर का सगुण रूप है ।" उनके अनुसार सत्य की अविश्रांत खोज किये जाना तथा जैसा और जितना सत्य जान पड़ा हो उसका लगन के साथ आचरण करना--इसी का नाम सत्याग्रह है, और यह परमेश्वर के साक्षात्कार का साधनमार्ग है. गांधीजी के अनुसार ईश्वर को पाने के लिए अहिंसा, ब्रह्मचर्य, अस्वाद, अस्तेय, अपरिग्रह, शरीरश्रम, नम्रता, अभय, व्रत-प्रतिज्ञा, उपवास, प्रार्थना-- इन नियमों का पालन करना चाहिए.

महात्मा गांधी ने गीता को प्रेरणा स्रोत कहा है. गांधी जी ने गीता के उपदेशों को सभी उपदेशों से श्रेष्ठ कहा है. गीता में ईश्वर को पाने के लिएभिन्न-भिन्न मार्गों का उल्लेख किया गया है. जिस प्रकार मन के तीन अंग हैं-- ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक, इन्हीं तीनों अंगों के अनुरूप गीता में ज्ञान योग, भक्ति योग और कर्मयोग का समन्वय हुआ है. साधारणतः कुछ दर्शनों में ज्ञान के द्वारा मोक्ष अपनानेका आदर्श दिया गया है. शंकर का दर्शन

इसी तरह के मोक्ष का समर्थक है. कुछ दर्शनों में भक्ति के द्वारा मोक्ष को अपनाने की सलाह दी गई है. रामानुज का दर्शन इसका उदाहरण है. कुछ दर्शनों में कर्म के द्वारा मोक्ष को अपनाने की बात कही गई है, इसके समर्थक मीमांसा दर्शन है. परन्तु गीता में इन तीनों का समन्वय हुआ है. गीता की यह समन्वयात्मक प्रवृत्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है.

ज्ञानमार्ग

गीता के अनुसार मानव अज्ञानवश बन्धन की अवस्था में पड़ जाता है. अज्ञान का अंत ज्ञान से होता है, इसलिए गीता में मोक्ष को अपनाने के लिए ज्ञान की महत्ता पर प्रकाश डाला गया है. गीता दो प्रकार के ज्ञान को मानती है -- वे हैं तार्किक ज्ञान और आध्यात्मिक ज्ञान, तार्किक ज्ञान वस्तुओं के बाह्य रूप को देखकर उनके स्वरूप की चर्चा बुद्धि के द्वारा करता है. आध्यात्मिक ज्ञान वस्तुओं के आभास में व्याप्त सत्यता का निरूपण करने का प्रयास करता है. तार्किक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत विद्यमान रहता है, परन्तु आध्यात्मिक ज्ञान में ज्ञाता और ज्ञेय का द्वैत नष्ट हो जाता है. जो व्यक्ति ज्ञान को प्राप्त कर लेता है, वह सब विषयों में ईश्वर को और ईश्वर में सबको देखता है. जो व्यक्ति ज्ञान चाहता है, उसे शरीर,मन और इन्द्रियों को शुद्ध रखना नितान्त आवश्यक है. यदि मन और इन्द्रियों को शुद्ध नहीं किया जाय तो साधक ईश्वर से मिलने में वंचित हो जा सकता है, क्योंकि ईश्वर अशुद्ध वस्तुओं को नहीं स्वीकार करता. मन और इन्द्रियों को उनके विषयों से हटाकर ईश्वर पर केन्द्रित करना भी आवश्यक माना जाता है. इससे यह होता है कि मन की चंचलता नष्ट हो जाती है और वह ईश्वर पर ध्यान केन्द्रित कर देता है. जब साधक को ज्ञान हो जाता हैतब आत्मा और ईश्वर में तादात्म्य का सम्बन्ध हो जाता है. वह समझने लगता है कि आत्मा ईश्वर का अंश है. ज्ञान से अमृत की प्राप्ति होती है, कर्मों की अपवित्रता का नाश होता है और व्यक्ति सदा के लिए ईश्वरमय हो जाता है.

भक्ति मार्ग

भक्ति ज्ञान और कर्म से भिन्न है. भक्ति भज् शब्द से बना है.

भज् का अर्थ है , ईश्वर-सेवा . इसलिए भक्ति का अर्थ अपने को ईश्वर के प्रति समर्पण करना कहा जाता है. भक्ति मार्ग प्रत्येक व्यक्ति के लिए खुला है. ज्ञान-मार्ग का पालन सिर्फ विद्वजन ही कर सकते हैं, कर्म मार्ग का पालन सिर्फ धनवान व्यक्ति ही सफलता पूर्वक कर सकते हैं, परन्तु भक्ति मार्ग अमीर,गरीब, विद्वान्, मुर्ख, ऊंचनीच सबों के लिए खुला है. भक्ति मार्ग की यह विशिष्टता उसे अन्य मार्गों से अनूठा बनाती है.

ईश्वर को गीता में प्रेम के रूप में चित्रण किया गया है. जो ईश्वर के प्रति प्रेम,आत्मसमर्पण ,भक्ति रखता है वही ईश्वर को पा सकता है. इस मार्ग को अपनाने के लिए भक्त में नम्रता का रहना नितांत आवश्यक है. उसे यह समझना चाहिए कि ईश्वर के सम्मुख वह कुछ नहीं है. भक्ति के लिए श्रद्धा का रहना आवश्यक है. भक्ति में ईश्वर और भक्त का भेद नष्ट हो जाता है तथा दोनों के बीच ऐक्य स्थापित हो जाता है. भक्ति से ज्ञान की प्राप्ति भी हो जाती है जब भक्त का प्रकाश तीव्र हो जाता है तब ईश्वर भक्त को ज्ञान का प्रकाश भी दे देता है.

कर्म मार्ग

कर्म का अर्थ है आचरण . उचित कर्म से ईश्वर की प्राप्ति किया जा सकता है. ईश्वर स्वयं कर्मठ है, इसलिए ईश्वर तक पहुंचने के लिए कर्म मार्ग अत्यन्त ही आवश्यक है. गीता में मानवको कर्म करने का आदेश दिया गया है. व्यक्ति कोकर्म के लिए प्रयत्नशील रहना चाहिए, परन्तु उसे कर्म के फलों की चिन्ता नहीं करनी चाहिए. इसलिए गीता में निष्काम कर्म को अपने जीवन का आदर्श बनाने का निर्देश किया गया है. निष्कामकर्म का अर्थ है कर्म बिना फल की अभिलाषा से करना. यद्यपि गीता कर्म फल के त्याग का आदेश देता है,फिरभी गीता का लक्ष्य त्याग या सन्यास नहीं है. इन्द्रियों को दमन करने का आदेश नहीं दिया गया है, बल्कि उन्हें विवेक के मार्ग पर नियंत्रित करने का आदेश दिया गया है.

गीता में ज्ञान, कर्म और भक्ति का समन्वय किया गया है. ईश्वर को ज्ञानमार्ग से अपनाया जा सकता है, कर्म मार्ग से अपनाया जा सकता है तथा भक्ति मार्ग से भी अपनाया जा सकता है. जिस व्यक्ति को मार्ग सुलभ हो वह उसी मार्ग से ईश्वर को अपना सकता है. ईश्वर में सत् चित् आनंद है, जो ईश्वर को ज्ञान से प्राप्त करता है, उसके लिए वह प्रकाश है, जो ईश्वर को कर्म के द्वारा अपनाना चाहते हैं, वह शुभ है जो भक्ति से अपनाना चाहते हैं,उनके लिए वह प्रेम है. जिस प्रकार विभिन्न रास्तों से एक लक्ष्य पर पहुंचा जा सकता है उसी प्रकार विभिन्न मार्गों से ईश्वर की प्राप्ति संभव है.

गांधी जी गीता की कई बातों से सहमत हैं. गीता ने यज्ञ, दान और तप को आवश्यक कर्म बताया है. इनका त्याग नहीं किया जा सकता. गांधी जी ने गीता के यज्ञ को इस अर्थ में लिया है--" यज्ञ अर्थात् परोपकारार्थ, ईश्वरार्थ,किए हुए कर्म[63] फिर इसका अर्थ बतलाते हुए कहते हैं कि जैसे प्राचीन यज्ञों का साधन अग्नि थी वैसे ही आज के यज्ञों का साधन चर्खा होना चाहिए. प्राचीन यज्ञ देवताओं को प्रसन्न करने के लिए किए जाते थे. आज के यज्ञों का भी यही लक्ष्य होना चाहिए. इस प्रकार चरखा कातना,बुनकर का काम करना आदि रचनात्मक कार्यों को यज्ञ बतलाया है.

गांधी जी ने गीता की तरह निष्काम भाव से किए गए कर्मों पर ज़ोर दिया है. कर्म करने का यदि कोई प्रयोजन है तो वह आत्मशुद्धि है, लोक भक्ति तथा ईश्वर भक्ति है. इन तीन प्रयोजनों को छोड़कर कर्म करने का और कोई प्रयोजन नहीं होना चाहिए. कर्मों में श्रेष्ठता या निकृष्टता नहीं होती. सब कर्म बराबर होते हैं. लोक संग्रह, आत्मशुद्धि और ईश्वर -भक्ति को छोड़कर यदि कोई अन्य वस्तु या भाव प्राप्त करता है तो वह कर्म मीमांसा को नहीं समझता. वह सच्चा कर्म नहीं करता. यह भी नहीं सोचना चाहिए कि अमुक कर्म आत्मशुद्धि के लिए है, अमुक लोक संग्रह के लिए है और अमुक ईश्वर की भक्ति पाने के लिए. सभी कर्म तीनों प्रयोजनों से किए जाने चाहिए. इनमें से किसी को छोड़ देने से सच्ची निष्कामता नहीं आयेगी. अत: जो कर्म आत्मशुद्धि के लिए है, वही लोक-संग्रह के लिए है और वही ईश्वर-भक्ति के

लिए है. कर्म का अर्थ बतलाते हुए गांधी जी ने कहा, --" कर्म का व्यापक अर्थ है । अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक । ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता । यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता । इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना, इसका नाम यज्ञों का जानना है । तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्मा को प्रभुप्रीत्यर्थ लोकसेवार्थ काम में न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्ष के योग्य नहीं बन सकता । केवल बुद्धि-शक्ति को ही काम में लावे और शरीर तथा आत्मा को चुरावे तो वह पूरा याज्ञिक नहीं है । इन शक्तियों को प्राप्त किए बिना उसका परोपकारार्थ उपयोग नहीं हो सकता । इसलिए आत्मशुद्धि के बिना लोक-सेवा असंभव है ।[64]" कर्म की अनिवार्यता बतलाते हुए गांधी जी ने गीता के श्लोकों का उपयोग किया कि कर्म के बिना शरीर-यात्रा, जीवन-गति भी नहीं चल सकती. गांधी जी ने ज्ञान मार्ग पर भी ज़ोर दिया है. वे कर्म और ज्ञान के क्रम-समुच्चय को मानते हैं, ज्यों-ज्यों ज्ञान होता है, त्यों-त्यों कर्म होता है. फिर उनके कर्ममार्ग की प्रेरणा ईश्वर की श्रद्धा में है और उनका ज्ञान ईश्वर दर्शन है, जिसके लिए प्रतिक्षण हृदय से प्रार्थना होती रहना चाहिए, इसलिए हम कह सकते हैं कि वे भक्ति का भी अपने मार्ग में समन्वय करते हैं, इस प्रकार उनके मार्ग में कर्म, ज्ञान और भक्ति का समन्वय हुआ है. गांधी जी अपने को कर्मयोगी कहते हैं, पर कर्मयोगी शब्द में वे भक्ति और ज्ञान को भी स्थान देते हैं.[65]" कर्म बिना किसी ने सिद्धि नहीं पाई । जनकादि भी कर्म द्वारा ज्ञानी हुए ।" ऐसी प्रकार गांधी जी ने कहा है, --" बिना भक्ति का ज्ञान हानिकर है । इसलिए कहा गया है कि भक्ति करो तो ज्ञान मिल ही जायगा ।[66]" चन्द्रशंकर शुक्ल ने अपनी पुस्तक गांधीज़ व्यू आफ़ लाइफ में दिखलाया है कि गांधी ज्ञान, भक्ति और कर्म के सह समुच्चयवादी थे. गांधीजी ने बताया है कि भगवान में विलीन हो जाने पर कर्म छूट जायँगे, यही निरपेक्ष ज्ञान की अवस्था है. ईश्वर के दर्शन पर हृदय के सभी संदेह दूर हो जाते हैं और सभी प्रकार के कर्म नष्ट हो जाते हैं.

(८) रामनाम की उपयोगिता

वैष्णव सम्प्रदाय में जन्म लेने के फलस्वरूप गांधी जी को बार-बार वैष्णव मंदिर जाना पड़ता था, परन्तु उसके प्रति उन्हें श्रद्धा उत्पन्न नहीं हुई. जो चीज़ उन्हें मंदिर से नहीं प्राप्त हुई वह उन्हें अपनी धाय से मिल गई. जब उन्हें भूत-प्रेत आदि से डर लगता था तब रम्भा ने बताया कि उसका दवा राम नाम है. गांधी जी कहते हैं, --"मुझे भूत का डर लगता था । यह मुझसे कहा करती थी "भूत जैसी कोई चीज़ है ही नहीं, परन्तु तुम्हें डर लगता हो तो रामनाम लिया करो । जो चीज मैंने अपने बचपन में सीखी उसने समय पाकर मेरे मानसिक आकाश में विशाल रूप धारण कर लिया. इस सूर्य ने मुझे घने अंधकार के समय प्रकाश दिखाया है । यही सान्त्वना एक ईसाई को ईसा के का नाम लेने से और एक मुसलमान को अल्लाह का नाम लेने से मिल सकता है । इन सब वस्तुओं के एक से फलितार्थ होते हैं और समान परिस्थितियों में उनसे एक से परिणाम उत्पन्न होते हैं । इतना ही है कि जप केवल वाणी से न होकर हमारे जीवन का अंग बन जाना चाहिए ।"[६७]

गांधी जी ने राम-नाम को अंधविश्वास नहीं माना है. गांधी जी कहते हैं, मेरी परीक्षा की अंधेरी घड़ियों में इसी राम ने बचाया है और अभी भी बचा रहा है. गांधी जी कहते हैं, राम-नाम सिर्फ कल्पना की वस्तु नहीं है, उसे हृदय से निकलना चाहिए. यदि कोई अपने अन्दर परमात्मा को पहिचान ले, तो एक भी गन्दा या व्यर्थ विचार मन में नहीं आ सकता. इसी तरह रामनाम किसी अच्छे उद्देश्य के लिए ही काम में लिया जाता है, न कि बुरे कामके लिए. राम-नाम शुद्ध हृदय वालों के लिए है और उन लोगों के लिए है जो शुद्धता प्राप्त करना चाहते हैं. मनुष्य किसी भी रोग से पीड़ित हो, अगर वह हृदय से राम-नाम ले, तो रोग अवश्य नष्ट हो जायगा. राम नाम के बिना चित्त शुद्धि नहीं होती. गांधी जी कहते हैं, --"राम ही सच्चा चिकित्सक है । जब तक राम मुझसे सेवा चाहेगा वह मुझे जीवित रखेगा, जब तक नहीं चाहेगा, तब वह मुझे

अपने पास बुला लेगा । मैं आश्वस्त हूं कि यदि मेरे हृदय की गहराई में राम नाम प्रविष्ट हो गया है तो मैं रोग से नहीं मर सकता हर एक व्यक्ति को अपनी भूल के लिए कष्ट सहना पड़ता है और इसी कारण मुझे पीड़ा व सहनी पड़ी । व्यक्ति की अंतिम सांस तक उसके ओठों पर रामनाम होना चाहिए । किन्तु उसका उच्चारण तोते की तरह नहीं होना चाहिए ।"[68] इस प्रकार यहां बताया गया है कि राम-नाम हृदय से लेना चाहिए. गांधी जी आगे कहते हैं,--" शरीर की खुराक जैसे अन्न है, वैसे ही शरीर में पड़ी आत्मा की खुराक राम-राम है ।"[69]

गांधी जी ने राम-नाम की उपयोगिता पर प्रकाश डालते हुए कहा है कि बचपन में मैं जब जब डरता था, तब मुझे रामनाम लेने को कहा गया. मेरे कितने ही साथी ऐसे हैं, जिन्हें मुसीबत के समय रामनाम से बड़ा सहारा मिला. रामनाम उन लोगों के लिए नहीं है, जो ईश्वर को हर तरह से फुसलाना चाहते हैं और हमेशा अपनी रक्षा की आशा उसी लगाये रहते हैं, यह उन लोगों के लिए है जो ईश्वर से डर कर चलते हैं, जो संयमपूर्वक जीवन बिताना चाहते हैं.

गांधी जी कहते हैं राम नाम का अर्थ है ईश्वर-नाम. पापों का प्रायश्चित तो हम तपश्चर्या द्वारा कर सकते हैं. पाप तो गायत्री के मंत्र से दूर हो सकता है. लेकिन इन महा जंजालों से छूटने का रामबाण उपाय तुलसीदास ने राम-नाम बताया. इसी राम-नामको गांधी जी ने माना है. तुलसीदास के अनुसार रामनाम के बल वानरसेना ने रावण के छक्के छुड़ा दिये, रामनाम के सहारे हनुमान ने पर्वत उठा लिया और राक्षसों के घर ० अनेक वर्ष रहने पर भी सीता अपना सतीत्व बचा सकीं. भरत ने चौदह वर्ष तक प्राण धारण कर रखा, क्योंकि उनके कष्ट से राम-नाम के सिवा दूसरा कोई शब्द नहीं निकलता था. इसप्रकार राम नाम का बहुत महत्व है. किन्तु गांधी जी का राम कोई ऐतिहासिक राम नहीं है जो दशरथ का पुत्र और अयोध्या का राजा था, उनका राम नित्य, अजन्मा और अद्वितीय परमेश्वर है. वे उसी की पूजा करते हैं और उसी की सहायता चाहते हैं. गांधी जी के अनुसार वह समान रूप से सबका है. मुसलमान भी उसे मान-

सकते हैं. ईश्वर को राम के रूपमें पहचानने के लिए वह किसी प्रकार बंधा नहीं है. वह मन-ही-मन अल्लाह या खुदा का नाम लें सिर्फ उसे स्वर का एकता भंग नहीं करनी चाहिए.

गांधी जी कहतेहैं कि मैं यदि संसार में व्यभिचारी होने से बचा हूं तो राम-नाम के कारण. उनके ऊपर जब-जब विकट संकट आये, उन्होंने राम नाम लिया और बच गये. गांधी जी को इक्कीस दिन के उपवास में राम नाम ने ही शांति प्रदान की है. गांधी जी कहते हैं,-- "यदि कोई मुझसे राम नाम के गीत गाने को कहे तो मैं सारा रात गाता रहूं । इसलिए यदि आप अपने को दु:खी और पतित मानते हों-- और हम सब पतित हैं -- तो सुबह शाम और सोते समय राम-नाम रटें और पवित्र हों ।[70] ज्ञान की वृद्धि और आयु बढ़ने के साथ रामनाम का जप मेरे लिए दूसरा स्वभाव बन गया है । मैं यहां तक कह सकता हूं कि यह शब्द मेरी जबान पर न हो तो भी मेरे मन में दिन-रात बना रहता है । यह मेरा रक्षक रहा है और मुझे इसका सदा आधार रहता है ।[71]

गांधी जी के अनुसार मनुष्य बातचीत करते समय या मस्तिष्क का काम करते समय या अचानक चिन्तित हो जाने पर राम का नाम ले सकता है, बशर्ते कि रामनाम उसके हृदय में बस गया हो. और रामनाम लेना आदत बन गया हो तो हृदय में उसका जप करना उतना ही स्वाभाविक हो जाता है जितना हृदय का धड़कना. कोई भी केवल इच्छा करके राम नाम को अपने हृदय में नहीं बसा सकता. उसके लिए अथक प्रयत्न और धीरज की ज़रूरत होती है. जब तक व्यक्ति अपने अन्दर और बाहर सच्चाई,ईमानदारी और पवित्रता आदि गुणों को नहीं बढ़ाता, उसके हृदय से राम-नाम नहीं उच्चरित हो सकता. जो व्यक्ति हृदय से राम नाम लेता है वह आसानी से स्वयं पर नियंत्रण रख सकता है और अनुशासन में रह सकता है. उसके लिए स्वास्थ्य और स्वच्छता के नियमों का पालन करना सरल हो जायेगा. उसका जीवन सहज भाव से बीत सकेगा, उसमें कोई विषमता

नहीं होगा, वह किसी को सताना या दुःख पहुंचाना पसंद नहीं करेगा, दूसरों के दुःखों को मिटाने के लिए उन्हें सुख पहुचाने के लिए स्वयं कष्ट उठा लेना उसका स्वभाव हो जायगा और उसको हमेशा के लिए एक अमिट सुख का लाभ मिलेगा, उसका मन एक शाश्वत और अमर सुख से भर जायगा. गांधी जी कहते हैं इसलिए सारा समय मन ही मन राम नाम करते रहना चाहिए, ऐसा करने से एक दिन ऐसा आयेगा जब राम-नाम सोते जागते का साथी बन जायेगा और उस समय ईश्वर की कृपा का पात्र बन जायेगा और तन-मन और आत्मा से स्वस्थ रहेगा. अपने सर्वदा राम नाम जपने के विषय में गांधी जी कहते हैं,-- यह हमारा रोम रोम शरीर से भरा है। हम उसी को भजते हैं। मैं उसी राम का पुजारी हूं। रावण की पूजा मैं कैसे कर सकता हूं? चाहे आप मुझे मार डालें, आप मुझपर झुकें, मैं मरते दम तक राम-रहीम,कृष्ण-रहीम करता रहूंगा। फिर उस वक्त भी जब मुझपर हाथ चलाते रहोगे तो मैं आपको धोखा न दूंगा। मैं ईश्वर से भी यह नहीं कहूंगा कि यह तू मेरे ऊपर क्या कर रहा है? मैं उसका मदद लूं। मैं उसका किया स्वीकार लूंगा।... मेरी प्रार्थना जगत को दिखलाने के लिए नहीं है। मेरी प्रार्थना मन की शान्ति के लिए है, दिल की सफाई के लिए है।[७२]

गांधी जी ने प्राकृतिक चिकित्सा पर गौर किया है. इस चिकित्सा पद्धति के अतिरिक्त वे रामनाम को भी एक बड़ा चिकित्सक मानते हैं और कहते हैं कि यही प्राकृतिक चिकित्सा का आधार है. गांधी जी कहते हैं राम नाम में दवाओं,डाक्टरों से भी अधिक शक्ति है. यह हमें शांति और उत्साह प्रदान करता है. व्याधि अनेक हैं, वैद्य अनेक हैं और उपचार भी अनेक हैं, अगर सारी व्याधि को एक ही मानें और उसको मिटाने वाला वैद्य एक ही राम है तो हम बहुत सी झंझटों से बच जायें. गांधी जी के शब्दों में,-- आश्चर्य है कि वैद्य मरते हैं, डाक्टर मरते हैं,फिर भी उनके पीछे हम भटकते हैं। लेकिन जो राम मरता नहीं है, हमेशा जिन्दा रहता है और अच्छा वैद्य है, उसे हम भूल जाते हैं।[७३] उनके अनुसार मेरा एकमात्र वैद्य मेरा राम है. राम सारी शारीरिक,मानसिक और नैतिक बुराइयों

को दूर करने वाला है। रामनाम सारी बीमारियों का सबसे बड़ा इलाज है, इसलिए वह सारे इलाजों से श्रेष्ठ है।

-0-

सन्दर्भ

(१) यंग इंडिया, ११ अक्टूबर, १९२८

(२) हरिजन, १९ मई, १९३८

(३) हरिजन, १४-१२-३६, पृ० ३१४

(४) यंग इंडिया, ११-९-२४, पृ० २९८

(५) राधाकृष्णन् : गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ, १९४५, पृ० १८

(६) गौरा : एन एथीस्ट विद गांधी, पृ० ४५

(७) राजू, पी०टी० : आइडियालिस्टिक थॉट ऑफ इण्डिया, पृ० २९७

(८) गांधी जी : हिन्दू धर्म, पृ० ४३

(९) गांधी जी : प्रार्थना प्रवचन, भाग १, पृ० ७३

(१०) गांधी जी : हिन्दू धर्म, पृ० ६४

(११) गांधी जी : गीतामाता, पृ० १४०

(१२) गांधी जी : हिन्दू धर्म, पृ० ६३

(१३) गांधी जी : पन्द्रह अगस्त के बाद, पृ० २८-२९

(१४) गांधी जी : हिन्दू धर्म। पृ० ६२

(१५) गांधी जी : वही, पृ० ६१

(१६) ,, : प्रार्थना प्रवचन, भाग २, पृ० ११२

(१७) ,, : धर्म नीति, पृ० १५७-५८

(१८) ,, : हिन्दू धर्म, पृ० ६५

(१९) ,, : वही, पृ० ६४

(२०) गौरा : एन एथीस्ट विद गांधी, पृ० ४२

(२१) गांधी जी : प्रार्थना प्रवचन, भाग १, पृ० २४

(२२) ,, : हिन्दू धर्म, पृ० ६५

(२३) ,, वही, पृ० ६३

(२४) गौरा : एन एथीस्ट विद गांधी, पृ० २८

(२५) ,, वही, पृ० ४५

(२६) गांधी जी : हिन्दू धर्म, पृ० १२१

(२७) गांधी जी : ब्रह्मचर्य, भाग १, पृ० ५७-५८

(२८) ,, हिन्दू धर्म, पृ० ६१

(२९) ,, वही, पृ० १०५

(३०) गौरा : एन एथीस्ट विद गांधी, पृ० १६-२०

(३१) गांधी जी : पन्द्रह अगस्त के बाद, पृ० १३४

३२. In calling him (God) personal I mean to assert that he is self-conscious, that he has that awareness of his own existence which I have of my existence.

मैकटेगार्ट : सम डोगमाज़ ऑफ़ रिलीजन, पृ० १८६

(३३) If God be not personal...... the whole development of the religious consciousness in man must be pronounced to be an illusion.

प्रो० गैलवे: फिलासफी आफ रिलीजन, पृ०४६५

(३४) The truth of the religious experience itself is bound up with the conviction that God is personal.
वही, पृ०५०४

(३५) Religion is Characteristically human experience.

ब्राइटमैन : ए फिलासफी आफ रिलीजन, पृ०१३०

(३६) गांधी जी : प्रार्थना प्रवचन, भाग१, पृ०१३१

(३७) ,, : रामनाम, पृ०५५

(३८) दत्त, धीरेन्द्रमोहन : फिलासफी आफ महात्मा गांधी, पृ०२७

(३६) यंग इंडिया, दिसम्बर १६२४

(४०) ,, दिसम्बर १६२८

(४१) Raise yourself by yourself donot depress yourself. You are your friend, you are your foe.

दत्ता, ब डी०एम० : फिलासफी आफ महात्मा गांधी, पृ०७१

(४२) हिन्दू धर्म, पृ०६२

(४३) पाण्डेय, संगमलाल : गांधी का दर्शन, पृ०२२७

(४४) God manifests Himself in innumerable forms in this universe and every such manifestation commands my spontaneous reverence.

यंग इंडिया, २६ सितम्बर, १९२९ तथा
दत्ता, डी०एम० : फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी, पृ० ५४

(४५) He wanted to understand nature as an expression of God and tried to see life in everything breaking down even the customary distinction between the animate and the inanimate.

दत्ता, डी०एम० : फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी, पृ० ५५

(४६) God expresses himself in the harmonies of nature which overcome discord and in the love and goodness of man which overcome hatred and civil.

वहीं, पृ० ५७

(४७) गांधी जी : सत्य ही ईश्वर है, पृ०४४

(४८) वही, पृ०४५

(४९) वहीं, पृ०४३

(५०) यंग इंडिया, २३-१-३०, पृ०२५

(५१) गांधी जी : हिन्दू धर्म, पृ०११६

(५२) वही, पृ०१२५

(५३) वहीं, पृ०१२३

(५४) वहीं, पृ० १२३

(५५) गांधी जी : सत्य ही ईश्वर है, पृ० ४९

(५६) वही, पृ० २९

(५७) मोहनमाला, पृ० ४४

(५८) यंग इंडिया १०-९-२६, पृ० २२१

(५९) गांधी जी : आत्मकथा, पृ० ६२-६३

(६०) गांधी : मेरा धर्म, पृ० ९०

(६१) यंग इण्डिया - २४-९-३१, पृ० २७४

(६२) मशरूवाला, किशोरलाल : गांधी विचार दोहन, पृ० २३-२४

(६३) गांधी जी : गीता माता, पृ० १३८

(६४) वही, पृ० १५६

(६५) वही, पृ० १०८

(६६) वही, पृ० १०७

(६७) हरिजन - ५-१२-१३, पृ० ३३९

(६८) बापू माईमदर, अंग्रेजी से अनूदित, ३०-९-१९४७, पृ० ३१-३२

(६९) गांधी जी : प्रार्थना प्रवचन भाग १, पृ० १७९

(७०) हिन्दी नव जीवन, ३०-४-१९२५

(७१) हरिजन - १७-८-३४, पृ० २२३

(७२) गांधी जी : प्रार्थना प्रवचन, भाग १, पृ० १६

(७३) सेवाग्राम, ३०-१२-१९४४

पंचम अध्याय

-0-

चरमसत्ता

(१) चरमसत्ता

(२) सत्य का स्वरूप

(३) सत्य ही ईश्वर है

-0-

पंचम अध्याय

-0-

चरमसत्ता

(१) चरमसत्ता

गांधी जी ने बताया है कि संसार की हर वस्तु परिवर्तनशील है, सब कुछ बदल रहा है, तब भी इन परिवर्तनों के बीच एक जीवित शक्ति है, जो कभी नहीं बदलती, जो सबको एक में ग्रंथित करके रखता है, जो नई सृष्टि करता है, उसका संहार करती है और फिर नये सिरे से पैदा करती है-- यही शक्ति ईश्वर है, परमात्मा है.

ईश्वर स्वयं नियम है, शाश्वत है, अपरिवर्तनशील है, संशोधन-रहित है. गांधी जी के अनुसार ऐसा ईश्वर मनुष्य नहीं हो सकता, वह मनुष्य से अनन्त गुना ऊंचा होगा, क्योंकि वह वर्णन से परे है, वह कानून बनानेवाला है, कानून भी है और उसे कार्यान्वित करने वाला भी है. ऐसा ईश्वर बुद्धि का विषय नहीं हो सकता. वह विशुद्ध श्रद्धा के परिवेश में ही ग्राह्य है. जिस श्रद्धा से ईश्वर की प्राप्ति होती है, वह बुद्धि के विपरीत नहीं है, बल्कि उससे ऊपर है. गीता-माता में इस लक्ष्य का उल्लेख करते हुए गांधी जी ने लिखा है कि, --"मनुष्य वही करेगा जो उसका हृदय उसे करने को कहेगा । प्रथम हृदय और फिर बुद्धि, प्रथम सिद्धान्त और फिर प्रमाण, प्रथम स्फुरण और फिर उसके अनुकूल तर्क, प्रथम कर्म और फिर बुद्धि ।"[१] श्रद्धा बुद्धि से अधिक तीव्र है. श्रद्धा के द्वारा ही हमारा सम्बन्ध अनन्त से जुड़ सकता है. इसका यह तात्पर्य नहीं कि बुद्धिगत तर्क का कोई मूल्य नहीं है. गांधी जी ने ईश्वर के अस्तित्व और रूप-निर्धारण में उन सभी

तर्कों का प्रयोग किया है, जिनका प्रयोग अब तक के दार्शनिकों ने किया है. इन तर्कों में गांधीजी की मौलिकता भले ही न हो, किन्तु उनसे ईश्वर में गांधी की दृढ़ निष्ठा का पता चलता है.

सगुण ब्रह्म को ईश्वर कहा जाता है और निर्गुण ब्रह्म परमसत्ता कहलाता है. ईश्वर माया का अधिपति है, किन्तु परमसत्ता इससे परे है. धर्म की कुछ आवश्यकताएं ईश्वर से पूरी हो सकती हैं, फिर भी कुछ ऐसी आवश्यकताएं रह जाती हैं, जिनकी पूर्ति के लिए मानव के मन में एक पूर्ण सत्ता की कल्पना पैदा होती है, जो ब्रह्माण्ड के कोलाहल से परे है, इसे ही परमसत्ता कहा गया है.

ऋग्वेद के अनुसार परमसत्ता प्राणवान भी है, अप्राण भी. यह विशुद्ध एकमात्र और नामरूपहीन निराकार सत्ता है, जो कुछ नहीं है, फिर भी सब कुछ है, जो सब आकारिक अभिव्यक्तियों से अतीत है और फिर भी समस्त अभिव्यक्तियों और आकारों का आधार है, जिसमें सब कुछ विद्यमान है और फिर भी सब कुछ विलीन हो जाता है. उपनिषदों में परमसत्ता को परब्रह्म कहा गया है. यह परब्रह्म अद्वितीय है. इसमें कोई गुण या विशेषताएं नहीं हैं. ब्रह्म का किसी प्रकार वर्णन नहीं किया जा सकता. बृहदारण्यक उपनिषद् के अनुसार जहां प्रत्येक वस्तु स्वयं आत्म बन गई है, वहां कौन विचार करे और किसके द्वारा करे. सार्वभौम ज्ञाता का ज्ञान हम किस वस्तु के द्वारा प्राप्त कर सकते हैं. इस परमसत्ता के विषय में केवल हम यह कह सकते हैं कि यह अद्वैत है और इसका ज्ञान तब प्राप्त होता है, जब कि सब द्वैत उस परमसत्ता में विलीन हो जाते हैं. उपनिषदों में इसका नकारात्मक वर्णन किया गया है कि ब्रह्म यह नहीं है (नेति नेति). गीता में भी इसी का समर्थन किया गया है. परमसत्ता को अव्यक्त, अचिन्त्य बताया गया है. वह न सत् है और असत्. वह गतिहीन है, फिर भी गतिवान है. वह बहुत दूर है, फिर भी पास है. इन विशेषणों से भगवान का दुहरा स्वरूप सामने आता है-- एक उनका सत् स्वरूप और दूसरा नामरूपमय स्वरूप. तैत्तिरीय उपनिषद् के अनुसार जिससे वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, जिससे ये सब जीवित रहती हैं और जिसमें ये सब

विलीन हो जाती हैं, वहीं ब्रह्म है. वेद के अनुसार परमात्मा वह है जो अग्नि में है, पेड़ों में है, जिसने विश्व को व्याप्त किया हुआ है. भागवत में बताया गया है कि वह एक वास्तविकता, जो अभिव्यक्त चेतना के ढंग की है, ब्रह्म, भगवान, आत्मा या परमात्मा कहलाता है, वह सर्वोच्च मूल तत्व है. वही हमारे अन्दर विद्यमान वास्तविक आत्मा है और साथ ही वही पूजनीय परमात्मा है. अपने गतिशील विश्वरूप में वह न केवल सारे विश्व की क्रिया को संभालता है, बल्कि उसका शासन करता है, और यही वह आत्मा है, जो सब के अन्दर एक ही है और सबसे ऊपर है और व्यक्ति के अन्दर विद्यमान है.

गांधी जी ने सत्य को चरमसत्ता माना है. चरमसत्ता का अर्थ है, जो सभी वस्तुओं का आधार हो. विश्व का आधार तथा सभी प्रश्नों को शान्त करने वाला चरमसत्ता कहलाता है. विश्व की रचना इस बात को सिद्ध करती है कि कोई-न-कोई रचयिता भी होगा. यही चरमसत्ता सभी अस्तित्ववान पदार्थ एवं विश्व का आधार है. रचना बिना रचनात्मक शक्ति के सम्भव नहीं है. गांधी जी इस शक्ति को आध्यात्मिक शक्ति कहते हैं. चरमसत्ता सभी बन्धनों से मुक्त एवं स्वतंत्र है. यह अपरिवर्तनशील, शाश्वत तथा एक है. विश्व में तारतम्यता है. इस तारतम्यता को स्पष्ट करते हुए राधाकृष्णन् ने कहा है,--" पत्थरों का निर्जीव यंत्र, वृक्षों का अचेतन जीवन, पशुओं का चेतन जीवन और मनुष्य का स्वचेतन, ये सब चरमसत्ता के अंश हैं, और वह इन्हें विभिन्न अवस्थाओं में अनुभव कराता है. चरमसत्ता अपने को इन्हीं के द्वारा प्रकट करता है, फिर भी वह इन सबसे भिन्न है. चरमसत्ता पत्थरों में सोता है, वृक्षों के अन्दर सांस लेता है, जानवरों के रूप में अनुभव करता है और मनुष्य में अपने स्वचेतन के प्रति जागृत होता है[3]।" गांधी जी ने चरमसत्ता को कभी ईश्वर और कभी सत्य कहा है. इस प्रकार परमसत्ता के लिए कभी-कभी ईश्वर शब्द का भी प्रयोग हुआ है. ईश्वर वस्तुतः रचयिता है और विश्व के सन्दर्भ में ईश्वर है. गांधी जी के चरमसत्ता सम्बन्धी विचार उपनिषद् के विचारों से बहुत मेल खाते हैं. गांधी जी के अनुसार सत्य ही परमसत्ता है. ईश्वर एक है. उपनिषद् में भी एक ईश्वर को माना गया है.

उपनिषद् के रचयिताओं का दृढ़ विश्वास था कि एक सर्वव्यापी सत्ता है, जिससे सभी वस्तुएं उत्पन्न होती हैं, जिसमें सभी वस्तुएं स्थित हैं, जिसमें सभी वस्तुएं विलीन हो जाती हैं. इस तत्व को कभी ब्रह्म, कभी आत्मा, कभी केवल सत् कहा गया है. यह चरमसत्ता सभी सत्ता का आधारभूत सिद्धांत है. गांधी जी का विचार है कि सभी वस्तुओं के पीछे एक जीवंत शक्ति है, जो अलक्ष है तथा सबको एक सूत्र में बांध कर रखता है. उपनिषद् तथा गांधी दोनों ने चरमसत्ता को स्वयं-भू सिद्धान्त माना है. चरमसत्ता को गांधी जी अनिर्वचनीय मानते हैं. उपनिषद् में भी चरमसत्ता को अनिर्वचनीय माना गया है. गांधी जी ने चरमसत्ता के स्वरूप को सच्चिदानन्द माना है. उपनिषद् ने भी ब्रह्म को सत्, चित के साथ आनंद भी माना है. इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी का चरमसत्ता विचार उपनिषद् के चरमसत्ता से बहुत समानता रखता है. जहां तक चरमसत्ता की बात है, गांधी जी उपनिषद् के दर्शन को मानते हैं, किन्तु छोटे-मोटे शब्दावली के अन्तर इनमें पाये जाते हैं, उदाहरण के लिए महात्मा गांधी चरमसत्ता को कभी भी ब्रह्म के नाम से सम्बोधित नहीं करते हैं. गांधी जी उपनिषद् के ब्रह्म के स्थान पर सत्य को चरमसत्ता बताते हैं. जहां तक सत्य का चरमसत्ता के रूप में जानने का प्रश्न है, उपनिषद् इससे अनभिज्ञ नहीं है. उदाहरणस्वरूप छान्दोग्य उपनिषद् में सत्ता का सत्य से तादात्म्य बताया गया है. बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है, "आरम्भ में जल का केवल अस्तित्व था, जल से सत्य की उत्पत्ति हुई, सत्य से ब्रह्म, ब्रह्म ने प्रजापति को जन्म दिया तथा प्रजापति ने अन्य देवताओं को पैदा किया। ये देवता सत्य की ही पूजा करते हैं[5]।" यहां यह देखा जाता है कि चरमसत्ता को दर्शाने के लिए सत्य शब्द का प्रयोग ब्रह्म के स्थान पर किया गया है. जब यह कहा जाता है कि जल से सत्य की उत्पत्ति होती है तो इसका अर्थ यह है कि सत्य को चरम मूर्त सत्ता समझना चाहिए न कि अमूर्त. इस प्रकार जल से ही ब्रह्म की उत्पत्ति होती है. थेलीज (Thales) नामक ग्रीक दार्शनिक ने भी जल को ही प्रथम सत्ता माना है. जल मूर्त है. जल ही परमतत्व है, ऐसा इनका विचार है.

इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी मूर्त एक वाद में विश्वास करते हैं न कि अमूर्त में. वे चरमसत्ता को सापेक्ष सत्ता से पृथक् नहीं मानते हैं. सापेक्ष सत्ता का आधार स्तम्भ चरमसत्ता है, किन्तु चरमसत्ता से विलग होकर भी सापेक्ष सत्ता मूल्यहीन नहीं कही जा सकती. सापेक्ष सत्ता से हम सन्तुष्ट नहीं होते, इसलिए चरमसत्ता की खोज करते हैं. उपनिषद् भी इससे सहमत है. सर्वसाधारण रूप में जिसे रीति या नियम कहा जाता है, उसी सत्य को गांधी जी ने चरमसत्ता कहा है. गांधी जी ने ईश्वर को रीति और रीति का नियामक दोनों माना है. उपनिषद् में चरमसत्ता को रीति का नियामक नहीं कहा गया है, यद्यपि उसमें यह विचार कि वह नियम को नियन्त्रित एवं निर्देशित करता है, विलुप्त नहीं है. बृहदारण्यक उपनिषद् में कहा गया है कि सत्य और धर्म एक ही है. " जो धर्म है वह सत्य है। इसलिए मनुष्य के बारे में ऐसा कहा जाता है कि जो सत्य बोलता है वह धर्म करता है, क्योंकि अन्ततोगत्वा दोनों एक ही हैं।" महात्मा गांधी भी इस विचार से सहमत हैं. उनके लिए भी सत्य और धर्म, चरमसत्ता और सर्वमान्य रीति एक समान हैं. दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं.

गांधी का चरमसत्ता के स्वरूप का विचार अल्फ्रेड नार्थ व्हाइटहेड के ईश्वर -विचार से बहुत मेल खाता है. व्हाइटहेड ने प्रोसेस एण्ड रियलिटी नामक पुस्तक में कहा है,--" यह कहना कि ईश्वर शाश्वत है और विश्व गतिमान, उतना ही सत्य है जितना कि यह कहना कि विश्व शाश्वत है और ईश्वर गतिमान. इसी तरह यह भी सत्य है कि ईश्वर एक है और विश्व अनेक जिस तरह कि विश्व एक है और ईश्वर अनेक." गांधी जी कहते हैं,--" ईश्वर वह अवर्णनीय सत्ता है, जिसे हम सब अनुभव करते हैं, किन्तु जानते नहीं हैं। मेरे लिए ईश्वर सत्य और प्रेम है। ईश्वर नीति और नियम है। यह अभय है। यह जीवन और प्रकाश का स्रोत है। यह इन सबसे परे व ऊपर है। यह चेतन है। यह नास्तिक की नास्तिकता भी है... यह वाणी और बुद्धि से परे है... जिन्हें इसके स्पर्श की आवश्यकता है, उनके लिए वह साकार है... यह शुद्धतम सारतत्व है।

जिनमें श्रद्धा है.... वह बड़ा सहनशील है। वह धैर्यवान है, परन्तु भयंकर भी है। वह संसार का सबसे बड़ा लोकतंत्रवादी है, क्योंकि उसने हमें बुराई और अच्छाई के बीच अपना चुनाव खुद करने की पूरी छूट दे रखी है... वह दुनिया का क्रूर से क्रूर स्वामी है, क्योंकि वह कई बार हमारे मुंह तक आये हुए कौर को छीन लेता है, और इच्छा-स्वातन्त्र्य की आड़ में हमें इतनी अपर्याप्त छूट देता है कि हमसे कुछ करते-धरते नहीं बनता, और हमारी इस परेशानी से वह अपने लिए केवल विनोद की सामग्री ही जुटाता है। इसीलिए हिन्दू धर्म इसे उसकी लीला या माया कहता है।"[8] व्हाइटहेड के अनुसार यह कहना कि विश्व ईश्वर में व्याप्त है, उतना ही सत्य है, जितना कि यह कहना कि ईश्वर विश्व में व्याप्त है. इसी प्रकार ईश्वर विश्व के परे है, यह कहना भी उतना ही ठीक है जितना कि विश्व ईश्वर के परे है, यह कहना[9]. इसी प्रकार गांधी जी ने कहा है,--" मैं ईश्वर को स्रष्टा और अस्रष्टा दोनों मानता हूं। जैनों के मंच से मैं ईश्वर के अस्रष्टा होने का समर्थन करता हूं और रामानुज के मंच से स्रष्टा होने का। सच तो यह है कि हम सब... अज्ञेय को जानना चाहते हैं, इसीलिए हमारी वाणी लड़खड़ाती है, अपूर्ण सिद्ध होती है और बहुधा परस्पर विरोधी होती है।"[10]

इसी प्रकार गांधी जी ने आगे भी कुछ विरोधपूर्ण युक्तियां दी हैं --"वह एक भी है और अनेक भी, वह परमाणु से भी छोटा है और हिमालय से भी बड़ा है। वह महासागर की एक बूंद में भी समा जाता है और फिर भी सातों समुद्र उसका पार नहीं पा सकते।"[11] यहां गांधी जी तथा व्हाइटहेड के चरमसत्ता विचार में समानता दिखाई पड़ता है, क्योंकि दोनों ही चरमसत्ता में विभिन्न पहलुओं का समन्वय स्थापित करते हैं. सतही स्तर पर गांधी तथा व्हाइटहेड दोनों का चरमसत्ता विचार विरोधपूर्ण प्रतीत होता है. कुछ दार्शनिकों ने यह आलोचना की है कि ईश्वर किस प्रकार विरोधपूर्ण गुणों से युक्त हो सकता है, क्योंकि व्हाइटहेड ने ईश्वर में चल-अचल दोनों गुणों को ही भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से बताया है. गांधी के साथ भी यही बात है. गांधी जी ने ईश्वर को व्यक्तित्वपूर्ण एवं व्यक्तित्वरहित दोनों ही बताया है.

यहां उ
तथा र
ने भी
कि गां

कन्टिय
ठीक इ
के समा
कन्टिय
शंकर के

यह बा
करता
प्रतिपा
में क्र
या का

को देख
हुआ है
कल्पना
रूप में

सत्य क

का अस्तित्व ही नहीं है. सामान्यतः सत्य का अर्थ केवल सच बोलना ही समझा जाता है. किन्तु गांधी जी ने सत्य शब्द का प्रयोग वृहद् अर्थ में किया है. विचार में, वाणी में, और आचार में सत्य का होना ही सत्य है. इस सत्य को जो सम्पूर्णतया समझ लेता है, उसे जगत् में दूसरा कुछ भी जानने को नहीं रहता, क्योंकि सारा ज्ञान उसी में समाया हुआ है जो उसमें न समाये वह सत्य नहीं है, ज्ञान नहीं है. सत्य की व्यापकता को समझाते हुए महात्मा गांधी जी ने कहा है --"मेरे लिए सत्य सर्वोपरि सिद्धान्त है जिसमें कि अन्य कई सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। यह केवल वचन का ही सत्य नहीं है, मन का सत्य भी है, और हमारी कल्पना का सापेक्षिक सत्य ही नहीं है, बल्कि वह निरपेक्ष सत्य, वह शाश्वत सिद्धान्त है जो कि ईश्वर है।"[१३] उन्होंने अन्यत्र कहा है,--" सत्य निरपेक्ष, सर्वकालीन और अनन्त है।"[१४] जो सत्य जीवन में इतना व्यापक है, उसके शोधक के लिए यह कैसे सम्भव हो सकता है कि वह उस चिर सत्य की साधना के क्षेत्र को अपने जीवन तक ही सीमित रखे. उसका लक्ष्य और उसका प्रयत्न तो यही हो सकता है कि वह स्वयं ऐसा कोई कार्य न करे जो असत्य की ओर ले जाने वाला हो। बल्कि उसका प्रयास तो यह होगा कि समाज में जहां-कहां भी उसे असत्य और हिंसा दिखाई पड़े, उसे मिटाने का प्रयत्न करे. इस सम्बन्ध में गांधी जी के ये शब्द उल्लेखनीय हैं,--" मेरी आत्मा उस समय तक संतोष नहीं मान सकती, जब तक कि वह एक भी अन्याय और दु:ख को एक असहाय साक्षी के रूप में देखती रहे।"[१५]

सत्य के दो पहलू हैं -- एक निकट का और दूसरा दूर का. . ईशोपनिषद् में एक स्थान पर कहा गया है कि सत्य निकट भी है और दूर भी है. इसका अर्थ इस प्रकार किया गया है कि सत्य में निकट और दूर दोनों का समन्वय और समावेश होता है. इससे यह अनुमान किया जाता है कि जो निकट का है उसका दूर के साथ सम्बन्ध है. गांधी जी, जो निकट का है उसपर अधिक ध्यान देते हैं. इसी प्रकार सत्य के दो रूप हैं-- एक तपस्या का और दूसरा उस आनन्द का है. गांधी जी ने सत्य को तपस्या के रूप में माना है. गांधीजी

के अनुसार ब्रह्माण्ड को धारण करने वाली चरम नीतिमय शक्ति ही सत्य है. इस प्रकार सत्य को समझने का मार्ग नीति है. महाभारत में कहा गया है कि तुला के एक पलड़े पर संसार के सभी दान-पुण्य रख दिये जायें और दूसरे पर केवल सत्य, तब भी सत्य का ही पलड़ा भारी रहेगा. गांधी जी ने सत्य पर बहुत ज़ोर दिया है. मानव जाति की समस्त कठिनाइयां दूर हो सकती हैं, यदि सभी व्यक्ति सत्य का पालन करें. गांधी जी कहते हैं--"सत्य के लिए यदि हमें किसी का विरोध करना पड़े तब भी सत्य को नहीं छोड़ना चाहिए. प्रह्लाद ने सत्य के लिए अपने पिता का भी विरोध किया था. पांच नियम हैं, जिन्हें यम कहते हैं, इनमें से पहला नियम सत्य की दृढ़ प्रतिज्ञा है.

सत्य के पालन में ही शान्ति है. सत्य ही सत्य का पुरस्कार है. जिस प्रकार कीमती से कीमती वस्तु बेचने वाले को उससे अधिक कीमती वस्तु नहीं मिल सकती, उसी प्रकार सत्यवादी भी सत्य से बढ़कर और क्या चीज़ चाहेगा. सत्य जहां सूर्य के समान ताप पहुंचाता है, वहां प्राण का सिंचन भी करता है. सूर्य यदि एक घड़ी के लिए भी तपना बन्द कर दे तो यह सृष्टि जड़वत् बन जाये. इसी प्रकार यदि सत्यरूपी सूर्य क्षण भर के लिए न तपे तो इस संसार का नाश हो जाय.

तैत्तिरीयोपनिषद् में कहा गया है कि हमें सत्य बोलना चाहिए, धर्म पर चलना चाहिए और सत्य से कभी विचलित नहीं होना चाहिए. महानारायणोपनिषद् में भी सत्य पर बहुत ज़ोर दिया गया है. महाभारत में कहा गया है कि सत्य से बढ़कर कोई धर्म नहीं और झूठ से बढ़कर कोई पाप नहीं है, वस्तुत: सत्य ही धर्म का मूल है. युवराज रामचन्द्र को दरबार के एक पुरोहित ने सलाह दी थी कि वे अपने पिता को दिये चौदह वर्ष तक वन के वचन से मुकर जायें, किन्तु उसे उत्तर देते हुए रामचन्द्र कहते हैं,--" सत्य और दया राज-धर्म के अविस्मरणीय अंग हैं । इसलिए राज्यशासन तत्वत: सत्य ही संसार का आधार है । ऋषि और देव दोनों ने सत्य का आदर किया है । जो

मनुष्य इस लोक में सत्य बोलता है वह श्रेष्ठ और अमर पद को प्राप्त करता है। मिथ्यावादी मनुष्य से लोग, भय और आतंक के मारे, ऐसे परे भागते हैं, जैसे कि सांप से। संसार में धर्म का मुख्य तत्व सत्य है। सत्य प्रत्येक वस्तु का आधार कहा जाता है। सत्य संसार में सर्वोपरि है। धर्म का आधार सदा सत्य ही होता है। सब वस्तुओं का आधार सत्य ही है। कोई भी वस्तु इससे ऊंचा नहीं। मैं अपने वचन का पालन क्यों न करूं? अपने पिता के सत्य आदेश पर सचाई से क्यों न चलूं? मैं लोभ-लालच, बहकावे या अज्ञान के वश में होकर या अपनी दृष्टि कलुषित हो जाने के कारण सत्य की मर्यादा का उल्लंघन नहीं करूंगा।[६६] प्रकृति के नियमों में ही सत्य का प्रकाश होता है. सब सद्गुण सत्य के रूप हैं. भीष्म ने महाभारत में उनका वर्णन इस प्रकार किया है कि सत्य-परायणता, न्यायवर्तिता, आत्मसंयम, आडम्बरहीनता, क्षमा, नम्रता, सहिष्णुता, अनुसूया, दाक्षिण्य, परोपकार, आत्मजय, दया और अहिंसा-- ये तेरहों सत्य के रूप हैं. अश्वमेध पर्व में श्रीकृष्ण ने कहा है कि सत्य और धर्म का हमारे अन्दर नित्य निवास है. रामायण में कहा गया है कि सत्य से बढ़कर कुछ नहीं है, यह अन्य सब वस्तुओं से पवित्र है. सत्य महात्माओं और प्रभु को बहुत प्रिय रहा है और जो इस जीवन में सत्य का पालन करता है वह मृत्यु के पश्चात् उच्चतम लोकों में जाता है. जो सत्य से घृणा करता है हम उससे उसी प्रकार परे रहते हैं, जिस प्रकार सांप के विष भरे दांत से.

मनु ने धर्म के जो दस लक्षण बताये हैं उनमें कई ऐसे हैं जो मन की साधना और उच्चतम सत्य की प्राप्ति के लिए अति आवश्यक है-- धैर्य, क्षमा, आत्ममन्थन, चोरी न करना, शुद्धि, इंद्रिय-निग्रह, बुद्धि, ज्ञान, सत्य और अक्रोध ये दस धर्म के लक्षण अर्थात् साधन हैं. मुण्डकोपनिषद् में कहा गया है --" सत्य ही जीतता है, झूठ नहीं। सत्य का ही वह मार्ग है जिस पर देव अर्थात् विद्वान लोग चलते हैं। इसी मार्ग पर चलकर, अपनी सब कामनाओं को पूर्ण कर चुकने वाले ऋषि, उस ब्रह्म में लीन होकर मुक्त हो जाते हैं जो

सत्य का परम निधान है।[27] गांधी जी के अनुसार सत्य एक विशाल वृक्ष है, ज्यों ज्यों उसकी सेवा की जाती है, त्यों-त्यों उसमें से अनेक फल पैदा होते दिखाई पड़ते हैं, उसका अन्त ही नहीं होता, हम जैसे-जैसे उसकी गहराई में उतरते हैं, वैसे-वैसे उसमें से अधिक रत्न मिलते जाते हैं, सेवा के अवसर प्राप्त होते रहते हैं, हमारे विचार में सत्य होना चाहिए, हमारी वाणी में सत्य होना चाहिए और हमारे कर्म में भी सत्य होना चाहिए, जिसने इस सत्य को समझ लिया, उसके लिए और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता, सत्य में प्रेम की प्राप्ति होती है, सत्य में मृदुता मिलती है, सत्य से ही धर्म बढ़ता है, स्वभाव से सत्य स्वतः प्रत्यक्ष है, ज्यों ही हम उस अज्ञान के जालों को दूर कर देते हैं, जो उसके चारों तरफ फैले हुए हैं, वह स्पष्ट रूप से चमकने लगता है, निर्मल अंतःकरण को जिस समय जो प्रतीत हो वह सत्य है, उसपर दृढ़ रहने से शुद्ध सत्य की प्राप्ति हो जाती है.

गांधी जी कहते हैं-- हमारी अन्तरात्मा जो कहे वही सत्य है, अब प्रश्न उठता है कि विभिन्न लोग विभिन्न और विरोधी सत्यों की कल्पना कैसे करते हैं ? इसका उत्तर यह है कि मानव-मन असंख्य माध्यमों द्वारा काम करता है और मानव-मन का विकास हर एक में एक सा नहीं हुआ है, इसलिए यह परिणाम तो आयेगा ही कि जो एक के लिए सत्य हो वह दूसरे के लिए असत्य हो। और इसलिए जिन लोगों ने सत्य के प्रयोग किए हैं, वे इस परिणाम पर पहुंचे हैं कि इन प्रयोगों में कुछ शर्तों का पालन करना जरूरी है, जैसे वैज्ञानिक प्रयोग सफलतापूर्वक करने के लिए अमुक वैज्ञानिक शिक्षा चाहिए, ठीक वैसे ही आध्यात्मिक क्षेत्र में प्रयोग करने की योग्यता प्राप्त करने के लिए कठोर प्रारंभिक साधना जरूरी है, इसलिए कोई अपनी अन्तरात्मा की आवाज की बात करे, उसके पहले उसे अपनी मर्यादाएं अच्छी तरह समझ लेनी चाहिए, इस प्रकार सत्य की प्राप्ति के लिए नम्रता की आवश्यकता है, गांधी जी के अनुसार, --" मैं केवल सत्य का शोधक हूं। मेरा दावा है कि मुझे सत्य का रास्ता मिल गया है। मेरा दावा है कि मैं सत्य को पाने का सतत् प्रयत्न कर रहा हूं। परन्तु मैं स्वीकार करता हूं कि मुझे अभी तक वह मिला नहीं है। सत्य को पूरी तरह

प्राप्त कर लेना अपने को और अपने लक्ष्य को प्राप्त कर लेना है, अर्थात् सम्पूर्ण हो जाना है । मुझे अपनी अपूर्णताओं का दु:खद भान है । और इसी में मेरा बल समाया हुआ है, क्योंकि अपनी मर्यादाओं को जान लेना मनुष्य के लिए दुर्लभ वस्तु है ।[९८]

गांधी जी ने सत्य, शिव, सुन्दर में सत्य को शिव और सुन्दर का मूल माना है. उन्होंने कहा है,-- "सत्य ही मूल वस्तु है, पहले सत्य को पाना चाहिए । लेकिन सत्य शिव और सुन्दर होता है, अत: सत्य को प्राप्त कर लेने पर कल्याण, सौन्दर्य तुम्हें मिल ही जायेंगे । ईसा ने अपने गिरि-प्रवचन में यही सिखाया है । ईसा को मैं महान कलाकार मानता हूं, क्योंकि उन्होंने सत्य की उपासना की, उसे ढूंढा और अपने जीवन में प्रकट किया । इसी तरह मुहम्मद भी एक बड़े कलाकार थे -- कुरान अरबी साहित्य की सर्वश्रेष्ठ रचना है पण्डितजन ऐसा ही कहते हैं । दोनों ने पहले सत्य की प्राप्ति का प्रयत्न किया, यही कारण है कि उनकी वाणियों में अभिव्यक्ति का सौन्दर्य अपने आप आ गया । लेकिन ईसा या मुहम्मद किसी ने भी कला पर कुछ लिखा नहीं । ऐसे ही सत्य और सौन्दर्य की आकांक्षा मैं करता हूं । मैं उसी के लिए जी रहा हूं, और जरूरत हो तो अपने प्राण भी उसके लिए दे दूंगा ।[९९]

सत्य का ज्ञान ही हमें जीने योग्य बनाता है. सत्य से ही अस्तित्व का निर्माण हुआ है. अस्तित्व और निर्माण के ताने-बाने से सत्य गुंथा हुआ है. अनन्त में संचार करने वाले भूमण्डल का स्वरूप निरन्तर बदलता रहता है तथापि उसके मूल में स्थित सत्य शाश्वत रहता है. सारे अस्तित्व के मूल में रहने वाला नियम ही सत्य है. सत्यमय जीवन का अर्थ है, अस्तित्व के नियमों का उचित एवं सम्पूर्ण ज्ञान तथा तदनुसार अचूक व्यवहार. उसके अतिरिक्त की गई सारी दौड़-धूप केवल गलत रास्ते पर भटकना है. रंगनाथ दिवाकर अपनी पुस्तक सत्याग्रह-मीमांसा में कहते हैं,-- "जब मैं कहता हूं कि मैं सत्य बोलता हूं तब उससे मेरा क्या

मतलब होता है ? उसका यह अर्थ है कि मुझे वस्तुस्थिति जैसी दिखाई दी मैं उसका हू बहू वर्णन कर रहा हूं । जब मेरा कथन सुनने वाला मित्र कहता है -- 'हां यह सत्य है' तब उसका भी यह मतलब होता है कि उसे भी वस्तुस्थिति वैसे ही दिखाई दी है जैसी कि मैंने देखी है, जब बहुत से लोग मेरे सत्य कथन की पुष्टि करते हैं तब उन सब लोगों को भी वस्तुस्थिति का दर्शन मुझ जैसा ही हुआ होता है । किसी विशेष घटना के सम्बन्ध में हमारा दृष्टिकोण एवं अनुभव एक जैसा ही होता है । किसी घटना का ज्ञान और उसकी अभिव्यक्ति की एकरूपता का अर्थ है सत्य ।"[20]

सत्य की ओर बढ़ने का यदि कोई एकमात्र साधन हमारे पास है तो वह मन है, हमारी पांचों इन्द्रियां मन का साधन हैं, सत्य का प्रतिबिम्ब ठीक-ठीक पड़ने देने के लिए उन साधनों को हमें स्वच्छ रखना चाहिए, अर्थात् शारीरिक और मानसिक दोनों दृष्टियों से हमारा जीवन शुद्ध और सुदृढ़ रहना चाहिए.

प्रश्न किया जाता है कि सत्य कैसे प्राप्त किया जाये ? इसका उत्तर भगवान ने दिया है कि अभ्यास और वैराग्य से, अभ्यास यानी एकमात्र सत्य के लिए उत्कट अधीरता और वैराग्य यानी सत्य के सिवा दूसरी सारी वस्तुओं के विषय में आत्यन्तिक उदासीनता से ही हम सत्य की प्राप्ति कर सकते हैं, फिर भी हम देखेंगे कि जो एक के लिए सत्य है वह दूसरों के लिए असत्य हो सकता है, इसमें घबराने का कोई कारण नहीं है, जहां शुद्ध प्रयत्न है वहां समझ में आ जायगा कि भिन्न जान पड़ने वाले सब सत्य एक ही पेड़ के असंख्य भिन्न दिखाई देने वाले पत्तों के समान हैं, इसलिए जिसे जो सत्य जान पड़े, उसी के अनुसार वह चले तो उसमें दोष नहीं है, यदि उसमें कोई भूल होगी तो वह अवश्य सुधर जायेगी, कारण सत्य की शोध के पीछे तपश्चर्या होती है अर्थात् खुद मर मिटने की, कष्ट सहन करने की भावना, इसलिए उसमें स्वार्थ की गंध तक नहीं होती, ऐसे निःस्वार्थ शोध में लगा हुआ कोई भी मनुष्य

आज तक गलत रास्ते पर नहीं गया. इसलिए सत्य की आराधना ही सच्ची भक्ति है.

गांधी जी के अनुसार सत्य के पुजारी के लिए मौन का सेवन उचित है. जाने-अनजाने भी मनुष्य अतिशयोक्ति करता है, जो कहने योग्य है,उसे छिपाता है. ऐसे संकटों से बचने के लिए अल्प भाषी होना आवश्यक है.

(३) सत्य ही ईश्वर है

गांधी जी सत्य को ही ईश्वर मानते हैं. उनके अनुसार जितने प्राणी हैं, उतने ही ईश्वर के नाम हैं और इसलिए हम यह भी कहते हैं कि ईश्वर अनाम है,और चूंकि ईश्वर के अनेक रूप हैं, इसलिए हम उसे अरूप भी समझते हैं, और चूंकि वह हमसे कई वाणियों में बात करता है, इसलिए हम उसे अवाक् समझते हैं, इत्यादि, इत्यादि. इसी तरह जब उन्होंने इस्लाम का अध्ययन किया, तब उन्हें पता लगा कि इस्लाम में भी ईश्वर के अनेक नाम हैं. जो लोग कहते हैं कि ईश्वर प्रेम है, उनके स्वर में स्वर मिलाकर गांधी जी कहते हैं कि ईश्वर प्रेम है. गांधी जी के अनुसार ईश्वर प्रेम रूप तो होगा ही पर सबसे अधिक तो वह सत्य रूप ही है. ईश्वर सत्य स्वरूप है. गांधी जी की धारणा है कि सत्य ही ईश्वर है. सत्य से उनका तात्पर्य अस्ति या अस्तित्व है. उनका विश्वास है कि ईश्वर का निराकरण सम्भव नहीं है. सत्य का निराकरण भला किस प्रकार किया जा सकता है.

संसार अस्थिर,गतिवान और क्षणभंगुर है. इसमें कुछ भी स्थाई सत्य नहीं प्रतीत होता है. किन्तु इसके परे सत्य अवश्य है,जो यद्यपि अदृश्य, अवर्णनीय और अगोचर है,किन्तु उसका सभी आदर करते हैं. इसी सत्य को गांधी जी ने ईश्वर कहा है. डा० राजू ने भी इस मत का समर्थन करते हुए कहा है " कोई शंका नहीं करता कि संसार में सत्य है. जब कहा जाता है कि जो सत्य है

वही ईश्वर है तो यह वाक्य सारगर्भित हो जाता है और वस्तुत: ईश्वर की सत्ता का प्रमाण हो जाता है.[21] गांधी जी कहते हैं,-- "..... परमेश्वर की व्याख्यायें अगणित हैं,क्योंकि उसकी विभूतियां भी अगणित हैं। विभूतियां मुझे आश्चर्यचकित तो करती हैं, मुझे क्षण भर के लिए मुग्ध भी करती है,पर मैं तो पुजारी हूं सत्य- रूपी परमेश्वर का। मेरी दृष्टि में वही एकमात्र सत्य है, दूसरा सब कुछ मिथ्या है। पर यह सत्य अभी तक मेरे हाथ नहीं लगा,अभी तो मैं उसका शोधक मात्र हूं। हां उसकी शोध के लिए मैं अपनी प्रिय से प्रिय वस्तु को भी छोड़ देने के लिए तैयार हूं,और इस शोध रूपी यज्ञ में अपने शरीर को भी होम देने की तैयारी कर ली है।[22] गांधी जी कहते हैं-- यदि मनुष्य के लिए ईश्वर का सम्पूर्ण वर्णन करना सम्भव हो तो मैं इसी निश्चय पर पहुंचा हूं कि ईश्वर सत्य है. दो वर्ष पूर्व एक कदम और आगे बढ़कर मैंने कहा कि ईश्वर न केवल सत्य रूप है बल्कि सत्य ही ईश्वर है.[23] गांधी जी के अनुसार ईश्वर सत्य है और सत्य ही ईश्वर है इसमें सूक्ष्म भेद है. गांधी जी कहते हैं कि परमेश्वर ही सत्य है-- ऐसा कहने में यह दोष आता है कि परमेश्वर और कुछ भी है. परमेश्वर सहस्र नामधारी है, बहुनामी है, यह सब सही है, परन्तु उसके लिए बहुनाम का ख्याल करने से जिस चीज़ को हम सर्वार्पण करना चाहते हैं, उसके छोटे होने का भय हो जाता है. लेकिन सत्य ही परमेश्वर है-- ऐसा कहने में दूसरे सब नाम छूट जाते हैं, केवल सत्य का ही ध्यान रहता है और वह अद्वैतवाद के साथ ज्यादा मिलता है. नास्तिकवाद का यहां स्थान ही नहीं रहता,क्योंकि नास्तिक भी अस्ति को मानता है और अस्ति का मूल रूप सत् है. यहां सत्य का अर्थ सत्य बोलना ही नहीं है. सत्य का अर्थ यहां मन,वचन और काया की एकरूपता है और इससे अधिक है. जगत् में वस्तुत: जो कुछ भी है, भूतकाल में था, भविष्य में होगा-- वही सत् है, सत्य है, परमेश्वर है और इसके सिवा कुछ नहीं है. सम्पूर्ण सत्य केवल ईश्वर को मालूम है , अत: सत्य ही ईश्वर है.

गांधी जी कहते हैं कि इस निष्कर्ष पर वे पचास वर्षों तक अनवरत और कठिन साधना करने के बाद ही पहुंचे हैं. सत्य तक पहुंचने का सबसे नजदीक का मार्ग प्रेम है. गांधी जी ने प्रेम का अर्थ अहिंसा से लिया है. नास्तिकों ने भी सत्य की आवश्यकता या शक्ति को अस्वीकार नहीं किया है, बल्कि सत्य की खोजने में उन लोगों ने ईश्वर के अस्तित्व को भी मानने से इंकार कर दिया है. इसपर विचार करने के बाद ही गांधी जी ने ईश्वर सत्य है ऐसा कहने के बजाय यह कहना शुरू कर दिया कि सत्य ही ईश्वर है. गांधी जी कहते हैं,--"मेरा दावा है कि मैं बचपन से ही सत्य का पुजारी हूं। मेरे लिए यह सबसे सहज और स्वाभाविक वस्तु था। मेरी भक्तिपूर्ण खोज ने मुझे 'ईश्वर सत्य है' के प्रचलित मंत्र के बजाय 'सत्य ही ईश्वर है' का अधिक गहरा मंत्र दिया। यह मंत्र मुझे ईश्वर को मानो अपना आंखों के सामने प्रत्यक्ष देखने की क्षमता प्रदान करता है। मैं अनुभव करता हूं कि वह मेरा रग-रग में समाया हुआ है।"[24]

गांधी जी सत्य और अहिंसा में सम्बन्ध बताते हुए कहते हैं, "अहिंसा मेरा ईश्वर है और सत्य मेरा ईश्वर है। जब मैं 'अहिंसा को ढूंढता हूं तो सत्य कहता है : 'मेरे द्वारा उसे खोजो।' जब मैं सत्य की तलाश करता हूं तो अहिंसा कहती है : 'मेरे जरिये उसे खोजो'।"[25] गांधी जी ने सत्य को ही ईश्वर माना है और साथ ही सत्य को अहिंसा से भी सम्बन्धित बताया है. उनके अनुसार "... अहिंसा के बिना सत्य सत्य नहीं वरन् असत्य है।"[26] इस प्रकार सत्यमय बनने के लिए अहिंसा ही एक राजमार्ग है. गांधी जी के अनुसार सत्य का सम्पूर्ण दर्शन सम्पूर्ण अहिंसा के अभाव में अशक्य है. ऐसे व्यापक सत्य के प्रत्यक्ष दर्शन के लिए प्राणिमात्र के प्रति आत्मवत् प्रेम की बड़ी भारी जरूरत है. इस सत्य को पाने की इच्छा करने वाला मनुष्य जीवन के एक भी क्षेत्र से बाहर नहीं रह सकता. गांधी जी कहते हैं कि सत्य के दर्शन के लिए शुद्ध होना चाहिए. शुद्ध होने का मतलब तो मन के वचन से और काया से निर्विकार होना, रागद्वेष से रहित होना है.

जहां सत्य है वहां सत्य ज्ञान भी है. जहां सत्य नहीं है, वहां शुद्ध सत्यज्ञान असंभव है. इसीलिए ईश्वर के नाम के साथ चित अर्थात् ज्ञान शब्द

संयुक्त है और जहां सच्चा ज्ञान है, वहां आनन्द ही आनन्द है, शोक होता ही नहीं, और सत्य शाश्वत होता है, इसलिए आनन्द भी शाश्वत होता है, इसीलिए ईश्वर को हम सच्चिदानन्द कहते हैं, जिसमें सत्य, ज्ञान और आनन्द का समन्वय हुआ है, सत्य से प्रेम, विनय और मृदुता का जन्म होता है, गांधी जी ने भी सत्यरूपी परमेश्वर को सच्चिदानन्द कहा है, हमारा अस्तित्व इसी सत्यरूपी परमेश्वर के लिए है, गांधी जी कहते हैं,--" इसी सत्य की आराधना के लिए ही हमारा अस्तित्व, इसी के लिए हमारी प्रत्येक प्रवृत्ति और इसी के लिए हमारा प्रत्येक श्वासोच्छ्वास होना चाहिए।"[१७]

-0-

सन्दर्भ

(१) गांधी जी : गीतामाता, पृ० ५०१

(२) राधाकृष्णन् : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० ३६२

(३) " The dead mechanisms of stones, the unconcious life of plants, the conscious life of animals and the self-conscious lif of man are all part of the absolute and its expression at different stages. The same Absolute reveals itself in all these but differently in each. The ultimate Reality sleeps in the stone breathes in the plants, feels in the animals and awakens to self-consciousness in man."

राधाकृष्णन् : रेन आॅफ रिलीजन इन कंटम्प्रेरी फिलासफी, पृ०४४२-४३

(४) "Ishvara is Absolute in action as Lord and Creator."

शिल्प, पा०ए०(संपादक): फिलासफी आॅफ सर्वपल्ली राधाकृष्णन, पृ०४०

(५) बृहदारण्यक उपनिषद्, ५.१

(६) बृहदारण्यक उपनिषद्, १.४.१४

(७) "It is true to say that God is permanent, and the world fluent, as that the world is permanent and God is fluent. It is as true to say that God is one and the world many as that the would is one and God many."

व्हाइटहेड : प्रोसेस एण्ड रियलिटी, पृ०४९३-९४ और दत्ता, डी०एम० : दि फिलासफी ऑफ़ महात्मा गांधी, पृ०३२

(८) यंग इण्डिया, मार्च ५, १९२५, पृ०८०-८१ और गांधी जी : मेरा ईश्वर, पृ० ११-१२

(९) "It is as true to say that the world is immanent in God as that God is immanent in the world, It is as true to say that God transcends the world, as that the world, as that the world transcends God. It is as true to say that God creates the world as that the world creates God."

व्हाइटहेड : प्रोसेस एण्ड रियलटी, पृ०४९२

(१०) गांधी जी : मेरा ईश्वर, पृ० १२-१३

(११) वही, पृ०१२

(१२) " It is no wonder, therefore, that Whitehead and Gandhi would think alike."

दत्ता, डी०एम० : दि फिलासफी ऑफ़ महात्मा गांधी, पृ०३३

(१३) माथुर, प्रेमनारायण (संपादक) : गांधी ग्रंथ, पृ० २४

(१४) वही, पृ० २४

(१५) वही, पृ० २४

(१६) वाल्मीकीय रामायण (प्रो० मैक्समूलर के अंग्रेजी अनुवाद से)

(१७) मुण्डकोपनिषद्, मुण्डक ३, खण्ड१, वाक्य ६.

(१८) यंग इण्डिया, १७-११-२१

(१९) वही, २०-११-२४

(२०) दिवाकर, रंगनाथ : सत्याग्रह- मीमांसा, पृ० ४७

(२१) "But non questions that there is truth in universe. When it is said that God is the same as the truth the judgment becomes significant and practically amounts to the proof of God."
राजू, पी०टी० : एन आइडियलिस्टिक थॉट ऑफ इण्डिया, पृ० ९७

(२२) सत्याग्रहाश्रम, साबरमती । मार्गशीर्ष शुक्ल ११, सं० १९८२ (१९२५)
आत्मकथा की भूमिका से

(२३) गांधी जी : मेरा ईश्वर, पृ० १५-१६

(२४) हरिजन, ९-८-४२

(२५) यंग इण्डिया, ४-६-२५

(२६) यंग इण्डिया, भाग२, पृ० १२९५ और पावन, गोपीनाथ: सर्वोदय तत्त्व दर्शन, पृ० ५५

(२७) धर्मनीति, पृ० ११७-१८

****

षष्ठ अध्याय

-0-

आत्मा का स्वरूप

(१) आत्मा का स्वरूप

(२) आत्मा और ईश्वर

(३) देह और आत्मा

(४) संकल्प - स्वातन्त्र्य

(५) अशुभ विचार

(६) कर्म सिद्धान्त

(७) आत्मा की अमरता

(८) पुनर्जन्म

(९) मोक्ष

-0-

षष्ठ अध्याय

-0-

आत्मा का स्वरूप

(१) आत्मा का स्वरूप

आत्मा के अस्तित्व को सभी दार्शनिक मानते हैं. लोक-व्यवहार में हम नित्य अनुभव करते हैं कि मैं हूं अथवा यह मेरा है. दर्शन की दृष्टि से समस्त सांसारिक जीव (कृमि से मनुष्य तक) का कोई अस्तित्व नहीं, किन्तु उनके भीतर जो सर्वव्यापी चेतन है, जिसे हम अन्तरात्मा या अन्तश्चेतना कहते हैं, यथार्थत: वही सब कुछ है. इस शरीर में आत्मा के कारण ही हम अपने पराये का अनुभव करते हैं. इसी के कारण व्यक्ति का अस्तित्व है, अत: इसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता. अस्वीकार करने के लिए भी हमें चेतन आत्मा की आवश्यकता पड़ेगी.

महात्मा गांधी पर गीता तथा उपनिषद् का गहरा प्रभाव पड़ा है. आत्मा के सन्दर्भ में गांधी गीता तथा उपनिषद् की व्याख्या को मान लेते हैं. उपनिषदों के अनुसार आत्मा ही परमतत्व है. कठोपनिषद् में कहा गया है कि यह चैतन्य स्वरूप आत्मा न जन्म लेता है और न मरता है, यह किसी दूसरे से उत्पन्न नहीं होता और न दूसरे को उत्पन्न करता है. शरीर के साथ इसका विनाश नहीं होता. आत्मा सूक्ष्म से सूक्ष्मतर और महान से महत्तर है. गीता और उपनिषद् दोनों में ही आत्मा को अविनाशी,नित्य,अजन्मा,अच्छेद्य,सर्वगत, अव्यक्त, अचिन्त्य, अविकारी माना है. यही परमतत्व है. शरीर विनाशवान,विकारी, जड़ है, जैसे कोई मनुष्य पुराने कपड़ों को त्याग कर नये कपड़ों को धारण करता है,उसी तरह आत्मा पुराने शरीर को त्याग कर नये शरीर में प्रवेश करती है. शरीरजनित

कर्मों से आत्मा प्रभावित नहीं होती।[१]

भारत के अधिकांश दार्शनिक आत्मा को स्थायी मानते हैं, लेकिन बौद्ध धर्म के अनुसार संसार की सभी वस्तुओं की तरह आत्मा भी परिवर्तनशील है। आत्मा का अस्तित्व व्यक्ति की मृत्यु के उपरान्त एवं मृत्यु के पूर्व भी रहता है। यह एक शरीर से दूसरे शरीर में मृत्यु के उपरान्त प्रवेश करता है। बुद्ध ने शाश्वत आत्मा का निषेध किया है। बुद्ध के अनुसार आत्मा अनित्य है। यह अस्थायी शरीर और मन का संकलनमात्र है। जिस सत्ता को बौद्ध धर्म में आत्मा कहा गया है, उसी सत्ता को जैन धर्म में जीव की संज्ञा दी गई है। वस्तुत: जीव और आत्मा एक ही सत्ता के दो भिन्न-भिन्न नाम हैं। जैनों के अनुसार चेतन द्रव्य को जीव कहा गया है। चैतन्य जीव का स्वरूप लक्षण है। यह जीव में सर्वदा वर्तमान रहता है। चैतन्य के अभाव में जीव की कल्पना भी असम्भव है। जैनों का जीव सम्बन्धी यह विचार न्याय-वैशेषिक के आत्मा सम्बन्धी विचार से भिन्न है। न्याय वैशेषिक ने चैतन्य को आत्मा का आगन्तुक लक्षण माना है। आत्मा उनके अनुसार स्वभावत: अचेतन है, परन्तु शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से संयुक्त होने पर आत्मा में चैतन्य का संचार होता है। इस प्रकार चैतन्य आत्मा का आगन्तुक गुण है, परन्तु जैनों ने चैतन्य को आत्मा का स्वभाव माना है। जैनों के अनुसार जीव नित्य है, ज्ञाता है, कर्ता है, भोक्ता है। सांख्य ने आत्मा को पुरुष कहा है। पुरुष सजीव होता है, प्राणवान और संवेदनशील होता है। सांख्य के अनुसार आत्मा ज्ञाता है। वह न शरीर है न इन्द्रियां, न मस्तिष्क और न बुद्धि। वह सांसारिक विषयों से परे है। यह कभी ज्ञान का विषय नहीं होता। चैतन्य इसका गुण नहीं स्वभाव है। वेदान्त आत्मा को आनन्दस्वरूप मानता है, किन्तु सांख्य नहीं मानता। यह आनंद और चैतन्य को दो वस्तु मानता है, एक नहीं। पुरुष शुद्ध चैतन्यस्वरूप है जो प्रकृति के प्रभाव से परे है। ज्ञान उसका स्वभाव है। ज्ञान का विषय बदलता रहता है, किन्तु चैतन्य का प्रकाश सदा एक ही रहता है। आत्मा निष्क्रिय तथा अविकारी है। विकार और क्रिया तो प्रकृति में उत्पन्न होती है। पुरुष इससे अछूता रहता है।

यह स्वयंभु, नित्य तथा सर्वव्यापी सत्ता है. विषय या राग-द्वेष से यह प्रभावित नहीं होता. सांख्य दर्शन में पुरुष या आत्मा को केवल, उदासीन, अकर्ता, मध्यस्थ, साक्षी, द्रष्टा, सदा प्रकाशस्वरूप और ज्ञाता कहा गया है. अद्वैत वेदान्त के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक ही हैं. यह आत्मा सनातन है, ज्ञाता स्वरूप है. प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है कि मैं हूं, अत: आत्मा स्वत: प्रकाश माना गया है. मैं का प्रयोग ज्ञानेन्द्रिय अर्थ में भी होता है, जैसे मैं काना हूं, यहां मैं का अर्थ आंख है. आंख इन्द्रिय है, अत: आत्मा का इन्द्रिय के साथ एकीकरण कर दिया गया है. मैं का प्रयोग कर्मेन्द्रिय अर्थ में भी होता है, जैसे मैं लंगड़ा हूं. यहां मैं का अर्थ मेरे पैर हैं. पैर तो कर्मेन्द्रिय है. अत: आत्मा का कर्मेन्द्रिय से एकीकरण माना गया. मैं का प्रयोग अन्त:करण अर्थ में भी होता है, जैसे मैं सोचता हूं. यहां मैं का अर्थ मन या अन्त:करण है. मनुष्य मन से सोचता है. यहां आत्मा का एकीकरण मन से हो गया. मैं का प्रयोग ज्ञाता अर्थ में भी होता है. जैसे मैं जानता हूं. यहां ज्ञाता तथा आत्मा का एकीकरण हुआ. इस प्रकार हम देखते हैं कि मैं शब्द का प्रयोग अनेक अर्थों में हुआ. स्थूल जैसे शरीर से लेकर सूक्ष्म ज्ञाता तक इसका प्रयोग होता है. ज्ञान के कारण ही आत्मा शरीर इन्द्रिय आदि से अपना सम्बन्ध मानता है. अत: ज्ञान ही आत्मा का धर्म है. यह ज्ञान शुद्ध चैतन्य है. आत्मा का यह चैतन्य स्वरूप सार्वकालिक है. आत्मा को आनन्दस्वरूप माना गया है. वह ज्ञान स्वरूप है. सत, नित्य, शुद्ध, मुक्त, ज्ञाता आदि ही आत्मा के स्वभाव हैं. रामानुज का आत्मा सम्बन्धी विचार शंकर से भिन्न है. शंकर के अनुसार आत्मा और ब्रह्म एक हैं. रामानुज ने इन दोनों में भेद माना है. आत्मा चेतन है, इस गुण के कारण ही वह अन्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करती है. शरीर ही उसका बाधा है, इसी के कारण आत्मा सीमित होती है. यह चेतना से विशिष्ट रहती है. यह अत्यन्त सूक्ष्म तत्व है. स्थूल तत्वों की तरह इसका जन्म तथा विनाश नहीं होता. इस प्रकार रामानुज आत्मा को ईश्वर का एक अवयव मानते हैं. हिन्दू धर्म में आत्मा को जीवात्मा कहा जाता है. आत्मा का सम्बन्ध जब शरीर से होता है तो आत्मा के कुछ व्यावहारिक गुण दिखते हैं. इनमें कुछ गुण भौतिक, कुछ मानसिक और कुछ नैतिक हैं. भौतिक गुण की

दृष्टि से जीवात्मा के तीन शरीर हैं, वे हैं -- स्थूल शरीर सूक्ष्म शरीर और कारण शरीर . आत्मा का स्थूल शरीर माता-पिता की देन है, स्थूल शरीर पांच स्थूल भूतों से निर्मित होता है, दूसरे प्रकार का शरीर जो आत्मा ग्रहण करता है, उसे सूक्ष्म शरीर कहा जाता है. कारण शरीर उपर्युक्त जीवात्माओं के शरीरों का कारण है. हिन्दू धर्म में आत्मा को अमर माना गया है. आत्मा अविनाशी है. भगवद्गीता में आत्मा के अमरत्व की व्याख्या निम्नांकित शब्दों में की गई है--" कोई शस्त्र उसे काट नहीं सकता, अग्नि उसे जला नहीं सकती न ही जल उसे भिगो सकता है, और न हवा सुखा सकती है, यह काटा, जलाया, भिगोया तथा सुखाया नहीं जा सकता. यह शाश्वत, सर्वज्ञ, स्थिर, निश्चल तथा अकारण है." हिन्दू धर्म में आत्मा को मूल रूप में चेतन माना गया है. शाश्वत होने के कारण आत्मा अपने वास्तविक रूप में अपरिवर्तनशील है. इसलिए आत्मा को निष्क्रिय कहा जा सकता है. आत्मा काल और दिक् में व्याप्त नहीं है. कार्य-कारण का विकल्प भी आत्मा पर लागू नहीं होता है. इस प्रकार आत्मा पूर्णतः स्वतंत्र है. हिन्दू धर्म में आत्मा की अनेकता पर बल दिया गया है. प्रत्येक शरीर में एक भिन्न आत्मा का निवास है. जितने जीव हैं, उतनी ही आत्माएं हैं, इस प्रकार हिन्दू धर्म अनेकात्मवाद का समर्थन करता है.

आत्मा के विषय में गांधी जी के विचार गीता और उपनिषदों के प्रभाव से ओत-प्रोत हैं. उनके विचार से आत्मा अजन्मा, अमर, अविनाशी, अपरिवर्तनशील तथा सदैव एकरस रहने वाला है. सब प्राणियों में एक आत्मा है. गांधी जी कहते हैं कि सभी मनुष्य जन्मना समान हैं. सभी में चाहे वे भारत में पैदा हों या अमेरिका में या इंगलैण्ड में या चाहे अन्य किसी परिस्थिति में पैदा हों, वही एक आत्मा रहती है. जीवों में जो बाह्य भेद दिखाई देते हैं, वे आत्मा की न्यूनाधिक शक्ति के कारण नहीं हैं, वस्तुतः जिस व्यक्ति ने आत्मा का जितना अधिक साक्षात्कार कर लिया है, उसकी आत्मा उतनी ही अधिक शक्तिशाली होगी. इसलिए अन्तर उतना ही है कि कुछ की शक्ति प्रकट हो चुकी है और दूसरों की शक्ति अभी प्रकट होना बाकी है. प्रयत्न करने से उन्हें भी वहां

अनुभव होगा. गांधी जी के अनुसार मनुष्य में और निम्नकोटि की सृष्टि में आत्मा ही परमतत्व है. वह देश,काल से परे है.

गांधी जी कभी-कभी आत्मा को ईश्वर का अंश भी मानते हैं तथा आत्मा और ईश्वर के बीच सेवक और स्वामी का सम्बन्ध मानते हैं. इससे प्रतीत होता है कि वे द्वैतवाद के भी विरोधी नहीं हैं. रामानुज या कपिल की तरह ईश्वर और आत्मा तथा विभिन्न आत्माओं के बीच उन्हें भेद स्वीकार है, किन्तु यह उनका अन्तिम मत नहीं है. व्यवहार में वे द्वैत भले ही मान लें,किन्तु वे अद्वैत की बुनियादी सिद्धान्त में विश्वास करते हैं. वे आत्मा को एक मानते हैं. आत्मा का अस्तित्व भौतिक शरीर पर निर्भर नहीं होता. गांधी जी के अनुसार इसीलिए जो घटना एक शरीरधारी पर घटती है,उसका प्रभाव समग्र जड़ पदार्थों पर और सब की आत्मा पर पड़ता है. यही कारण है कि यदि एक मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होता है तो उसके साथ-साथ सारे संसार को लाभ होता है, और यदि एक मनुष्य का पतन होता है, तो उस अंश में सारे संसार का पतन होता है.

गांधी जी ऐहिक व्यक्तित्व (जो शरीर को ही जीव मानता है) को नकारते हैं. शरीर को कभी भी जीव या आत्मा नहीं कहा जा सकता , किसी भी चीज के दो पहलू होते हैं-- एक आन्तरिक और दूसरा बाह्य. गांधी जी आन्तरिक पक्ष पर अधिक बल देते हैं. बाह्य पक्ष का कोई मूल्य नहीं है. सिर्फ इस बात को छोड़कर कि वह आन्तरिक पहलू की मदद करता है. शरीर बाह्यपक्ष है और सत्य को आत्मसात् करने में बाधक सिद्ध होता है. गांधी जी का कहना है कि,--" कोई भी पूर्णता प्राप्त नहीं कर सकता, जब तक वह शरीर तक ही सीमित है।"[3] जैसे शरीर को आत्मा नहीं कहा जा सकता, उसीप्रकार अहम् या मनोवैज्ञानिक जीव को भी आत्मा नहीं कहा जा सकता,क्योंकि अहम् या मनोवैज्ञानिक जीव शरीर से पृथक् तो है पर यह भी आन्तरिक सत्ता नहीं है,क्योंकि " वह शरीर के बन्धन में आबद्ध है।"[4] हमें स्थूल अहम् से ऊपर उठना है. आत्मा को गांधी जी स्पिरिट विदिन

या अन्तरात्मा कहते हैं, जिसे व्यक्ति आत्मसात् करने का प्रयास करता है. गांधी जी को अन्तरात्मा से कुछ ज्ञान मिलता है. यह अन्तरात्मा मनुष्य की सच्ची आत्मा है. यही अन्तर्यामी ईश्वर है. यही सर्वत्र जड़-चेतन में व्याप्त है. यह ज्ञान केवल शब्दका ही नहीं, वरन् रूप आदि का भी है. अन्तःकरण और अन्तःचक्षु का प्रयोग इसी हेतु से किया गया है. गांधी जी कहते हैं कि ईश्वर का सान्निध्य प्राप्त हुआ है. इससे हम यह समझ सकते हैं कि यह स्पर्श ज्ञान है कि अन्तरात्मा चक्षु, श्रवण, घ्राण, रसना और त्वक् इन पांचों इन्द्रियों से पृथक् छठीं इन्द्रिय है और पांचों इन्द्रियों के रूप, रस, गंध, शब्द, स्पर्श का ज्ञान देता है. गांधी जी कहते हैं,--" आत्मा अविनाशी है और सेवा कार्यों के द्वारा अपनी मुक्ति निकालने के लिए नये-नये उपचारण करती रहती है।"[5]

मानव के चेतन सत्ता का सार यह है कि उसे निम्न प्रकृति से ऊपर उठना है तथा उच्च आत्मा को आत्मसात् करना है. गांधी जी ने आत्मशक्ति पर बहुत ज़ोर दिया है. सत्याग्रह को सत्य-आग्रह ही नहीं कहा है, बल्कि आत्मशक्ति भी कहा है. इसका अर्थ है कि महात्मा गांधी आध्यात्मिक सत्ता या आत्मा के आधार पर सत्याग्रह का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं. राधाकृष्णन् ने गांधी जी के सत्याग्रह की व्याख्या करते हुए कहा है कि आत्मशक्ति को कभी भी नकारा नहीं जा सकता, क्योंकि इसका नकारा जाना व्यक्तित्व अपने आप से दूर होना है. गांधी दर्शन में आत्मा का सत्य से तादात्म्य है. चूंकि सत्य से तादात्म्य है इसलिए ईश्वर से भी तादात्म्य है. ईश्वर को ही सत्य कहा गया है. इस प्रकार हम देखते हैं कि गांधी जी के आत्मा के सम्बन्ध में विचार दो प्रकार के हैं-- एक निम्न आत्मा, मनोवैज्ञानिक आत्मा, अहम्, जिसका कि शून्य में रूपान्तरण करना है, दूसरी तरफ उच्च आत्मा जो कि वास्तविक आत्मा है तथा जिसका सत्य और ईश्वर से तादात्म्य है. इसी उच्च आत्मा को परम सत्ता माना गया है.

(२) आत्मा और ईश्वर

आत्मा और ईश्वर में सम्बन्ध बताया गया है, आध्यात्मिक सत्ता जिसे ईश्वर कहा जाता है, वह हमारे ज्ञेय पदार्थों का इन्द्रियों से ऊपर है, फिर भी वह उसी तरह की सत्ता मानी गई है, जैसा हम अपने भीतर अनुभव करते हैं, यदि यह सत्ता आत्मा से सर्वथा अज्ञेय, भिन्न होती तो हम उसको धुंधले रूप में भी अनुभव नहीं कर पाते, हम यह भी न कह पाते कि वह सर्वथा भिन्न है, इसप्रकार मनुष्य के स्व में एक ऐसी वस्तु है, जो उच्चतम सत्ता के सदृश है,

सभी आध्यात्मिक ज्ञानों में मनुष्य की आत्मा और ईश्वर का समान द्रव्यता मानी गई है, यह केवल अनुमान का विषय नहीं है, स्वयं आध्यात्मिक अनुभव में भी आत्मा और परमात्मा के बीच को दीवार लुप्त हो जाती है, हम एक सर्वव्यापी परम आत्मा के अंग हैं, वह हममें दर्पण की तरह प्रतिबिम्बित होता है, उपनिषदों में इसी भाव को तत्वमसि (वह तू है) कहा गया है, ईश्वर और आत्मा में उपनिषद् पारमार्थिक भेद नहीं मानते हैं, उनके अनुसार भेद केवल पक्ष का है, ब्रह्म विषय पक्ष है, आत्मा विषयी पक्ष, ब्रह्म अन्तस्थ, कूटस्थ, नित्य, विभु है, आत्मा विशुद्ध चैतन्य स्वरूप है, ब्रह्म की अन्तिम अवस्था आनन्द की अवस्था है,

शंकराचार्य ने ब्रह्म ज्ञान को ही आत्मा कहा है, आत्मा सर्वदा शुद्ध, बुद्ध, चैतन्य तथा आनंदरूप है, यही ब्रह्म है, आत्मा का कोई बंधन नहीं, पारमार्थिक दृष्टि से बन्धन तथा मोक्ष दोनों भ्रम हैं, वास्तव में आत्मा कभी बद्ध नहीं होती, कर्म का प्रभाव शरीर पर पड़ता है, आत्मा से उसका संबंध नहीं है, व्यावहारिक दृष्टि से आत्मा का बन्धन तथा मोक्ष है, यह शरीर के कारण उत्पन्न होता है, शरीर के नाश होने पर आत्मा परमात्मा का अंश बन जाती है, आत्मा के इस स्वरूप को जानना ही ब्रह्म को जानना है, यथार्थ में

दोनों एक हैं. रामानुज के विचार शंकर से भिन्न हैं. रामानुज ने आत्मा और ब्रह्म में भेद बताया है. रामानुज के अनुसार ईश्वर धर्ता है, आत्मा धार्य है. आत्मा नियाम्य है, ईश्वर नियन्ता है. आत्मा अंश है, ईश्वर अंशी है. इस तरह रामानुज के अनुसार जिस तरह अंश का अस्तित्व अंशी पर निर्भर है, गुण का द्रव्य पर आश्रित है, उसी प्रकार आत्मा का अस्तित्व ईश्वर पर निर्भर है. आत्मा कर्म करता है तथा उसके अनुसार फल भोगता है, परन्तु ईश्वर उसके कर्मों से प्रभावित नहीं होता. जिस प्रकार शारीरिक त्रुटियों से आत्मा प्रभावित नहीं होता, उसी तरह ईश्वर भी जीव के विकारों से प्रभावित नहीं होता. इस तरह आत्मा ईश्वर पर आश्रित होते हुए भी अपने कर्मों से ईश्वर को प्रभावित नहीं करता. हिन्दू धर्म में आत्मा और परमात्मा में भेद है. ईश्वर का ज्ञान नित्य है, परन्तु आत्मा का ज्ञान आंशिक, सीमित है. ईश्वर सभी प्रकार की पूर्णताओं से युक्त है जब कि आत्मा अपूर्ण है. आत्मा शरीर में व्याप्त है, परन्तु ईश्वर शरीर से स्वतन्त्र है. यद्यपि आत्मा का सम्बन्ध शरीर से है, फिर भी वह शरीर से पूर्णतः भिन्न है. बाइबिल में कहा गया है कि "इस प्रकार ईश्वर ने मनुष्य को अपने प्रतिबिम्ब के रूप में बनाया।"[6] इसका अर्थ यही है कि मनुष्य की आत्मा में ईश्वर की सच्ची अभिव्यक्ति है. मनुष्य की आत्मा ईश्वर का दीपक है।[7] प्लेटो के अनुसार मनुष्य में नित्य सत्ता में साझेदार होने की क्षमता है और संसार की अस्थिर छायाओं से अपने-आपको पृथक् और अनासक्त रखकर वह अपनी सत्ता को भी नित्य बना सकता है. थिएटिटस में सुकरात ने कहा है कि हमें ईश्वर के समान बनने का प्रयत्न करना चाहिए. ईसा ने भी कहा है कि हम और हमारा पिता एक ही हैं और पिता के पास जो कुछ है वह हमारा है. ऐसा कहकर ईसा ने भी उसी गहन सत्य का आख्यान किया है. यह किसी एक आत्मा और ईश्वर का सम्बन्ध नहीं है, बल्कि यह अन्तिम और परम सम्बन्ध है, जो सभी आत्माओं को ईश्वर के साथ सम्बद्ध करता है. सन्त आगस्टाइन कहते हैं,--"यह आदेश मिलने पर कि मैं अपने-आप में लौट आऊँ, मैं अपने और भी अन्तरतम में प्रविष्ट हो गया। तू मेरा पथ-प्रदर्शक था, इसलिए मैं प्रविष्ट हुआ और अपनी आत्मा की आंख से उस आंख के और मन के ऊपर मैंने एक

अपरिवर्तनीय नित्य प्रकाश देता ।"[८] जेनोवा का सन्त कैथराइन ने कहा है कि ईश्वर मेरा अस्तित्व है, मेरा जीवन है, मेरी शक्ति है, मेरी धन्यता है, मेरा लक्ष्य, मेरा आनन्द है. वर्डस्वर्थ ने कहा है," सब मन उस एक आदि मन में साझेदार है ।"[९]

ईश्वर हमारे भीतर भी है और बाहर भी. ईश्वर न तो पूर्णतः हमसे परे है और न पूर्णतः अन्तर्यामी है. इस दोहरे स्वरूप को प्रकट करने के लिए परस्पर विरोधी विवरण दिये जाते हैं. वह दिव्य अंधकार भी है और असीमित प्रकाश भी. दार्शनिक लोग आत्मा और परमात्मा के एकत्व पर बल देने के लिए उसके अन्तर्यामित्व पर बल देते हैं और कहते हैं कि मनुष्य को यथार्थ सत्ता से पृथक् करने वाली कोई दीवार नहीं है. ईश्वर को एक आत्मा के रूप में देखना या एक व्यक्ति के रूप में देखना, दोनों में कोई तात्त्विक भेद नहीं है, केवल दृष्टिकोण का भेद है, अर्थात् एक में हम उसे उस रूप में देखते हैं, जिस रूप में वह है, और दूसरे में हम उसे उस रूप में देखते हैं, जिस रूप में वह हमें प्रतीत होता है.

(३) देह और आत्मा

जिसमें जीवन होता है, उसे हम देह कहते हैं. जीवन सबका एक है, यद्यपि देह अनेक हैं. सभी प्राणी देहधारी होते हैं, देह के न रहने पर प्राणी प्राणी नहीं रह जाता, तब वह ईश्वर ही हो जाता है, क्योंकि सिर्फ ईश्वर ही देहातीत है. मानवीय आत्मा के जीवन का केन्द्र देह नहीं है, हालांकि वह देह को अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए प्रयुक्त अवश्य करता है. छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है, --" आत्मा जब शरीर को छोड़ देता है तो शरीर ही मरता है आत्मा नहीं ।"[१०] भौतिक शरीर की मृत्यु का अर्थ आत्मा का विनाश नहीं है. कुछ लोग तर्क देते हैं कि आत्मा को देह से ही अपनी सामग्री उपलब्ध होती है, इसलिए देह के नष्ट हो जाने पर आत्मा भी नष्ट हो जायेगा, इसके उत्तर में कहा गया है कि आत्मा अपनी सामग्री की प्राप्ति के लिए शरीर पर ही एक

निर्भर रहता है, जब तक कि वह उससे सम्बद्ध रहता है, किन्तु अनुभव में हमें जो सम्बन्ध नज़र आता है, यह आवश्यक नहीं कि अनुभव से अतीत क्षेत्र में भी वह अनिवार्य हो. जब हम शरीर रूप में होते हैं तब हमें विचार करने के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता होती है, किन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि शरीर से मुक्त हो जाने पर भी हमें सोचने के लिए मस्तिष्क की आवश्यकता होगी. ऐसे अनेक उदाहरण हैं कि शरीर में चोट लगने या क्षति पहुंचने से मनुष्य का चरित्र ही बदला जाता है. इसके उत्तर में हम यह नहीं कह सकते कि मनुष्य का चरित्र नहीं बदलता, सिर्फ उसका व्यवहार बदलता है. आत्मा मन व शरीर का एक सम्मिश्रण है. इसलिए यह कहा जाता है कि स्थूल शरीर के मर जाने का अर्थ समस्त भौतिक सम्बन्धों का पूर्ण उच्छेद नहीं है. आत्मा और देह का सम्बन्ध अंगांगी या अवयव-अवयवी सम्बन्ध होता है. यह भी माना गया है कि आत्मा पूर्णतः अशरीरी नहीं है. जब वह स्थूल शरीर का त्याग करता है तो वह सूक्ष्म शरीर में प्रविष्ट हो जाता है. इस प्रकार इस सूक्ष्म शरीर से उसे आवश्यक भौतिक आधार प्राप्त हो जाता है. यह सूक्ष्मशरीर व्यक्ति के समस्त आनुभविक अस्तित्व में उसके साथ रहता है और वह एक ऐसा ढांचा होता है, जिसपर स्थूल शरीर आवरण के रूप में मढ़ा रहता है. यही सूक्ष्म शरीर नये जन्म के समय आधार के रूप में होता है और स्थूल शरीर के निर्माण के लिए भौतिक तत्वों को अपनी ओर आकृष्ट करता है. शारीरिक मृत्यु होने पर केवल बाह्य स्थूल आवरण का ही नाश होता है. आत्मा का शेष अंश वैसा का वैसा ही रहता है. अब हम कुछ दर्शनों के विचार देह और आत्मा के सम्बन्ध में देखेंगे :--

चार्वाक दर्शन के अनुसार आत्मा और शरीर भिन्न नहीं है. आत्मा शरीर है और शरीर ही आत्मा है. आत्मा और देह के बीच अभेद मानने के फलस्वरूप चार्वाक के आत्मा सम्बन्धी विचार को देहात्मवाद कहा जाता है. चार्वाक ने देहात्मवाद अर्थात् आत्मा और देह की अभिन्नता को अनेक प्रकार से

पुष्ट किया है. चार्वाक के अनुसार मैं मोटा हूं, मैं काला हूं इन युक्तियों से आत्मा और देह का एकता परिलक्षित होता है. मोटापन, कालापन शरीर के ही गुण हैं, अतः आत्मा और शरीर एक ही वस्तु के भिन्न-भिन्न नाम हैं. इसी प्रकार यदि आत्मा शरीर से भिन्न होती तो मृत्यु के बाद आत्मा का पृथक्करण शरीर से दिखता, किन्तु शरीर से अलग आत्मा का अस्तित्व असिद्ध है. कुछ विद्वानों का मत है कि सभी चार्वाक आत्मा और शरीर की एकता में विश्वास नहीं करते. धूर्त चार्वाक या निकृष्ट सुखवादी आत्मा और शरीर को एक मानते हैं. सुशिक्षित चार्वाक या उत्कृष्ट सुखवादी आत्मा और शरीर को भिन्न-भिन्न मानते हैं. चार्वाक शरीर के अन्त के साथ ही आत्मा का अन्त भी मानते हैं. जैन दर्शन ने आत्मा को शरीर से भिन्न माना है. वैशेषिक के अनुसार आत्मा अनेक हैं. जितने शरीर हैं उतनी ही आत्मायें हैं. सांख्य ने आत्मा को शरीर से भिन्न माना है. शरीर भौतिक है, परन्तु आत्मा अभौतिक है. शरीर का जन्म होता है और मृत्यु भी. परन्तु आत्मा अविनाशी है, वह निरन्तर विद्यमान रहती है.

हिन्दू धर्म के अनुसार आत्मा शरीर में व्याप्त है. आत्मा का सम्बन्ध शरीर से है. फिर भी वह शरीर से पूर्णतः भिन्न है. आत्मा और शरीर के भेद पर हिन्दू धर्म अत्यधिक बल देता है. जितने शरीर हैं, उतनी ही आत्माओं को हिन्दू धर्म मानता है. ईसाई मत के अनुसार आत्मा केवल मनुष्यों में है, किन्तु गांधी तथा हिन्दू धर्म के अनुसार आत्मा जड़-चेतन सब में है. गांधी जी ने देह और आत्मा के सम्बन्ध को अनेक तरह से बताया है. देह की प्रायः तीन अवस्थाएं होती हैं-- जाग्रत, स्वप्न और सुषुप्त अवस्था. प्रत्येक अवस्था में देह भिन्न रूप से रहता है. जाग्रत अवस्था की देह को विश्व कहा जाता है, स्वप्न को तैजस और सुषुप्ति को प्राज्ञ. आत्मा न तो विश्व है न तैजस और न प्राज्ञ, यद्यपि वह इन तीनों का आधार है.

इसप्रकार सिद्ध होता है कि देह के विभिन्न,तैजस और प्राज्ञ सो भिन्न-भिन्न हैं,पर उन सब की आत्मा एक है. प्रत्येक देह का आधार आत्मा है. यही आत्मा सब देह की आत्मा है. देह अनेक होती हैं पर उन सबकी आत्मा एक ही है. गांधी जी ने आत्मा को अमर तथा शरीर को नाशवान बताया है. आत्मा की न मृत्यु होती है और न वियोग. फिर भी दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है. गांधी जी अपनी आत्मा के अस्तित्व का सम्पूर्ण ज्ञान सामाजिक कार्य करते-करते जानते थे. यह उनके दर्शन की अपनी विशेषता है.

गांधी जी ने आत्मा को छठी इन्द्रिय भी माना है. जिस प्रकार हम पांच ज्ञानेन्द्रियों को ज्ञान प्राप्त करने के लिए प्रयोग करते हैं,उसी प्रकार आत्मा भी मार्ग प्रदर्शन करती है. इसका तात्पर्य यह नहीं है कि हम आत्मा से कुछ भिन्न हैं, वस्तुत: हमारा वास्तविक स्वरूप आत्मा ही है. व्यावहारिक जीवन में हम सदा इसका भान नहीं रखते और न इसकी सम्पूर्ण शक्तियों से संचालित होते हैं. जब कभी हम किसी महान कार्य में प्रवृत्त होते हैं, और हम अपनी सामान्य शक्ति से अधिक कुछ करना चाहते हैं, उस समय आत्मा की शक्ति प्रस्फुटित होकर हमें मार्ग प्रदर्शन करती है, और उस महान कार्य को सम्पन्न करने का बल देती है. ऐसी स्थितियों में आत्मा से सम्भाषण होने की सम्भावना भी है. जो व्यक्ति आत्मा का अन्तर्नाद सुन सकता है और सम्भाषण करने की योग्यता प्राप्त कर लेता है, उसे आत्मज्ञानी समझना चाहिए. दूसरे शब्दों में वह ईश्वर का साक्षात्कार कर लेता है. गांधी जी के इस कथन से यह भी निर्णय निकाला जा सकता है कि आत्मा और ईश्वर में कोई भेद नहीं है. इस सम्बन्ध में वे शंकर की तरह अद्वैतवादी हैं. अन्तर्नाद को सुनना या आत्मतत्त्व को जानना ही ईश्वर को जानना है. व्यावहारिक रूप में आत्मा और ईश्वर में भेद अवश्य दिखाई देता है, किन्तु इसका कारण माया है. सामाजिक भेद भाव और बन्धन ही माया है. इन्हीं के कारण आत्मा शरीर में निवास करती है तथा एक शरीर से दूसरे शरीर में यात्रा करती है. सामाजिक बन्धनों से मुक्त होते ही शारीरिक बन्धन से मुक्ति मिल जाती है. गांधी जी ने

बताया है कि जब तक आत्मा का वास शरीर में है, वह जीव कहलाता है. शरीर में वास करने के कारण उसे पुरुष भी कहते हैं. जीव पुरुष रूप में अनेक एवं अगणित है, जब कि आत्मा एक है. लेकिन वास्तविक रूप में गांधी ने जीव और आत्मा में अभेद सम्बन्ध ही माना है. उनके अनुसार जीव आत्मा का ही स्वरूप है. जीव-भाव का कारण अहं है. यदि सीमित अहं की भावना न हो तो वह वस्तुतः आत्मा ही है. इस तथ्य की स्पष्ट व्याख्या करते हुए गांधी जी ने कहा है कि "जीवमात्र एक रज-कण की अपेक्षा कुछ नहीं है। शरीर के रूप में हम लोग क्षणिक जीव हैं। परन्तु यदि हम इस शरीर से बाहर हो जायें अर्थात् कुछ नहीं हो जायें तो हम सब कुछ हो जायेंगे।"[१९] इस कथन से स्पष्ट है कि शरीर में आबद्ध रहकर हम जीव हैं, किन्तु हमारा वास्तविक स्वरूप आत्मा है, जो ईश्वर से अभिन्न है.

(४) संकल्प-स्वातन्त्र्य

स्वतन्त्रता का अर्थ है, उत्तरदायित्व अर्थात् यह कि मनुष्य अपने अच्छे और बुरे कर्मों के लिए स्वयं उत्तरदायी है. यदि मनुष्य अपने ऐच्छिक कार्यों में स्वतन्त्र न हो तो फिर हम उसे उसके कार्यों के लिए उत्तरदायी नहीं ठहरा सकते. मनुष्य अपने व्यवहार, चरित्र, ऐच्छिक कार्य और संकल्पों के लिए उत्तरदायी है. इस प्रकार एक आध्यात्मिक प्राणी की हैसियत से मनुष्य आत्म-निर्णीत अथवा स्वतन्त्र है, वह स्वयं अपने कर्मों का निर्णय करता है. बाहरी शक्तियां उसका निर्णय नहीं करतीं. किन्तु वह पूर्णतया स्वतन्त्र नहीं है. उसकी स्वतन्त्रता सीमित है, किन्तु वह अपनी सीमाओं को भी अपने आत्म-विकास और आत्म-लाभ के साधनों तथा उपादानों में परिवर्तित कर सकता है, लेकिन इसे सब स्वीकार नहीं करते.

साधारण व्यवहार में संकल्प स्वातन्त्र्य का अर्थ है-- जिसे हम करने का संकल्प करते हैं उसे करने की, बिना किसी बाध्यता अथवा

प्रतिरोध के, स्वतन्त्रता संकल्प-स्वातन्त्र्य का का अर्थ कुछ लोग अनियंत्रणवाद या आत्म नियंत्रणवाद से लेते हैं. अनियंत्रणवाद के अनुसार बिना किसी कारण, उद्देश्य के आत्मा अपने संकल्पों का निर्णय कर सकता है. यह अकारण ही वैकल्पिक सम्भावनाओं में से किसी को चुन सकता है. अनियंत्रणवाद सोचता है कि कर्म में प्रवृत्त होने के समय संकल्प के सम्मुख कई विकल्प होते हैं, उदासीनता-पूर्वक उनमें से कोई एक चुना जा सकता है. किन्तु यह हमारे नैतिक स्वभाव के प्रतिकूल है. आत्मा स्वतन्त्र इस अर्थ में है कि वह शुभ के विचार के अनुसार अपने संकल्प को निर्धारित करता है. संकल्प का निर्धारण उसके बाहर स्थित किसी वस्तु से नहीं होता, बल्कि अपने शुभ साधन के उद्देश्य से आत्मा के ही द्वारा होता है. इस प्रकार संकल्प स्वातन्त्र्य का अर्थ अनियंत्रणवाद नहीं बल्कि आत्म-नियंत्रणवाद है.

व्यक्ति के आचरण के सम्बन्ध में ये कहा जा सकता है कि व्यक्ति सदैव जिस प्रकार कर्म करता है, वह एक विशिष्ट नियम के अनुरूप होता है. यह नियम उसके चरित्र का नियम है और चरित्र उसके जन्मजात मानसिक संस्कारों, वंशानुगत गुणों तथा परिस्थिति का परिणाम है. साथ ही यह भी सच है कि उसके चरित्र को पूर्ण रूप से समझना असंभव है. चरित्र का निर्माण करने वाले तत्व अत्यन्त जटिल होते हैं, उनकी सफलतापूर्वक गणना करना सैद्धांतिक रूप से सम्भव होने पर भी वास्तव में असंभव है. नैतिक कर्म यह बताता है कि संकल्प शक्ति की स्वतन्त्रता इस पर निर्भर नहीं है कि कर्म प्रेरणाजन्य हैं, किन्तु इस पर है कि वे प्रेरणा द्वारा निर्धारित हैं. प्रेरणा नैतिक प्राणी के स्वरूप को अभिव्यक्ति देती है. नैतिक प्राणी का व्यक्तित्व आत्म-निर्धारित होता है. उसकी संकल्प शक्ति नियम के अनुरूप कर्म करती है. उसके आचरण में एकता और व्यवस्था मिलती है. उसका नैतिक ज्ञान उसे बताता है कि वह स्वतन्त्र है, अपने चरित्र को विकसित कर सकता है. पर यह भी सच है कि प्रत्येक व्यक्ति की सम्भावनाएं सीमित हैं, वह अपनी मानसिक, शारीरिक और भौतिक

प्रकृति पर निर्भर है. इस निर्भरता के साथ ही वह आत्मचेतन प्राणी भी है. वह अपने ध्येय को समझता है, अपने कर्मों के स्वरूप को स्वयं निर्धारित कर सकता है और अपना उन्नयन कर सकता है. इस प्रकार उसके कर्म आत्म-निर्णीत हैं. वह समझ-बूझकर कर्म कर सकता है. यही संकल्प शक्ति की स्वतन्त्रता है. संकल्प शक्ति की स्वतन्त्रता के कारण ही वह बुरे अभ्यासों को त्यागने में सफल होता है. आत्मोन्नति के लिए संकल्प-शक्ति की स्वतन्त्रता आवश्यक मान्यता है.

गांधी जी के अनुसार कर्म के नियम और संकल्प-स्वातन्त्र्य में कोई विरोध नहीं है. वास्तव में कर्म के नियम का अर्थ है स्वतन्त्रता, क्योंकि उसके अनुसार मनुष्य स्वयं अपने प्रारब्ध का निर्माता है. भूतकाल के साथ जीवन की धारावाहिकता में मनुष्य का पुरुषार्थ स्वातन्त्र्य अन्तर्निहित है. निःसन्देह हमारे पूर्व कर्म हमारे संकल्प-स्वातन्त्र्य को मर्यादित करते हैं. गांधी जी के शब्दों में-- "जिस संकल्प-स्वातन्त्र्य का हम उपयोग करते हैं,वह उससे भी कम है, जो एक यात्री को मनुष्यों से भरे जहाज के डेक पर होता है।"[१९]

बहुत से विचारकों का मत है कि यद्यपि वर्तमान पर भूतकाल का प्रभाव पड़ता है, परन्तु भूतकाल वर्तमान को पूरी तरह निर्धारित नहीं करता और मनुष्य अपने व्यवहार के नियमन के लिए कल्पित भविष्य का भी प्रयोग करता है. आधुनिक सामाजिक दर्शन की यह सुविख्यात मान्यता है कि कारण का परिणाम पर नितान्त नियंत्रण नहीं है. कारण का केवल यह अर्थ है कि परिणाम के उत्पादन की संभावना है,किस अंश तक संभावना है, इसका हिसाब किसी विशेष स्थिति में आंकड़ों द्वारा लगाया जा सकता है.

गांधी जी के अनुसार पूर्ण अनासक्ति की उपलब्धि के द्वारा मनुष्य पिछली भूलों के प्रभाव से छुटकारा पा सकता है, परन्तु अनासक्ति के लिए अधिकतम प्रयास करने पर भी मनुष्य अपने वातावरण तथा अपने पालन-पोषण के प्रभाव से पूर्णतया मुक्त नहीं हो सकता. इस प्रकार गांधी जी ऐसे पूर्ण स्वातन्त्र्य

में विश्वास नहीं करते, जिसके कारण मनुष्य अपने को प्रकृति से पृथक् कर ले अथवा उसका अतिक्रमण कर जाये. इस प्रकार के स्वातन्त्र्य का अर्थ होगा अव्यवस्था. मनुष्य की आध्यात्मिकता में विश्वास होने के कारण गांधी जी इस धारणा को नहीं मानते कि मनुष्य पूरी तरह से अपने वातावरण के हाथ का खिलौना है. वे वातावरण के प्रभाव को घटाकर नहीं बताते. वे मानते हैं कि अधिकांश मनुष्यों पर वातावरण का प्रमुख प्रभाव होता है. लेकिन उनका यह भी मत है कि मनुष्य के जीवन का आधार आदतें नहीं, संकल्प का प्रयोग या आत्म-संचालन होना चाहिए.

(५) अशुभ विचार

मानव ने अपनी बुद्धि के विकास के साथ ही अशुभ की समस्या पर विचार किया है. किन्तु मानवीय प्रयत्नों के बावजूद अशुभ की समस्या आज तक सुलझ नहीं पाई है. अशुभ प्राचीनकाल के लोगों के लिए समस्या नहीं थी. उस समय के लोग दैनिक जीवन की आवश्यकताओं की पूर्ति में कुछ इस प्रकार उलझे थे कि सैद्धान्तिक विवेचन के लिए उनके पास कोई समय ही नहीं था. उस काल के धर्म पर दृष्टिपात करने पर पता चलता है कि जिस समय प्राणवाद में लोगों को विश्वास था, उस समय लोगों के शुभ और अशुभ के विचार स्पष्ट हो गये थे, परन्तु उनके समक्ष अशुभ कोई समस्या नहीं थी. उनका विश्वास था कि विश्व में अनेकानेक जीव हैं और उनमें से कुछ दयालु और नेक हैं, परन्तु कुछ ऐसे भी हैं जो दुष्ट और निर्दयी हैं. अच्छे जीव लोगों का शुभ करते हैं और बुरे जीव लोगों का अशुभ करते हैं. इस प्रकार हम पाते हैं कि उस काल के लोगों के पास अशुभ की एक अच्छी एवं स्पष्ट व्याख्या थी. उसके बाद जब हम टोटमवाद, फीटिशवाद तथा पूर्वज आराधना में

विश्वास करने वालों की ओर ध्यान देते हैं तो पाते हैं कि उन सबों के लिए भी अशुभ कोई समस्या नहीं थी, इसका कारण यह है कि ये लोग भी जीव की बहुलता में विश्वास करते थे, जिनमें से कुछ जीव नेक स्वभाव वाले थे और कुछ दुष्ट स्वभाव वाले थे. अतः शुभ की उत्पत्ति का कारण वे नेक स्वभाव वाले जीव को मानते थे और अशुभ की उत्पत्ति का कारण दुष्ट स्वभाव वाले जीव को मानते थे.

कुछ लोगों ने अशुभ की व्याख्या दो निरपेक्ष मूल तत्वों (एबसाल्युट अलटिमेट रियलिटी) या दो सापेक्ष मूल तत्वों (रिलेटिव अल्टीमेट रियलिटी) की सहायता से की है. प्रथम प्रकार के विचारकों में हम प्लेटो और अरस्तू के विचारों को देखेंगे --

प्लेटो ने विश्व की बुराइयों की व्याख्या सत्ता के साथ असत्ता की कल्पना करके किया है. इसे आगे चलकर इन्होंने मूल नाम से पुकारा है. सत्ता को शुभों का उद्गम स्थान माना और असत्ता को उसने विश्व की सभी बुराइयों का कारण बताया है. अरस्तू के दर्शन में भी हमें वस्तु और आकार का वर्गीकरण मिलता है. उसके अनुसार विश्व अपने विकास-क्रम में आकार की ओर बढ़ता जा रहा है, और ज्यों-ज्यों यह आकार के समीप पहुंचता जा रहा है, त्यों-त्यों विश्व की बुराइयां, इसके अशुभ छूटते जा रहे हैं. अतः यह कहना गलत नहीं होगा कि अरस्तू ने भी सांसारिक अशुभ का कारण मूल को ही माना है. इस प्रकार हम पाते हैं कि दो निरपेक्ष मूल सत्ताओं में विश्वास करने वालों के लिए भी अशुभ की व्याख्या कोई समस्या का रूप धारण नहीं करती.

इसके उपरान्त जब हम उन विचारकों पर दृष्टिपात करते हैं, जिन्होंने अशुभ की व्याख्या करने के लिए एकेश्वरवादी होते हुए भी दो सापेक्ष मूल तत्वों की सहायता ली है तो हमारे समक्ष पारसी धर्म के संस्थापक जरथुस्त्र का नाम प्रमुख रूप से सामने आता है. उक्त धर्म के अनुसार अहुरामज्दा, अहर्मान दोनों को ईश्वर माना गया है. अहुरामज्दा सर्वशक्तिमान, सर्वज्ञ तथा अन्य गुणों से भी विभूषित है. यह पूर्णतः शुभ है. इसके अतिरिक्त दूसरा ईश्वर अहर्मान है. यह पूर्णतः अशुभ है तथा विश्व के सभी

अशुभों का मूल कारण है, और इसी कारण अहुरमज़्दा की तुलना प्रकाश से तथा अहमन की तुलना अन्धकार से की गई है. शुभ का कारण अहुरमज़्दा और अशुभ का कारण अहमन को माना गया है. इस प्रकार हम पाते हैं कि द्वैतवादी धर्म के सम्मुख अशुभ कोई समस्या नहीं है.

जब हम सर्वेश्वरवाद की ओर ध्यान देते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है कि अशुभ की समस्या का यहाँ विकास नहीं हो पाता है. इस विचार-धारा के अनुसार ईश्वर की समान सत्ता है. ईश्वर अनन्त और एक सर्वव्यापक सत्ता है. सर्वेश्वरवाद के अनुसार ईश्वर और विश्व अभिन्न हैं. विश्व और ईश्वर में तादात्म्य सम्बन्ध मानने के कारण शुभ और अशुभ का विभेद सर्वेश्वरवादी नहीं कर पाते हैं, क्योंकि विश्व की प्रत्येक वस्तु में ईश्वर का ही प्रकाशित रूप है, तो फिर उसमें शुभ और अशुभ का भेद कैसा ?

इसके बाद जब हम अनीश्वरवादी विचारधारा पर ध्यान देते हैं तो पाते हैं कि यहाँ अशुभ की समस्या उपस्थित ही नहीं होती. अनीश्वर-वाद के अनुसार ईश्वर का अस्तित्व असत्य है. ईश्वर में विश्वास करना एक भूल है. ईश्वर में विश्वास न रखने के कारण अनीश्वरवादियों के सम्मुख अशुभ की समस्या विकसित ही नहीं होती. कुछ अनीश्वरवादियों ने शुभ और अशुभ दोनों की सत्ता का खण्डन किया है. संसार की घटनाएं तटस्थ हैं. विश्व में न तो शुभ है और न अशुभ. प्राकृतिक घटनाओं के लिए शुभ और अशुभ दोनों ही आपेक्षिक गुण हैं. एक ही वस्तु एक दृष्टि से शुभ और दूसरी दृष्टि से अशुभ है, अतः अनीश्वरवादियों के अनुसार अशुभ की समस्या ही गलत है.

ईश्वरवाद के सम्मुख अशुभ-समस्या है. यह एक ऐसी समस्या बनकर आई है, जिसका समाधान अत्यन्त कठिन जान पड़ता है. ईश्वरवादियों के अनुसार ईश्वर एक अनन्त और व्यक्तित्वपूर्ण है. ईश्वर विश्व में निहित एवं विश्व से परे है. ईश्वर विश्व का स्रष्टा एवं विश्व ईश्वर की सृष्टि है. ईश्वरवाद

ईश्वर को सर्वशक्तिमान्, दयावान मानता है, जब हम विश्व की ओर देखते हैं तो विश्व में दु:ख, अभाव, अपूर्णता इत्यादि दिखाई पड़ते हैं, इस प्रकार ईश्वरवादियों के अनुसार एक ओर विश्व को शुभ तथा सर्वशक्तिमान कहा जाता है, परन्तु दूसरी ओर विश्व में अशुभ की आस्था पाई जाती है, इन दोनों का समन्वय ईश्वरवाद के सामने एक समस्या के रूप में आता है, ईश्वरवाद के सामने यह समस्या द्विविधा का रूप ले लेती है, विश्व में अशुभ के होने का यह अर्थ होता है कि या तो ईश्वर ने जानबूझकर अशुभ का निर्माण किया है या अशुभ को हटाना चाहा था, किन्तु उसे हटाने की शक्ति उसमें नहीं थी, यदि जानबूझकर उसने अशुभ का निर्माण किया है तो ईश्वर को दयावान तथा शुभ नहीं कहा जा सकता, यदि उसने अशुभ को हटाना चाहा था, परन्तु हटा नहीं पाया तो वह सर्वशक्तिमान नहीं कहा जा सकता, इसी प्रकार प्रो० पैटरसन के अनुसार ईश्वर सृष्टि में अशुभ के अनाधिकार प्रवेश को रोक दे सकता है, किन्तु या तो वह ऐसा करना ही नहीं चाहता, ऐसी स्थिति में वह शुभ हो नहीं हो सकता, या वह ऐसा करने में ही असमर्थ है, अत: ईश्वर के सामने अशुभ एक प्रकार की चुनौती है, ईश्वरवाद के विरुद्ध यह आक्षेप ऐसा है, जिसका उत्तर देना कठिन है, प्रो० गैलवे ने ठीक ही कहा है--" वस्तुत: विश्वास के विरुद्ध यह तर्क बहुधा खड़ा किया जाता है कि इस धारणा के साथ संसार के कष्ट और पाप की संगति नहीं बैठ पाती।"[13]

ईसाई धर्म के अनुसार विश्व में अनेक प्रकार के अशुभ तत्त्व हैं, यद्यपि अशुभ अनेक प्रकार के होते हैं, जैसे प्राकृतिक अशुभ, बौद्धिक अशुभ, तात्त्विक अशुभ, धार्मिक अशुभ, नैतिक अशुभ, सामाजिक अशुभ, फिर भी प्राकृतिक अशुभ और नैतिक अशुभ को ही प्रधानता मिली है, अन्य कोटि के अशुभ किसी-न-किसी रूप में इन दो प्रकार के अशुभ में सन्निहित है, प्राकृतिक अशुभ उस अशुभ को कहते हैं जो प्रकृति में विद्यमान है, भूकम्प, बाढ़, मृत्यु, सांप, ताप आदि प्राकृतिक अशुभ के उदाहरण हैं, नैतिक अशुभ इसके विपरीत उन अशुभ को कहा जाता है, जो मानव के कार्यकलापों से उत्पन्न होते हैं, असत्य, हिंसा, चोरी, डकैती, पाप आदि नैतिक अशुभ के

उदाहरण है, ईसाई धर्म में अशुभ को यथार्थ माना गया है. अशुभ मनुष्य के जीवन में व्यापक एवं भयानक प्रतीत होता है, मनुष्य को ईश्वर ने मौलिक रूप में शुभ बनाया था, परन्तु मनुष्य ने ईश्वर के विरुद्ध तथा अपनी आत्मा के विरुद्ध दूसरे व्यक्तियों के विरुद्ध पाप को शिरोधार्य किया, जिसके फलस्वरूप अशुभ का प्रादुर्भाव हुआ. ईसाई धर्म ने अशुभ को मानव संकल्प स्वातन्त्र्य का दुरुपयोग कहा है. इस धर्म के अनुसार ईश्वर ने मनुष्य को संकल्प-स्वातन्त्र्य दिया, जिससे वे स्वतन्त्रतापूर्वक किसी एक संकल्प को चुनने में समर्थ हो सकें. लोग या तो ईश्वर को प्यार करें या घृणा, आदर करें या अनादर. मानव ने ईश्वर के प्रति घृणा का प्रदर्शन किया, जिसके फलस्वरूप जगत् में अशुभ व्याप्त है. इसप्रकार ईसाई धर्म में अशुभ का कारण मानव है. ईसाई धर्म में अशुभ से छुटकारा पाने का संकेत भी पूर्णरूपेण मिलता है. ईश्वर की कृपा के बिना मानव अशुभ से छुटकारा नहीं पा सकता.

गांधी जी का विश्वास है कि जगत में बुराई एवं भलाई दोनों ही है. गांधी जी परमात्मा को खुदा मानते हैं, इसलिए वे इसे शैतान या राक्षस भी कहते हैं. इसी प्रकार परमात्मा राम है तो बुराई रावण, परमात्मा पाण्डव है तो बुराई कौरव, परमात्मा अहिंसा है तो बुराई हिंसा, परमात्मा सत्य है तो बुराई असत्य, भलाई या परमात्मा दैवी वृत्ति है तो बुराई आसुरी वृत्ति, परमात्मा तत्व है तो बुराई माया. बुराई जगत् और देहधारी जीव दोनों में है. बुराई का सम्बन्ध देहमान से है, जब तक देह है तब तक पिंड में बुराई भी है, जब तक जगत् का अस्तित्व है, तब तक उसमें बुराई का भी अस्तित्व है. जीव में बुराई बताने वाले वचन भी गांधी जी ने अनेक बार कहे हैं, उनके मत से मानव-मूल्यों और गलतियों का पुतला है. जीव और जगत् में केवल बुराई ही नहीं भलाई भी व्याप्त है. जगत् में परमात्मा व्याप्त है, परमात्मा भला है, उसकी भलाई जीव और जगत् में भी विद्यमान है, गांधी जी के शब्दों में --" प्रकाश और अंधकार का प्रतीक होने के कारण अच्छाई और बुराई मानवीय प्रयोजनों के लिए एक-दूसरे

से पृथक् और असंगत है।[१४] इस प्रकार जीव-जगत् में भलाई-बुराई दोनों हैं. बुराई से, अधर्म से दुःख होता है और भलाई से, धर्म से सुख होता है. जीव-जगत् में भलाई-बुराई दोनों का सह-अस्तित्व होने के कारण और प्रत्येक का एक-दूसरे का विरोधी होने के कारण इन दोनों में सदैव लड़ाई चलती रहती है. पिंड और ब्रह्माण्ड दोनों कुरुक्षेत्र बने हुए हैं, जहां पाप-पुण्य का, धर्म-अधर्म का, भलाई-बुराई का शाश्वत लड़ाई हो रहा है. ईसाई धर्म और इस्लाम इसी लड़ाई को ईश्वर और शैतान के बीच का भीतरी, बाहरी नहीं, द्वन्द्व युद्ध मानते हैं। पारसी धर्म इसको अहुरमज्दा और अहिर्मन का द्वन्द्व युद्ध मानता है। हिन्दू धर्म इसे धर्म और अधर्म की शक्तियों के बीच की लड़ाई कहता है।[१५] "बुराई भलाई के बिना टिक नहीं सकती. असत्य में सत्य छिपा है, अंधकार में प्रकाश छिपा है और इसी प्रकार बुराई में भलाई कुछ-न-कुछ रहता है. जब जगत् ईश्वर से, भलाई से ओत-प्रोत है, तो जो कुछ बुराई है, उसमें भी कुछ-न-कुछ भलाई अवश्य है. इसी कारण बुराई कुछ समय तक टिकी रहती है. ऐसा न हो तो वह एक क्षण भी टिक नहीं सकती. गांधी जी कहते हैं अच्छाई का स्वयं अपने-आप में अस्तित्व है, बुराई का नहीं. बुराई अच्छाई के चारों ओर और उसपर निर्भर रहने वाली परजीवी की भांति है. अच्छाई का सहारा हट जाने पर बुराई अपने-आप ही हट जायेगी. बुराई और भलाई मानवीय प्रयोजनों के लिए एक-दूसरे से भिन्न और असंगत है, वे प्रकाश और अंधकार का प्रतीक हैं. गांधी जी कहते हैं--" बुराई स्वयं बांझ है वह स्वयं विनाशक है, वह अपने में अन्तर्निहित अच्छाई के द्वारा जीती और पनपती है, विज्ञान हमें सिखाता है कि एक लीवर (बोझ उठाने का यंत्र) तब तक किसी वस्तु को हटा नहीं सकता, जब तक उसका आलम्बस्थान हटाई जाने वाली वस्तु के बाहर न हो। इसी प्रकार बुराई को जीतने के लिए मनुष्य को पूरी तरह उससे परे, अर्थात् शुद्ध अच्छाई के दृढ़, ठोस बल पर रहना होगा।[१६] इस प्रकार बुराई को हटाने के लिए साधनों की शुद्धता आवश्यक है, परन्तु साधनों की शुद्धता पर ज़ोर देते हुए गांधी जी इसके प्रति भी सचेत हैं कि कुछ परिस्थितियों में जो अच्छाई है वही भिन्न परिस्थितियों में बुराई अथवा

पाप बन जाती है।[17] बुराई अपना नाश स्वयं करती है, बुराई ऐसी बनी हुई है कि उसका नाश हो, वह फिर जन्मे और फिर मरे, इस प्रकार जो लक्षण नित्य जन्मा, नित्यमरणा जगत् का है, वही लक्षण बुराई का भी है, भलाई बुराई की अपेक्षा अधिक है, इसलिए हम जगत और जगत् को भला कहते हैं, बुरा नहीं कहते, गांधी जी के अनुसार, "इंसान उसी अर्थ में भला नहीं है, जिसमें इंसान भला है। इंसान तुलना में भला है। वह बुरे की बनिस्बत भला ज्यादा है। लेकिन भगवान तो भला ही भला है। उसमें बुराई का नाम भी नहीं है।[18] गांधी जी का यह विश्वास है कि बुराई मनुष्य के इच्छा-स्वातन्त्र्य के दुरुपयोग का परिणाम है, गांधी जी मानते हैं कि प्रगति की योजना में बुराई का स्थान है, विकास सदा प्रयोगों के आधार पर होता है और प्रगति का मार्ग है, भूलों का होना और उनका सुधार, कर्म और पुनर्जन्म के सिद्धान्तों से ज्ञात होता है कि क्रमशः मनुष्य बुराइयों को कम करता रहेगा, अशुभ का कारण बताते हुए गांधी जी ने कहा है कि, --" मैं जानता हूं कि उसमें (ईश्वर में) बुराई नहीं है। वह इसका रचयिता है और इससे अछूता भी है।[19] यहां बुराई का कारण ईश्वर कहा जाता है, ठीक वैसे जैसे वह जगत् का कारण कहा जाता है, पर यहां प्रश्न उठता है कि बुराई का कारण ईश्वर कैसे हो सकता है? ईश्वर में यदि बुराई नहीं है तो वह बुराई का कारण नहीं हो सकता, फिर यदि यह कहा जाये कि ईश्वर जो उत्पन्न करता है, उसी में समाया हुआ रहता है तो बुराई से उसे संलग्न रहना चाहिए, अतः यह उत्तर संतोषजनक नहीं है, यह गांधी जी मानते हैं, गांधी जी का कहना है कि ईश्वर जगत् में बुराई को सहन कर लेता है, वे कहते हैं,--" यह कहना कि ईश्वर बुराई को इस संसार में आदेश देता है, कानों को सुखद नहीं लग सकता है। किन्तु यदि वह भलाई का जिम्मेवार समझा जाता है, तो यह सिद्ध होता है कि उसे बुराई का भी जिम्मेवार होना है। क्या राम ने रावण के अतिशय पराक्रम के प्रदर्शन को बरदाश्त नहीं किया? शायद इस शंका का मूलकारण 'ईश्वर क्या है?' इसे न समझना है। ईश्वर शरीरी नहीं है, वह वर्णनातीत है।[20] यहां स्पष्ट है कि ईश्वर जो सभी गुणों मात्र का धा

निधान है, बुराई के कारण को नहीं सुलझा सकता, पर जो ईश्वर या ब्रह्म सगुण -निर्गुण से परे है, भलाई और बुराई से परे है, वह जो भलाई का कारण होता है, वैसे ही वह बुराई का भी कारण है, गांधी जी के अनुसार अशुभ का कारण मनुष्य का अज्ञानी होना नहीं है, गांधी जी अशुभ क्यों है, इसका उत्तर खोजते हैं, वे कहते हैं; --" दुनिया में पाप क्यों है? इस प्रश्न का उत्तर देना कठिन है । मैं तो एक ग्रामवासी जो जवाब दे सकता है वही दे सकता हूं । जगत् में प्रकाश है तो अंधकार भी है । उसी तरह जहां पुण्य है वहां पाप होगा ही । किन्तु पाप और पुण्य तो हमारी मानवीय दृष्टि से है । ईश्वर के आगे तो पाप और पुण्य जैसी कोई चीज़ ही नहीं । ईश्वर तो पाप और पुण्य दोनों से परे हैं । हम गरीब ग्रामवासी उसकी लीला का मनुष्य की वाणी में वर्णन करते हैं, पर हमारी भाषा ईश्वर की भाषा नहीं है।"[२१] इस प्रकार गांधी जी शुभ-अशुभ को ईश्वर की लीला कहते हैं, यहां वे लीलावाद का समर्थन करते हैं, पर वस्तुतः लीला कह देने से ही काम नहीं चलता, लोगों को इस पर भी संदेह हो सकता है और स्वयं गांधी जी को भी इससे संतोष नहीं है, अतः वे कहते हैं--," बुराई-बुराई का ख्याल करते रहने से नहीं मिटती । हां, अच्छाई का विचार करने से बुराई मिट जाती है, लेकिन बहुत बार देखा गया है कि लोग सच्ची नियत से उल्टी तरकीबें काम में लाते हैं । वह कैसे आई, कहां से आई ? वगैरह विचार करने से बुराई का ध्यान बढ़ता जाता है । बुराई मेटने का यह उपाय हिंसक कहा जा सकता है । उसका सच्चा उपाय तो बुराई से असहयोग करना है ।..... हमें तो यह समझ लेना चाहिए कि बुराई नाम की कोई चीज है ही नहीं और हमेशा स्वच्छता का अच्छाई का विचार करते रहना चाहिए ।"[२२]

गांधी जी कहते हैं हमें बुराई के अस्तित्व को मानकर उसका ध्यान तक न करके उसकी इतनी उपेक्षा करनी चाहिए कि वह है ही नहीं, हमें यह भी मानना आवश्यक है कि अशुभ का अंत किया जा सकता है, बुराई जीती जा सकती है इसलिए यद्यपि उसका अस्तित्व है तथापि उसका ठिकाना नहीं है कि कल वह रहेगी या नहीं, वह नष्ट होने वाली है, गांधी जी कहते हैं मनुष्य

को यह समझाना जरूरी है कि वह स्वयं बुरा नहीं है, वह वस्तुत: भला है, पर वस्तुस्थितिवश, मायावश वह भले और बुरे का मिश्रण हो गया है, अत: उसका आदर्श उसमें मौजूद है.

(६) कर्म सिद्धान्त

हिन्दू विचारधारा में मानव योनि में अतीत के साथ सम्बन्ध को कर्म शब्द से व्यक्त किया जाता है. कर्म का अर्थ है काम. कर्म सिद्धांत के अनुसार नैतिक जगत् में अनिश्चित एवं मनमाना कुछ नहीं है. हम वही काटते हैं जो बोते हैं. पुण्य के बीज से पुण्य होगा, पाप का फल भी पाप होगा. छोटे से छोटा कर्म भी चरित्र पर असर रखता है. उनका कुछ-न-कुछ फल अवश्य होता है, जिसकी छाप मनुष्य और उसके परिवेश दोनों पर पड़ती है. कर्म का उल्लंघन करना बहुत कठिन है. कर्म बराबर साथ रहता है. यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त है कि हमारे जीवन के अन्दर सब कर्मों का लेखा रहता है, जिसे काल और मृत्यु मिटा नहीं सकते.

सत् कर्मों से मनुष्य में धर्म का संचय होता है तथा असत् कर्मों द्वारा अधर्म संचय. मनुष्य सत् और असत् कर्म स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं. मनुष्य में स्वतंत्र इच्छा होती है. वे धर्म-अधर्म तथा पुण्य-पाप का अर्जन स्वतन्त्रतापूर्वक करते हैं. ये सब मनुष्य की आत्मा में निहित होते हैं तथा समय पाकर पनप उठते हैं, और इस जीवन अथवा भविष्य जीवन में सुख-दु:ख उत्पन्न करते हैं. आत्मा वर्तमान शरीर की मृत्यु के पश्चात् संचित धर्माधर्म का भोग करने के लिए अपनी नैतिक योग्यता के अनुकूल शरीर धारण करती है. मनुष्य स्वयं अपने कर्मों का निर्माता है. कर्म का सिद्धान्त इच्छा-स्वातन्त्र्य पर आधारित है.

कर्म का सिद्धान्त मानवीय स्वतन्त्रता को पूर्णत: समाप्त नहीं करता, फिर भी यह उसको केवल स्वतन्त्रता को कम कर देता है. क्योंकि इस सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य उन पाप-पुण्यों के अधीन रहता है, जो कि वह गत

जीवन में संचित कर लेता है, वह वर्तमान स्वतन्त्रता पर गत जीवन के पाप-पुण्यों का भार लाद कर कुछ डालता है.

कर्म के दो पक्ष हैं-- एक विश्व सम्बन्धी और दूसरा मनोवैज्ञानिक. प्रत्येक कर्म संसार में अपना परिणाम छोड़ता है, उसके साथ ही वह मनुष्य के मन पर भी एक असर छोड़ जाता है, जो प्रवृत्ति के रूप में परिणत हो जाता है, यह प्रवृत्ति या संस्कार ही है, जिसके कारण हम फिर उस काम को दोहराने लगते हैं, जिसे हम एक बार कर चुके हैं. इस प्रकार से सब कर्म संसार में अपना फल भी देते हैं और मन के ऊपर असर भी रखते हैं. जहाँ तक पहले प्रकार के कर्मों का सम्बन्ध है, हम उनसे बच नहीं सकते, चाहे कितना ही प्रयत्न क्यों न करें, किन्तु मानसिक प्रवृत्तियों के ऊपर हम काबू पा सकते हैं.

कर्म सिद्धान्त से बढ़कर कोई दूसरा सिद्धान्त जीवन एवं आचरण में इतना महत्व नहीं रखता. इस जीवन में हमें जो कुछ होता है, हमें बिना क्षोभ के स्वीकार करना चाहिए कि यह हमारे पिछले कर्मों का ही फल है, किन्तु फिर भी भविष्य हमारे हाथ में है, इसलिए हम आशा एवं विश्वास के साथ कर्म कर सकते हैं. कर्म भविष्य के प्रति आशा का संचार करता है एवं भूतकाल को भूल जाने को कहता है. कर्म का सिद्धान्त नियति के सिद्धान्त का समर्थन नहीं करता. मानवीय असफलताओं को जब हम देखते हैं तो कर्म के सिद्धान्त में हमारा विश्वास हमें एक सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि अपनाने और दुर्भाग्य के रहस्य के सामने श्रद्धावनत होने के लिए प्रेरित करता है. कर्म में विश्वास हमारे अन्दर सच्चे न्याय की भावना पैदा करता है, जो आध्यात्मिकता का सारतत्व है. जब हम गरीबों के विकृत जीवन को देखते हैं तो अनुभव करते हैं कि कर्म का सिद्धान्त कितना सही है.

पुराने वैदिक विचार में कर्म सिद्धान्त के ऊपर विशेष बल दिया गया है. यह दण्ड आज्ञा की घोषणा करता है कि जो मनुष्य पाप करेगा, वह मृत्यु को अवश्य प्राप्त होगा. यज्ञों द्वारा नहीं, अपितु सत्कर्मों द्वारा ही मनुष्य

पुण्यात्मा बनता है. पुण्यकर्मों से मनुष्य पुण्यात्मा एवं पापकर्मों से पापी होता है।[23] आगे कहा गया है कि मनुष्य इच्छा शक्ति का प्राणी है-- इस संसार में जैसी उसकी भावना होती है, मृत्यु के पश्चात् उसी प्रकार का वह बन जायगा।[24] कर्म के प्रतिफल के लिए ही इस जन्म एवं मृत्यु वाले संसार की सृष्टि होती है, जो अनादि है एवं अनन्त है. कर्म का सिद्धांत अपनी लपेट में मनुष्यों, देवताओं, पशुजगत् एवं वनस्पति सबको ले लेता है. उपनिषदों का मत है कि हमें समाज-सेवा द्वारा कर्मों से मुक्ति मिल सकती है. जब तक हम स्वार्थ को लेकर काम करते हैं, हम कर्म बन्धन के नियम के अधीन रहते हैं. जब हम निष्काम कर्म करते हैं तो मोक्ष को प्राप्त करते हैं. उपनिषद् में कहा गया है,-- जब तक तुम इस प्रकार निष्काम कर्म करते हुए जीवन व्यतीत करते हो, ऐसा कोई कारण नहीं हो सकता कि कर्म तुम्हें बन्धन में डाल सके।[25] कर्म के कारण नहीं, बल्कि स्वार्थमय कर्म के कारण हम जन्म और मृत्यु के बन्धन में पड़ते हैं. जो कुछ हमें डरावना प्रतीत होता है, वह अविकारपूर्ण भाग्य नहीं है, वरन् हमारे अपने ही पूर्वकृत कर्म हैं. हम मृत्यु-चक्र के शिकार नहीं हैं. दुःख हमें पापकर्मों के पारिश्रमिक के रूप में मिलता है. गीता में श्रीकृष्ण कहते हैं,-- जनक आदि ने कर्म द्वारा ही सिद्धि या पूर्णता प्राप्त की थी। तुमने भी संसार की व्यवस्था को दृष्टि में रखते हुए कर्म करना ही चाहिए। .... जिस प्रकार मूर्ख कर्मफल में आसक्त होकर काम करते हैं, उसी प्रकार ज्ञानी लोग कर्मफल में अनासक्त रहकर संसार में व्यवस्था स्थापित करने के लिए कर्म करते हैं।[26] केवल काम करना छोड़ देने से ही तो कर्म से मुक्ति नहीं मिल जाता. जो कर्म में अकर्म और अकर्म में कर्म देखता है, मनुष्यों में वही समझदार है. नियमों के अनुसार वही पूर्ण कर्म का करने वाला है. गीता में बताया गया है कि सन्यास का समाधान कोई नहीं है, क्योंकि मनुष्य चाहे या न चाहे, कर्म तो उसे करना ही पड़ता है. गीता उन लोगों को मुक्ति प्रदान करती है जो कर्म में जकड़े हुए हैं. वह उनके लिए ऐसे कर्म का द्वार खोल देता है, जो स्वतन्त्रता प्राप्त करने में उनकी सहायता करता है. बुद्ध ने दो प्रकार के कर्मों को माना है-- एक प्रकार का कर्म वह है जो राग, द्वेष तथा मोह से संचालित होता है.

इस प्रकार के कर्म को आसक्त कर्म कहते हैं. ऐसे कर्म मानव को बन्धन की अवस्था में बांधते हैं, जिसके फलस्वरूप मानव को जन्म ग्रहण करना पड़ता है. दूसरे प्रकार का वह कर्म है, जो राग-द्वेष एवं मोह से रहित होकर तथा संसार को अनित्य समझ कर किया जाता है. इस प्रकार के कर्म को अनासक्त कर्म कहा जाता है. जो व्यक्ति अनासक्त भाव से कर्म करता है, वह जन्म ग्रहण नहीं करता. बुद्ध का अनासक्त कर्म-भावना गीता का निष्काम कर्म-भावना से मिलता-जुलता है. जैनदर्शन में कर्म पर बहुत विचार किया गया है. स्पष्टत: बताया गया है कि अच्छे कर्म करने चाहिए और बुरे कर्मों का त्याग करना चाहिए. अच्छे कर्मों से पुण्य और बुरे कर्मों से पाप होता है. पुण्य संचय से सुख और पाप-संचय से दु:ख होता है. जैन दार्शनिक यह मानते हैं कि जीव एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश कर जाता है. अपने कमाये हुए कर्मों के द्वारा ही उसे दूसरा जन्म मिलता है. शरीर हमारे प्राचीन कर्मों के फलस्वरूप है. पूर्वकृत कर्म ही निश्चित करता है कि किस व्यक्ति का जन्म किस परिवार में होगा. कर्म ही रूप, रंग, आकार, ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय का निश्चय करते हैं. रामानुज के अनुसार आत्मा अज्ञान तथा कर्म के कारण ही बन्धन का दु:ख भोगता है. शंकर के अनुसार आत्मा से कर्म का सम्बन्ध नहीं है. कर्म तो अज्ञान जन्य है. ज्ञान होने के बाद कर्म का भी नाश हो जाता है. अत: आत्मा जो कि चैतन्य स्वरूप है, उसका कर्म से अनादि सम्बन्ध कैसे है? यह संबंध तो भ्रम है. संसार से छुटकारा पाने के लिए आत्मा को कर्मजन्य बाधाओं को दूर करना होगा. रामानुज ने पूर्वमीमांसा तथा उत्तरमीमांसा पर समानरूप से महत्व दिया है. हम जानते हैं कि पूर्वमीमांसा कर्म पर जोर देता है तथा उत्तरमीमांसा ज्ञान पर. इस प्रकार रामानुज ने ज्ञान और कर्म पर समानरूप से जोर दिया है. निष्काम कर्म से बन्धन नहीं होता, अत: रामानुज के लिए निष्काम कर्म ही लक्ष्य होना चाहिए. उनके अनुसार वे ही कर्म निष्काम हैं जो ईश्वर को समर्पित किये जाते हैं, अर्थात् ईश्वर की प्रसन्नता के लिए जो कर्म किए जाते हैं. हिन्दू धर्म को विश्वास है कि प्रत्येक व्यक्ति अपने कर्म का स्वयं उत्तरदायी है. कर्म सिद्धान्त का अर्थ है, जैसा हम बोते हैं वैसा ही काटते हैं.

इस नियम के अनुसार शुभ कर्मों का फल शुभ तथा अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है. हिन्दू धर्म कर्म सिद्धांत में आस्था रखने के फलस्वरूप मानता है कि प्रत्येक का वर्तमान जीवन अतीत जीवन के कर्मों का फल है तथा भविष्य जीवन वर्तमान जीवन के कर्मों का फल होगा. हिन्दुओं का मत है कि यदि हम दुःखी हैं तब इसका कारण हमारे पूर्व जीवन के कर्मों का फल है. यदि कोई व्यक्ति दूसरे जीवन को सुखमय बनाना चाहता है तो उसके लिए उसे प्रयत्नशील रहना परमावश्यक है. अतः प्रत्येक मनुष्य अपने भाग्य का निर्माता स्वयं है. हिन्दू धर्म में कर्म सिद्धान्त का क्षेत्र सीमित माना गया है. कर्म सिद्धान्त सभी कर्मों पर लागू नहीं होता. यह उन्हीं कर्मों पर लागू होता है जो राग,द्वेष एवं वासना से संचालित होते हैं. दूसरे शब्दों में वैसे कर्म जो किसी उद्देश्य की भावना से किए जाते हैं,कर्म-सिद्धान्त के दायरे में आते हैं. इसके विपरीत वैसे कर्म जो निष्काम भाव से किए जाते हैं, कर्म सिद्धान्त से स्वतन्त्र हैं. निष्काम कर्म भुंजे हुए बीज के समान है,जो फल देने में असमर्थ रहते हैं. इसलिए निष्काम कर्म पर यह सिद्धान्त लागू नहीं होता. साधारणतः कर्म शब्द का प्रयोग कर्म-सिद्धांत के रूप में होता है. इस प्रयोग के अतिरिक्त कर्म का एक दूसरा भी प्रयोग है. कर्म कभी-कभी शक्ति के रूप में प्रयुक्त होता है, जिसके फलस्वरूप फल की उत्पत्ति होती है. इस दृष्टि से कर्म तीन प्रकार के माने जाते हैं-- पहले कर्म को संचित कर्म कहते हैं. यह अतीत कर्मों से उत्पन्न होता है, परन्तु उसका फल मिलना अभी शुरू नहीं हुआ है. इस कर्म का सम्बन्ध अतीत जीवन से है. दूसरे कर्म को प्रारब्ध कर्म कहते हैं. यह वह कर्म है, जिसका फल मिलना अभी शुरू हो गया है. इसका सम्बन्ध अतीत जीवन से है. तीसरा कर्म संचीयमान कर्म कहलाता है. ये वे कर्म हैं,जिनमें वर्तमान जीवन के कर्मों का फल भविष्य में मिलेगा. इस प्रकार कर्म सिद्धान्त में मानव के शुभ-अशुभ सभी कर्मों पर निर्णय दिया जाता है. अशुभ कर्मों का फल अशुभ होता है.अतः मानव बुरे कर्मों को करने में अनुत्साहित हो जाता है. इस प्रकार कर्म-सिद्धान्त व्यक्ति को कुकर्मों से बचाता है.

गांधी जी ने अपना सारा जीवन कर्म में ही बिताया है. जहाँ तक उनके कर्म का सम्बन्ध है, वे एक बार में केवल एक कदम उठाने में ही विश्वास करते हैं. वे केवल यह जानना चाहते हैं कि उनका कदम ठीक दिशा में है अथवा नहीं. लक्ष्य के विषय में उन्हें कोई चिन्ता नहीं है और परिणाम के विषय में भी किसी प्रकारकी आशंका नहीं है. गांधी जी सदा इस दिशा में प्रयत्नशील रहे हैं कि उनका कर्म सही दिशा में हो, इसलिए उनके परिणाम भी अच्छे निकले हैं. संसार के इतिहास में शायद गांधी ही ऐसे व्यक्ति हैं, जिनके बारे में कहा जा सकता है कि उन्होंने कभी कोई गलती नहीं की. इसका कारण यही है कि जीवन का जो मूल सत्य है, गांधी जी ने उसे समझ लिया और उनके जीवन का प्रत्येक कर्म, उनकी वाणी का प्रत्येक शब्द और उनकी आत्मा का प्रत्येक संकेत जीवन की उस मूलभूत सचाई की अभिव्यक्ति के रूप में हमारे सामने प्रकट होता है.

गांधी जी कर्म में विश्वास करते हैं, उनके अनुसार,--"कर्म का नियम अटूट है, और टाला नहीं जा सकता । इस प्रकार उसमें ईश्वर के हस्तक्षेप की शायद ही कोई आवश्यकता हो । उसने नियम निर्धारित कर दिया और अलग सा हो गया ।"[२७] गांधी जी के अनुसार हम स्वयं अपने भाग्य के निर्माता हैं. हम अपने वर्तमान को सुधार या बिगाड़ सकते हैं और इसी पर हमारा भविष्य निर्भर होता है. गांधी जी ने कर्म के नियम को नैतिक धारावाहिकता का नियम या नैतिक कारणत्व का नियम कहा है. यह मनुष्य के विकास को अनुशासित करने वाला नियम है. भारतीय परम्परा के अनुसार हमारे कार्य कुछ-न-कुछ संस्कार छोड़ जाते हैं. ये संस्कार हमारे भविष्य का निर्धारण करते हैं. इस नियम के अनुसार हमारा भविष्य वर्तमान में से उसी प्रकार विकसित होगा, जिस प्रकार वर्तमान हमारे भूतकाल का परिणाम है. तथापि इस नियम में अपराधों के दण्ड की अपेक्षा धारावाहिकता पर कहीं अधिक बल दिया गया है.

गांधी जी ने निष्काम भाव से कर्म करने पर जोर दिया है. कर्म करने का यदि कोई प्रयोजन है तो वह आत्मशुद्धि, लोक संग्रह तथा ईश्वर भक्ति ही है. सभी कर्म बराबर हैं. यह नहीं सोचना चाहिए कि अमुक कर्म आत्मशुद्धि के

लिए है, अमुक लोक-संग्रह के लिए है और अमुक ईश्वर की भक्ति पाने के लिए है. सभी कर्म तीनों प्रयोजनों से किए जाने चाहिए. इनमें से किसी प्रयोजन को छोड़ देने से सच्ची निष्कामता, सच्ची अनासक्ति नहीं आयेगी. अत: जो कर्म आत्मशुद्धि के लिए है, वही लोक-संग्रह तथा ईश्वर-भक्ति के लिए भी है. कर्म का अर्थ बतलाते हुए गांधी जी ने कहा है,--" कर्म का व्यापक अर्थ है। अर्थात् शारीरिक, मानसिक और आत्मिक। ऐसे कर्म के बिना यज्ञ नहीं हो सकता। यज्ञ बिना मोक्ष नहीं होता। इस प्रकार जानना और तदनुसार आचरण करना, इसका नाम यज्ञों का जानना है। तात्पर्य यह कि मनुष्य अपने शरीर, बुद्धि और आत्मा को प्रभु प्रीत्यर्थ लोक सेवार्थ काम में न लावे तो वह चोर ठहरता है और मोक्ष के योग्य नहीं बन सकता".[25] कर्म की अनिवार्यता बतलाते हुए गांधी जी ने गीता के श्लोकों को प्रस्तुत किया कि कर्म के बिना शरीर-यात्रा, जीवन-गति भी नहीं चल सकती और सिद्ध से सिद्ध महापुरुष तथा परमेश्वर भी कर्म में दिन-रात रत हैं. गांधी जी ने कहा है कि मनुष्य को वर्णाश्रम धर्म, रचनात्मक कार्यक्रम और सत्याग्रह आन्दोलन ये कर्म करने चाहिए.

हिन्दू धर्म के चार वर्णों और चार आश्रमों में गांधी जी की अविचल श्रद्धा है. उनका कहना है कि गुण और कर्म के अनुसार ही चार वर्णों की सृष्टि की गई है. ये चार वर्ण -- ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र हैं. प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपना वर्णीय पेशा करे. यदि उसका जन्म ब्राह्मण के यहां हुआ है तो वह ब्राह्मण का कर्म करे और वैश्य या शूद्र के यहां हुआ है तो क्रमश: वैश्य या शूद्र का कर्म करे. स्वधर्म ही मानना चाहिए चाहे वह अच्छा न भी समझा जाता हो, परन्तु इसका मतलब यह नहीं कि गांधी जाति-पांति को मानते थे और उनकी श्रेष्ठता--निकृष्टता में विश्वास करते थे, वे तो उसको समूल नाश करने के पक्ष में थे. कर्म से कोई जाति नहीं बन सकती. कर्म से कोई छोटा या बड़ा, ऊंच या नीच नहीं हो सकता. वर्ण का सिद्धान्त नैतिक है, जाति का सिद्धान्त अनैतिक है. कुछ लोग कहते हैं कि वर्ण जन्मना नहीं कर्मणा माना जाना

चाहिए. गांधी जी इसके विपरीत थे. उन्होंने वर्ण को जन्मना माना है, कर्मणा नहीं. यदि कोई व्यक्ति किसी ऐसे काम के योग्य है, जो उसे जन्म से नहीं मिला, तो वह व्यक्ति उस काम को कर सकता है, बशर्ते कि वह उस कार्य से जीविका-निर्वाह न करे, उसे वह निष्काम भाव से सेवाभाव से करे. खान-पान, शादी-विवाह में उन्होंने कहा कि कोई बन्धन किसी से वेदादि के पढ़ने तथा मन्दिर में जाने के अधिकार छीने नहीं जा सकते. सभी मनुष्य बराबर हैं. सब के अधिकार बराबर हैं. सभी को कर्म करने की स्वतन्त्रता है.

गांधी जी ने भी ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास--इन चार आश्रमों को माना है. गृहस्थ के लिए गांधी जी ने अर्वाचीन नित्य कर्म किया जैसे चर्खा-यज्ञ. वानप्रस्थ आश्रम उन लोगों का है, जो गृहस्थ आश्रम छोड़कर ब्रह्म की खोज में जंगल जाया करते थे. गांधी जी ने इसको थोड़ा बदल दिया. उन्होंने ब्रह्म की खोज में गृहस्थ आश्रम को छोड़कर समाज में रहकर सामाजिक और राष्ट्रीय कर्म करने की व्यवस्था की. सन्यासआश्रम को भी गांधी जी ने कुछ नया अर्थ दिया. वे वेशभूषा और दण्ड-कमण्डल को सन्यास का अंग नहीं मानते थे. सन्यासी वह है जो पूर्ण अनासक्त है, निष्काम है, तथापि अपना नित्यकर्म करता है. उसका सदा ध्यान ब्रह्म पर रहता है. अन्त में वह ब्रह्म हो जाता है. निष्काम सेवा करना सन्यासी का अनिवार्य लक्षण है.

समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए गांधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रम को देश के सामने रखा. उनके कर्म मार्ग का आवश्यक अंग समाज-सेवा है. इस प्रकार गांधी जी ने सेवा-धर्म स्वीकार किया. सेवा करने के लिए गांधी जी ने आश्रमों की स्थापना की और वहां से सेवकों को उत्पन्न किया. उनके सामने उन्होंने एक रचनात्मक कार्यक्रम रखा, जिसमें १६ बातें हैं. कौमी एकता, अस्पृश्यता-निवारण मद्य-निषेध, खादी, दूसरे ग्रामोद्योग गांवों की सफाई, बुनियादी तालीम, प्रौढ़ शिक्षा, स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार मिलना, आरोग्य के नियमों की शिक्षा, प्रान्तीय भाषाओं का विकास, राष्ट्रभाषा का विकास, आर्थिक समानता, किसानों की उन्नति, मजदूरों की भलाई, आदिवासियों का सुधार, कुष्ठरोगियों की सेवा, विद्यार्थियों का कर्तव्य तथा गो-सेवा, ग्रामोद्योग, खादी और गो-सेवा

गांधी जी के प्रधान कार्य हैं.

हम वर्णकर्म को वैयक्तिक या पारिवारिक कर्म, रचनात्मक कार्यक्रम को सामाजिक या राष्ट्रीय कर्म और सत्याग्रह आन्दोलन को राजनैतिक कार्य कह सकते हैं. गांधी-दर्शन में राजनीति भी उनके दर्शन का अंग है. राजनैतिक स्वतन्त्रता न होने से सामाजिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती. सामाजिक स्वतन्त्रता न होने से पारिवारिक और वैयक्तिक स्वतन्त्रता नहीं मिल सकती. अतः जिसे सच्ची वैयक्तिक स्वतन्त्रता प्राप्त करनी है, जिसे अपने सच्चे अस्तित्व को देखना है, उसे राजनीति में भी उतरना पड़ेगा. यही कारण था कि गांधी जी राजनीति में उतरे. वर्णाश्रम धर्म, रचनात्मक कार्यक्रम और सत्याग्रह आन्दोलन सब को करने में निष्कामता होनी चाहिए.

(७) आत्मा की अमरता

आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए प्रधान तर्क यह दिया जाता है कि आत्मा भौतिक सीमाओं से स्वतन्त्र है. मानव का बौद्धिक जीवन इस बात का प्रमाण है कि विचार, कल्पना और स्मृति देश-काल की सीमा से बाहर है. जब मानव किसी वस्तु का स्मरण करता है तो आत्मा देश काल की सीमा का त्याग कर अतीत की दुनियां में विचरण करती है. जहाँ तक कल्पना और आशा का सम्बन्ध है, आत्मा भौतिक वातावरण को छोड़कर भविष्य की दुनिया में विचरण करती है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि आत्मा मृत्यु के बाद भी भौतिक आधार के बिना अपनी सत्ता कायम रख सकती है.

आत्मा की अमरता को अविनाशिकता नियम (Law of conservation of energy) के द्वारा भी देखा जाता है. इस सिद्धांत के अनुसार विश्व में शक्ति की मात्रा स्थिर है. न उसमें कमी हो सकती है और न अधिकता सिर्फ शक्ति का परिवर्तन ही हो सकता है. इस सिलसिले में यह कह देना ठीक होगा कि शक्ति दो प्रकार की है-- १ संभाव्य शक्ति (Potential energy)

और दूसरी गति सम्बन्धी शक्ति (Kinetic energy) इससे यह सिद्ध होता है कि भौतिक जगत् में किसी भी शक्ति का ह्रास नहीं हो सकता. इस सादृश्यता के आधार पर कुछ लोगों ने यह माना है कि आत्मा भी एक शक्ति है, जिसका ह्रास भौतिक शक्ति के समान ही असम्भव है. आत्मा का रूप भले ही परिवर्तित हो, परन्तु उसकी सत्ता ज्यों की त्यों है.

मार्टिनो के अनुसार मृत्यु अपने भौतिक रूप में केवल शक्ति का परिवर्तन है, मृत्यु होने पर शरीर की शक्तियां विच्छृंखल हो जाती हैं, जिसके परिणामस्वरूप शरीर नष्ट हो जाता है, परन्तु शक्ति-अक्षयता के नियम के अनुसार यह शक्तियां पूर्णत: नष्ट नहीं हो सकतीं. यदि यह नियम भौतिक शक्ति पर लागू होता है तो मन पदार्थ से पृथक् अथवा स्वतंत्र रहता है, अर्थात् मनुष्य की आत्मा मृत्यु के पश्चात् भी जीवित रह सकती है. परन्तु यदि यह नियम भौतिक व मानसिक दोनों शक्तियों पर लागू होता है तो जिस प्रकार भौतिक शक्ति कभी समाप्त नहीं हो सकती, वह किसी-न-किसी रूप में जीवित रहती है, उसी प्रकार मानसिक शक्ति भी मृत्यु के पश्चात् समाप्त नहीं हो सकती, वह अपने किसी-न-किसी स्वरूप में मौजूद रहती है. इस प्रकार आत्मा की अमरता शक्ति-अक्षयता नियम के विरुद्ध नहीं है.

नैतिक आदर्श असीम होता है. यह वर्तमान जीवन में पूर्णत: प्राप्त नहीं किया जा सकता. नैतिक प्रगति जितनी अधिक होती है, नैतिक आदर्श भी उतना ही अधिक उच्च होता जाता है, अत: नैतिक आदर्श की प्राप्ति के लिए अनश्वर अथवा अमर जीवन की आवश्यकता होती है. काण्ट इसका वर्णन इसप्रकार करता है-- इच्छा एवं कर्तव्य के मध्य संघर्षों को कभी भी पूर्णत: सीमित जीवन में समाप्त नहीं किया जा सकता. अत: वर्तमान जीवन के ही क्रम में एक भावी जीवन भी होना चाहिए, जहाँ कि मानवीय आत्मा का व्यक्तित्व जीवित रहकर इच्छा एवं कर्तव्य के मध्य सामंजस्य स्थापित कर सके.

काण्ट का कहना है कि न्याय और समता ये जो अन्त:करण का मांगे हैं, वे भविष्य जीवन की ओर इंगित करती हैं. हमारे मन में यह विश्वास होता है कि पुण्य का पुरस्कार सुख एवं पाप का दण्ड दु:ख है, परन्तु पुण्यवान इस

जगत् में विरले ही सुखी होते हैं, अत: हमारी धारणा है कि इस जीवन से परे एक अन्य जीवन होगा, जिसमें व्यक्ति को अपने पाप-पुण्य का फल मिलता है. नैतिक आदर्श अनन्त है, यह नियत समय के भीतर प्राप्त नहीं किया जा सकता. इस अनन्त आदर्श की उपलब्धि के हेतु आत्मा को अनन्त समय मिलना चाहिए, अत: यह अनश्वर होनी चाहिए. सेथ का कहना है कि मृत्यु हमारे जीवन का अन्तिम चरण नहीं है, मनुष्य का कार्य असीमित है, उसकी पूर्ति इस सीमित जीवन में नहीं हो सकती. आत्मा की क्षमता और सम्भावित शक्तियां असीम हैं, वे इस अल्प जीवन-काल में विकसित नहीं हो सकतीं. इन शक्तियों का पूर्ण विकास असीमित समय चाहता है. मनुष्य की बौद्धिक, कलात्मक एवं नैतिक शक्तियां अनन्त हैं, उनकी प्राप्ति के लिए आत्मन् की अविनश्वरता आवश्यक है. हॉफडिंग मूल्यों के संरक्षण का सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं, हम इस जीवन में जिन मूल्यों का अर्जन करते हैं, उनका नैतिक व्यवस्था में संरक्षण होना चाहिए, अत: यह सिद्धान्त भी आत्मा की अमरता का प्रतिपादन करता है. लॉटजे का कहना है कि अमर वही व्यक्ति होते हैं जो अपने भीतर इतने ऊंचे मूल्य को साकार एवं मूर्त कर लेते हैं कि उसके कारण वे अपने व्यक्तिगत अस्तित्व को खोते नहीं. प्रो० प्रिंगल पैटिसन इस विषय में लॉटजे के अनुयायी हैं, उनका कहना है कि "अमरता हर मानवीय आत्मा में नैसर्गिक रूप में विद्यमान नहीं है और वह न कोई निःशुल्क गुण है जो मानव-रूप धारण कर जन्म लेने वाले हर व्यक्ति को दे दिया गया है. एक सच्ची आत्मा का जन्म सतत् प्रयत्न के बाद होता है और उसे कायम रखने के लिए भी वैसे ही प्रयत्न की आवश्यकता होती है, क्योंकि उसके विघटन का खतरा हमेशा बना रहता है।"[29] जे० ऐस्टलिन कारपेण्टर का कहना है कि, --" बौद्ध दर्शन में सभी प्राणियों की अन्तत: निर्वाण-प्राप्ति का उल्लेख है और ईसाई धर्म अपने व्यापकतम इतिहास में यही कहता रहा है और अब भी कहता है कि असंख्य प्राणी अनन्त काल तक यातनाएं भोगते रहेंगे और पाप करते रहेंगे।"[30] इस प्रकार यहां भी अमरता को [illegible] गया है.

प्रारम्भिक धर्म में मानव अपने स्वप्न की व्याख्या के द्वारा आत्मा की अमरता की भावना को पुष्ट करता है. स्वप्न में प्रारम्भिक मानव अपने पूर्वजों का प्रतिबिम्ब देखा करते थे, इससे वे यह समझते थे कि हमारे पूर्वज मृत्यु के उपरान्त भी जीवित हैं. इस प्रकार अमरता की भावना की उत्पत्ति होती है. आधुनिक मनोवैज्ञानिकों ने स्वप्न की व्याख्या विभिन्न ढंग से की है, जैसे फ्रायड ने स्वप्न को दबी कामवासनाओं का प्रकाशन कहा है. इसी प्रकार आधुनिक युग में अमरता की उत्पत्ति भी दूसरे ढंग से की जाती है. प्रत्येक मानव अपने लक्ष्य को अपनाने के लिए प्रयत्नशील रहता है. मनुष्य का जीवन बहुत सीमित है, अतः वह अपने लक्ष्य को अपना नहीं सकता, इसे अपनाने के लिए दूसरे जीवन की आवश्यकता है. इस प्रकार अमरता की भावना का विकास होता है.

आत्मा की अमरता को प्लेटो ने अति सरल ढंग से सिद्ध किया है. इनके अनुसार आत्मा सरल द्रव्य (Simple substance) है. सरल द्रव्य निरवयव (partless) होता है. किसी भी वस्तु के नाश होने का अर्थ है, उसके विभिन्न अवयवों का एक-दूसरे से विच्छिन्न हो जाना. चूंकि आत्मा द्रव्य है, इसलिए यह भी निरवयव होने के कारण अविनाशी है. यह मृत्यु एवं विकास से परे है. डेकार्ट ने आत्मा को एक द्रव्य कहा है, जिसका आधार चैतन्य है. चैतन्य आत्मा का स्वरूप लक्षण है, जिसके अभाव से आत्मा की कल्पना भी नहीं की जा सकती. किसी भी द्रव्य का विनाश सम्भव नहीं है, क्योंकि द्रव्य एक शक्ति है, जो अविनाशी है. इसलिए आत्मा भी अविनाशी अथवा अमर है. लाइबनीज ने चरमसत्ता मोनाड को कहा है -- यह एक आध्यात्मिक सत्ता है, जिसे लाइबनीज ने आत्मा कहा है. मोनाड अनेक हैं, फिर भी चेतना के विकास के आधार पर इन्हें एक तारतम्य में रखा जाता है. इस तारतम्य में सबसे उच्च स्थान ईश्वर को दिया जाता है. जिसे लाइबनीज ने मोनेड ऑफ मोनेड की संज्ञा से विभूषित किया है. मोनाडकी यह कड़ी लगातार एवं अटूट है. इसमें किसी प्रकार की खाई नहीं है. इसलिए यदि मोनाड को मरणशील मान लें तब हमें यह भी मानना पड़ेगा कि

मोनाड में एक खाई है, पर ऐसी बात लाइबनीज के लिए संगत नहीं, चूंकि मोनाड ही आत्मा है यह बात साबित हो जाती है कि आत्मा का विनाश नहीं हो सकता, परन्तु लाइबनीज का सिद्धान्त ही खण्डित हो जायेगा.

मैकटागार्ट जो प्रत्ययवादी होने के कारण निरपेक्ष को व्यक्ति न मानते हैं, इसे समाज के समान माना जाता है, जिस प्रकार समाज में अनेक व्यक्ति होते हैं, उसी प्रकार निरपेक्ष में भी अनेक आत्मायें हैं. सभी आत्मायें स्वतः अमर, तादात्म्य, आत्मपरिपूर्ण हैं, उनमें परिवर्तन नहीं है और जिसमें परिवर्तन नहीं, उसका विनाश भी नहीं हो सकता, अतः आत्मा अमर है, उसका नाश सम्भव नहीं.

काण्ट ने नैतिक युक्ति के आधार पर अमरता की स्थापना को सिद्ध किया है. प्रत्येक व्यक्ति में एक नैतिक संकल्प है. नैतिक संकल्प का स्वरूप निरपेक्ष है. इसके अनुसार ही हमारे कर्म होते हैं. इसी हम अपने चरम लक्ष्य की प्राप्त करना चाहते हैं. अतः नैतिक संकल्प के अनुरूप बनना ही चरम लक्ष्य की प्राप्ति है, किन्तु चरमलक्ष्य की प्राप्ति इस सीमित जीवन के लिए सम्भव नहीं है. मानव को इसके लिए जन्म-जन्मान्तर तक प्रयत्न करना पड़ता है, पर ऐसा प्रयत्न तब ही सम्भव है जब कि आत्मा को अमर माना जाये. अतः आत्मा अमरणशील है.

नैतिक दृष्टिकोण से भी आत्मा की अमरता प्रमाणित होती है. कर्म सिद्धान्त के अनुसार मानव को कर्म का फल अवश्य मिलता है. वर्तमान जीवन भूतकाल के जीवन के कर्मों का फल है तथा भविष्यत् काल का जीवन आजकल के जीवन के कर्मों का फल होता है. इसलिए इस जीवन में यदि हम अच्छा कर्म करते हैं तब हमारा दूसरा जीवन सुखमय होगा, पर यदि इस जीवन में हम बुरा कर्म करते हैं तब हमारा भविष्य का जीवन भी बुरा होगा. पर इस जीवन के कर्मों का फल हमारे जीवन में तभी प्राप्त हो सकता है, जब आत्मा को अमर माना जाये. अतः कर्म सिद्धान्त के आधार पर भी आत्मा की अमरता साबित हो जाती है.

आत्मा की अमरता को सिद्ध करने के लिए यह तर्क दिया जाता है कि वह एक ऐसी सत्ता है, जो भौतिक वस्तुओं का निर्देशन करता है, इससे आत्मा की अमरता प्रमाणित होती है. यदि आत्मा की अमरता को नहीं माना जाये तो यह मानना भी अनुचित होगा कि वह भौतिक पदार्थों का निर्देशन करता है. इसका कारण यह है कि एक नश्वर सत्ता अन्य नश्वर पदार्थों का निर्देशन नहीं कर सकती. आत्मा भौतिक पदार्थों का निर्देशन करता है-- यह निर्विवाद सत्य है. अतः ह आत्मा की अमरता प्रमाणित हो जाता है. विलियम जेम्स ने आत्मा की अमरता को प्रमाणित करते हुए कहा है कि हम अमरत्व में विश्वास इसलिए करते हैं कि हममें अमरत्व में विश्वास करने की अन्तर्भूत है. अमरत्व का विचार भावना पर आधारित है. विलियम जेम्स के अनुसार भावनाओं के द्वारा ही हमारा विश्वास किसी वस्तु पर जमा रहता है. यदि हमारी भावनाओं का अन्त हो जाये तो हमें संशयवाद को स्वीकारना आवश्यक होगा. कुछ लोगों ने कहा है कि अमरत्व का विचार एक सार्वभौम विचार है. इसलिए अमरता का अस्तित्व है. यह तर्क असंगत है, क्योंकि अमरत्व का विचार सार्वभौम विचार नहीं है. भारतीय दर्शन में चार्वाक दर्शन आत्मा की अमरता का खण्डन करता है. चार्वाक आत्मा को शरीर से भिन्न नहीं मानता है. आत्मा शरीर का ही दूसरा नाम है. शरीर का अन्त ही आत्मा का भी अन्त है. अतः आत्मा अमर नहीं है. लेकिन यह एक विश्व-व्यापी भावना है कि आत्मा अमर है. यह प्रत्येक धर्म का आधार है. इसलिए जब तक धर्म का अस्तित्व होगा. अमरत्व की भावना का मूल्य कम नहीं होगा. अतः मानव के धार्मिक विचार में अमरत्व की भावना से अत्यधिक सहायता मिली है. ज्यों-ज्यों धर्म का विकास होता गया है, त्यों-त्यों अमरत्व की भावना की महत्ता बढ़ती गई है. इस प्रकार हम कह सकते हैं कि जब तक मनुष्य का धर्म में विश्वास रहेगा, अमरत्व की भावना निःसंदेह रूप से जीवित रहेगी.

महात्मा गांधी का अमरता विचार भगवद्गीता केअमरता विचार से बहुत मेल खाता है. गांधी का मत है कि आत्मा अमर है और शरीर का विनाश होता है. भारतीय दार्शनिकों का भी अमरता के सम्बन्ध में ऐसा ही।

विचार है. प्लेटो ने भी आत्मा को अमर तथा शरीर को विनाशवान माना है. आत्मा अमर है,इसलिए उसका विनाश नहीं होता. महात्मा गांधी का विचार अमरता के सन्दर्भ में गीता की इन पंक्तियों से स्पष्ट किया जा सकता है.

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत ।
तस्मात्सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि ।।[31]

अर्थात् मनुष्य आत्मा का , जो कि अमर है, और शरीर का, जो कि मरणशील है समास है. यदि हम यह भी मान लें कि शरीर स्वभावत: मरणशील है तो भी क्योंकि वह आत्मा के हितों की रक्षा का साधन है, इसलिए उसकी भी सुरक्षा की जानी चाहिए. गीता में पुन: कहा गया है कि वह कभी जन्म नहीं लेता और न कभी वह मरता ही है. एक बार अस्तित्व में आ जाने के बाद उसका अस्तित्व फिर कभी समाप्त नहीं होगा. वह अजन्मा,शाश्वत,नित्य और प्राचीन है. वह शरीर के मारे जाने पर भी वह नहीं मरता . इस तरह की सूक्ति कठोपनिषद् में भी आई है-न वधेनास्य हन्यते.[32]

व्यक्तिगत अमरता भारतीय मत की विशेषता है. गांधी का मत भगवद्गीता एवं भारतीय दर्शन से अभिभूत है. इस प्रकार गांधी व्यक्तिगत अमरता के सिद्धान्त के पोषक हैं. इसका तात्पर्य यह है कि गांधी के अनुसार आत्मा अजेय है,अमर है. शरीर नाशवान है. पश्चिम का ईसाई मत सोपाधिक अमरता में विश्वास करता है. जिनमें शरीर मृत्यु के बाद भी किसी-न-किसी रूप में दूसरे जन्म में आत्मा के साथ संयुक्त होता है. पुन: सोपाधिक अमरता इस बात में विश्वास करता है कि कुछ आदमी अमरता को पा सकते हैं,जिनमें कि सन्त और महर्षि ही केवल अमरता को पा सकते हैं. महात्मा गांधी सोपाधिक अमरता के विपरीत इस बात को मानते हैं कि पूर्ण मानव समुदाय अमरता को प्राप्त कर सकता है. सभी मनुष्यों में एक ही आत्मा है और जो एक के लिए सुलभ है तो अन्य के लिए भी संभव है. अ महात्मा गांधी ने सर्वमुक्ति

की बात की है. यहां पर आत्मा की अमरता के सन्दर्भ में ईसाई मत से उनका भेद दिखता ७ है तथा गीता के अमरता सिद्धान्त से मेल दिखता है.

(८) पुनर्जन्म

आत्मा की उत्पत्ति के अलावा आविर्भाव का सिद्धान्त पुनर्जन्म के सिद्धान्त को युक्तियुक्त सिद्ध करता है. इस सिद्धान्त के अनुसार समस्त प्रकृति में जीवन का नाश नहीं होता, बल्कि वह निरन्तर नये-नये रूप धारण करता जाता है. जीवन एक प्रवाह है, जिसका कहीं अन्त नहीं है, जो भूत की ओर न लौटकर निरन्तर भविष्य की ओर बढ़ता जाता है.

आत्मा का उद्देश्य व्यक्ति के रूप में कार्य करना और उसका विकास करना होता है. हममें जो शक्तियां विद्यमान हैं, उनका उपयोग हम केवल एक ही जन्म में नहीं कर सकते, इसीलिए हम पुन: जन्म लेते हैं. विज्ञान का यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि यदि हम काल में विकास की कोई स्थिति देखते हैं तो उससे हम उसके अतीत का अनुमान लगा सकते हैं. हम यह बात प्राय: कहा करते हैं कि अमुक व्यक्ति को अमुक गुण पैतृक रूप से मिला है. इसका अर्थ यह है कि इस जन्म में और उससे पहले आत्मा का कोई पूर्व इतिहास होना चाहिए. हम यह स्वीकार नहीं कर सकते कि आत्मा बिना किसी पूर्व कारण के एकाएक ही एक निश्चित स्वभाव लेकर उद्भूत होती है.

पश्चिमी दार्शनिकों में पैथागोरस, प्लेटो और एम्पीडोक्लीज पुनर्जन्म को स्वत: सिद्ध मानते हैं. उनका कहना है कि अगर पूर्वजन्म है तो पुनर्जन्म भी है. पूर्वजन्म और उत्तर जन्म दोनों साथ-साथ चलते हैं. बाद के विचारकों ने जैसे प्लोटिनस और नवप्लेटोवादियों ने भी पुनर्जन्म को माना है. यदि हम इब्रानियों पर दृष्टिपात करें तो देखेंगे कि फिलो में भी उसके संकेत मिलते हैं.

सूफी सम्प्रदाय के लेखकों ने भी इसे स्वीकार किया है. जुलियस सीजर का कहना है कि ब्रिटिश लोगों के पूर्वजों में भी पुनर्जन्म का विश्वास प्रचलित था.[33] ईसाई धर्म में भी कुछ की शताब्दियों में कुछ प्रारम्भिक नौस्टिक संप्रदाय (रहस्यवादी) और चौथी-पांचवीं शताब्दियों में मैनिकेन सम्प्रदाय पुनर्जन्म में विश्वास करते थे.[34] औरिजेन का भी पुनर्जन्म में विश्वास था. मध्ययुग में अनेक कथारी सम्प्रदायों में भी यह विश्वास परम्परागत रूप से विद्यमान था.[35] पुनर्जागरण के समय ब्रूनो ने इस सिद्धान्त को अपनाया और सत्रहवीं शताब्दी में वानहेल्मोंट ने भी इस सिद्धान्त को स्वीकार किया. स्वीडनबर्ग ने इस सिद्धान्त का कुछ संशोधित रूप में उल्लेख किया है. ह्यूम और शापिनहॉवर ने इस सिद्धान्त का आदर के साथ उल्लेख किया है.[36]

यह पुनर्जन्म का सिद्धान्त है हिन्दुओं में ऋग्वेद के काल से मान्य रहा है. सभी भारतीय दार्शनिक पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं, केवल चार्वाक को छोड़कर. इसका कारण है कि सभी दार्शनिक कर्मवाद के सिद्धान्त में विश्वास करते हैं. अतीत,वर्तमान,भविष्य को एक ही शृंखला की कड़ी मानते हैं. सभी दार्शनिक मानते हैं कि आत्मा अमर है और शरीर मरणशील. इस शरीर के द्वारा किए गए कर्म-फल भोगने के लिए आत्मा को पुन: शरीरधारी होना पड़ता है. आत्मा के पुन: शरीरधारी होने का नाम पुनर्जन्म है. इसमें सभी दार्शनिकों का विश्वास है. यह नैतिक नियम का आधार है. इस नियम के कारण ही हम पाप कार्य से बचते हैं तथा पुण्यकार्य करते हैं. क्योंकि भारतीय दर्शन का यह पूर्ण विश्वास है कि अच्छे तथा बुरे कर्मों का फलाफल जन्म-जन्मान्तर भोगना पड़ता है. बौद्ध धर्म ने आत्मा को परिवर्तनशील माना है. तब प्रश्न उठता है कि इस आत्मा से पुनर्जन्म की व्याख्या कैसे सम्भव है ? बुद्ध की यह विशेषता है कि उन्होंने नित्य आत्मा का निषेध करके भी पुनर्जन्म की व्याख्या की है. बुद्ध के मतानुसार पुनर्जन्म का अर्थ एक आत्मा का दूसरे शरीर में प्रवेश करना नहीं है,बल्कि इसके विपरीत पुनर्जन्म का अर्थ विज्ञान-

प्रवाह की अविच्छिन्नता है. जब एक विज्ञानप्रवाह का अन्तिम विज्ञान समाप्त हो जाता है,तब अन्तिम विज्ञान की मृत्यु हो जाती है और एक नये शरीर में एक नये विज्ञान का प्रादुर्भाव होता है. इसी को बुद्ध ने पुनर्जन्म कहा है. बुद्ध ने पुनर्जन्म की व्याख्या दीपक की ज्योति के सहारे की है. जिस प्रकार एक दीपक से दूसरे दीपक को जलाया जा सकता है,उसी प्रकार वर्तमान जीवन की अन्तिम अवस्था से भविष्य जीवन की प्रथम अवस्था का विकास सम्भव है.

गांधी जी हिन्दू धर्म को मानने वाले हैं. हिन्दू धर्म भी अन्य धर्मों की तरह पुनर्जन्म में विश्वास रखता है. पुनर्जन्म का अर्थ है पुनः पुनः जन्म ग्रहण करना. हिन्दू धर्म के अनुसार संसार जन्म और मृत्यु की शृंखला है. पुनर्जन्म में विश्वास करना हिन्दू धर्म के अध्यात्मवादिता का प्रतीक है. गांधी जी कहते हैं,--" मैं पुनर्जन्म में उतना ही विश्वास करता हूं जितना अपने वर्तमान शरीर के अस्तित्व में। इसलिए मैं जानता हूं कि थोड़ा भी प्रयत्न व्यर्थ न जायेगा।"[37] पुनर्जन्म का विचार कर्मवाद के सिद्धान्त तथा आत्मा की अमरता से ही प्रस्फुटित होता है. आत्मा अपने कर्मों का फल एक जीवन में नहीं प्राप्त कर सकता. कर्मों का फल भोगने के लिए जन्म ग्रहण करना आवश्यक हो जाता है. पुनर्जन्म का सिद्धान्त आत्मा की अमरता से फलित होता है. आत्मा नित्य एवं अविनाशी होने के कारण एक शरीर से दूसरे शरीर में शरीर की मृत्यु के पश्चात् प्रवेश करती है. मृत्यु का अर्थ शरीर का अंत है, आत्मा का नहीं. इस प्रकार शरीर के विनाश के बाद आत्मा का दूसरा शरीर ग्रहण करना ही पुनर्जन्म है. भगवद्गीता जो हिन्दू धर्म का प्रमुख आधार माना जाता है, उसमें पुनर्जन्म-सिद्धान्त की सुन्दर व्याख्या की गई है, " जिस प्रकार मानव की आत्मा भिन्न भिन्न अवस्थाओं से जैसे शैशवावस्था, युवावस्था,वृद्धावस्था से गुजरती है उसी प्रकार वह एक शरीर से दूसरे शरीर में प्रवेश करती है।"[38] गांधी जी पुनर्जन्म में विश्वास करते हैं. वे कहते हैं,--" मैं पूर्वजन्म और पुनर्जन्म को मानने वाला हूं। हमारे सारे सम्बन्ध पूर्वजन्म से प्राप्त संस्कारों के परिणाम हैं। ईश्वर के नियम

दुर्बोध है और अनन्त खोज के विषय हैं । उनकी गहराई का कोई पता नहीं लगा सकेगा ।[३६]

(९) मोक्ष

मनुष्य जीवन का लक्ष्य अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करते रहना मात्र नहीं है. वह लक्ष्य तो इस दृश्य जगत् से सीमित न होकर उससे परे है. जीवन का अन्तिम लक्ष्य अपने-आपको भौतिक बन्धनों, भौतिक आकांक्षाओं और इच्छाओं से मुक्त करना और मोक्ष को प्राप्त करना है. दूसरे शब्दों में, मनुष्य जीवन का अन्तिम ध्येय शरीर की इच्छाओं की तृप्ति नहीं, वरन् उन इच्छाओं से अपने-आपको ऊपर उठाकर आत्मा की उन्नति अथवा आध्यात्मिक उन्नति करना है.

किसी वस्तु के कारण का यदि नाश हो जाये तो वस्तु का भी विनाश हो जायेगा, क्योंकि अकारण किसी वस्तु का अस्तित्व नहीं रह सकता. अतः यदि बन्धन का कारण अज्ञान या मिथ्याज्ञान है और हम यदि इसका नाश कर दें तो हमें सच्चा ज्ञान या तत्त्वज्ञान प्राप्त हो जायेगा. अतः तत्त्वज्ञान ही मोक्ष का कारण है. ज्ञान से ही अज्ञान का नाश होता है. और मोक्ष से बन्धन का नाश होता है. ज्ञान प्राप्त होने पर संसार के क्षणिक आनन्द में लिपटते नहीं. मोक्ष प्राप्त होने पर मनुष्य सच्चिदानन्द स्वरूप हो जाता है. अतः ज्ञान ही मोक्ष का कारण है.

मोक्ष को भिन्न-भिन्न दार्शनिकों तथा दर्शनशास्त्र ने अपने-अपने ढंग से प्राप्त किया है. पश्चिम में आर्फिक लोगों का कहना है कि समाधि की अवस्था में आत्मा ईश्वर के अन्दर लीन हो जाता है. व्यक्ति अपनी सीमाओं से उठकर विश्वव्यापी ईश्वर के साथ तदाकार हो जाता है. प्लेटो ने आत्मा की उन्नति का इसी अर्थ में प्रयोग किया है. डायनोसिस के सम्प्रदाय में संस्कारों और

कर्मकाण्डों का मुख्य उद्देश्य पूजा और उपासना करने वाले व्यक्ति का ईश्वर में लीन हो जाना है. इन्होंने अपने सिम्पोजियम में एक ऐसे कालातीत अस्तित्व का सिद्धान्त दिया है, जो काल और आकार से अनवच्छिन्न होकर यहां और अभी प्राप्त किया जा सकता है. अरस्तू का पदार्थ (मैटर) का अपने अनुरूप स्वरूप(फार्म) की ओर बढ़ने और उसको प्राप्त करने की प्रवृत्ति से यही अर्थ है. इसी को उसने दूसरे शब्दों में संसार को ईश्वर(गाड) के लिए इच्छा भी कहा है. ईसाई धर्म में मुक्ति के लिए ईश्वर में विश्वास आवश्यक है. ईश्वर में विश्वास के अतिरिक्त ईसामसीह में भी विश्वास आवश्यक माना गया है, क्योंकि वे मानव के उद्धारक हैं. उन्होंने स्वयं कहा है कि बिना उनके कोई भी पिता के पास नहीं पहुंच सकता. ईसाई धर्म में मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा और क्षमा पर अत्यधिक बल दिया गया है. ईश्वर की कृपा के बिना मनुष्य मुक्ति का भागी नहीं हो सकता. इस धर्म के अनुसार मनुष्य अपने प्रयासों से मुक्ति को नहीं पा सकता है. मुक्ति के लिए ईश्वर की कृपा व प्रेम आवश्यक है. ईसाई धर्म में मोक्ष पाने के लिए हृदय अथवा अन्तःकरण की शुद्धता पर भी जोर दिया गया है.

जीवन सम्बन्धी जो अभौतिक दृष्टि मोक्ष के सम्बन्ध में हमको उपरोक्त पाश्चात्य दर्शनशास्त्रों और दार्शनिकों के विचारों में मिलती है, उसका और भी अधिक स्पष्ट और सुन्दर व्यक्तीकरण हमको भारतीय दर्शन और विचारधारा में दिखाई पड़ेगा.

कुछ दार्शनिक मोक्ष को ही जीवन का लक्ष्य मानते हैं. दुःखों से छुटकारा पाना ही मोक्ष है. चार्वाक इसे नहीं मानते. उनका कहना है कि यदि मोक्ष का अर्थ शरीर और आत्मा का सार्वकालिक वियोग है तो यह कदापि सम्भव नहीं. आत्मा नाम की कोई वस्तु है ही नहीं. फिर उसके शरीर से वियोग होने का अर्थ कहां ? नैयायिकों के अनुसार मोक्ष दुःख के पूर्ण निरोध की अवस्था है.

मोक्ष को अपवर्ग कहते हैं. अपवर्ग का अर्थ है -- शरीर और इन्द्रियों के बन्धन से आत्मा का मुक्त होना. गौतम ने दुःख के आत्यन्तिक उच्छेद को मोक्ष कहा है.

नैयायिकों के अनुसार मोक्ष एक ऐसी अवस्था है, जिसमें आत्मा के केवल दुःखों का ही अन्त नहीं होता, बल्कि उसके सुखों का भी अन्त हो जाता है. मोक्ष में आत्मा अपनी स्वाभाविक अवस्था में आ जाता है. किसी प्रकार की अनुभूति उसमें शेष नहीं रह जाती. नैयायिकों के अनुसार मोक्ष की प्राप्ति तत्त्वज्ञान से सम्भव है. मोक्ष पाने के लिए नैयायिकों ने श्रवण, मनन और निदिध्यासन पर ज़ोर दिया है. सांख्य के अनुसार पुरुष और प्रकृति के आकस्मिक सम्बन्ध से बन्धन का प्रादुर्भाव होता है. आत्मा और प्रकृति अथवा अनात्मा के भेद का ज्ञान न रहना ही बन्धन है. इसका कारण अज्ञान है. अज्ञान का अन्त ज्ञान से ही सम्भव है. इसलिए सांख्य ने ज्ञान को मोक्ष का साधन माना है. मोक्ष की प्राप्ति सम्यक् ज्ञान से ही सम्भव है. पुरुष और प्रकृति के भेद के ज्ञान को सम्यक्ज्ञान कहा जाता है. मोक्ष की अवस्था में आत्मा का शुद्ध चैतन्य निखर जाता है. आत्मा सभी प्रकार के बन्धन से मुक्त हो जाता है. इस प्रकार अपूर्णता से पूर्णता की प्राप्ति को ही मोक्ष कहा जाता है. सांख्य जीवनमुक्ति और विदेहमुक्ति, दो प्रकार की मुक्ति मानता है. जीवनमुक्ति का अर्थ है जीवन काल में मोक्ष की प्राप्ति. मृत्यु के उपरान्त जिस मुक्ति की प्राप्ति होती है उसे विदेह मुक्ति कहा जाता है. मीमांसा के अनुसार मोक्ष दुःख के अभाव की अवस्था है. मोक्ष की अवस्था में सांसारिक दुःखों का विनाश हो जाता है. मोक्ष को मीमांसकों ने आनन्द की अवस्था नहीं माना है. कुमारिल का कथन है कि यदि मोक्ष को आनन्द रूप माना जाये तो वह स्वर्ग के तुल्य होगा तथा नश्वर होगा. मोक्ष नित्य है, क्योंकि वह अभाव रूप है. मीमांसा का मोक्ष विचार न्याय-वैशेषिक के मोक्ष विचार से मिलता-जुलता है. शंकर के अनुसार आत्मा का शरीर और मन से अपनापन का सम्बन्ध होना बन्धन है. मीमांसा के मतानुसार मोक्ष की प्राप्ति कर्म से सम्भव है. परन्तु शंकर के अनुसार कर्म और भक्ति ज्ञान की प्राप्ति में भले ही सहायक हो सकता है, पर मोक्ष की प्राप्ति में सहायक नहीं हो सकती. मोक्ष की अवस्था में जीव ब्रह्म में एकाकार

हो जाता है. ब्रह्म आनन्दमय है,इसलिए मोक्ष की अवस्था को आनन्दमय माना गया है. रामानुज के अनुसार मोक्ष का अर्थ आत्मा का परमात्मा में एकाकार हो जाना नहीं है. मुक्त आत्मा ब्रह्म के सदृश हो जाता है. मोक्ष की प्राप्ति रामानुज के अनुसार मृत्यु के उपरान्त ही सम्भव है. ईश्वर के प्रति भक्ति के द्वारा मानव मुक्त हो सकता है. हिन्दू धर्म में मोक्ष को जीवन का परम लक्ष्य माना गया है. हिन्दू धर्म एवं हिन्दू दर्शन का लक्ष्य बन्धन से मुक्ति प्राप्त करना कहा जा सकता है. आत्मा हिन्दू धर्म के अनुसार ईश्वरत्व से युक्त है,फिर भी अज्ञान के कारण वह अपने वास्तविक स्वरूप को भूलकर बन्धनग्रस्त हो जाती है. हिन्दुओं के अनुसार संसार दुःखों से परिपूर्ण है. दुःखों का पूर्ण विनाश मोक्ष से ही सम्भव है.

गांधी जी हिन्दू धर्म की तरह मोक्ष को अपना आदर्श मानते हैं. उनकी नई तालीम, बुनियादी शिक्षा का उद्देश्य भी यही है कि मोक्ष के लिए ही पढ़ना चाहिए. वही विद्या है जो मोक्षदायिनी हो. इस भारतीय सिद्धान्त के अनुसार ही उन्होंने प्रत्येक कला,विज्ञान और शास्त्र का उद्देश्य मोक्ष दिलवाना माना है. मोक्ष को गांधी जी सत्य प्राप्ति, अहिंसा-प्राप्ति, ईश्वर दर्शन, हरि दर्शन, आत्मज्ञान,आत्म-साक्षात्कार, परम पद कहते हैं.

महात्मा गांधी के अनुसार सभी मनुष्य के जीवन का एक लक्ष्य है. यह लक्ष्य मोक्ष की प्राप्ति है. गांधी जी के अनुसार मोक्ष के दो अर्थ हैं-- स्वीकारात्मक अर्थ में यह ईश्वर का साक्षात्कार, या सत्य बोध है,जो कि आत्म-बोध के बराबर ही है. किन्तु मोक्ष का नकारात्मक अर्थ भी है. शब्दावली की दृष्टि से मोक्ष शब्द की उत्पत्ति मुक् से हुई है. इसका अर्थ है ढीला करना, स्वतन्त्र करना, छोड़ना, जिसका अर्थ है आत्मा स्वतन्त्रता. यहाँ प्रश्न उठता है कि किस चीज़ से मोक्ष पाना है ? साधारणतः सभी भारतीय दर्शन पाप से मुक्ति पाने की बात करते हैं, व लेकिन विभिन्न दर्शन तथा दार्शनिक पाप का

अर्थ भिन्न-भिन्न लगाते हैं. गीता में मोह की अवस्था को पाप कहते हैं. संपूर्ण गीता निष्काम कर्म का पाठ पढ़ाती है जो मोक्ष प्रदान करता है. बुद्ध का पूरा दर्शन दुःख से छुटकारा पाने की बात करता है. दुःख निरोध मार्ग चतुर्थ आर्य सत्य है. शंकराचार्य अविद्या से मुक्ति की बात कहते हैं. गांधी जी एक नये युग में अवतरित हुए हैं. उन्होंने मोक्ष का अर्थ पाप, अविद्या या दुःख या अज्ञान के अर्थ में न लेकर अन्याय या बुराई जो हिंसा के रूप में है, उससे मुक्ति के अर्थ में लिया है. उनके अनुसार मानव का मोक्ष हिंसा से मुक्ति पाना है. जब व्यक्ति हिंसा से मुक्ति पाता है, तब सत्य का बोध होता है. मोक्ष प्राप्ति का ही दूसरा नाम गांधीजी सत्य की खोज करना समझते हैं.

हमारी पार्थिव सत्ता हिंसा पर आधारित है. ऐहिक जीवन के लिए हिंसा आवश्यक है. मानव बिना हिंसा के जीवित नहीं रह सकता. जीना, खाना, पीना, चलना आवश्यक रूप से हिंसा के सहारे होते हैं. यहां तक कि नैतिक तथा आध्यात्मिक प्रयास जो ईश्वर के बोध के लिए किए जाते हैं, उसमें भी हिंसा का अंश समाविष्ट है. क्योंकि आत्मा एक ओर खींचती है और शरीर दूसरी तरफ. आत्मा शरीर से मुक्त हो, इसके लिए यंत्रणा देना आवश्यक होता है. हम लोग ईश्वर के बराबर तभी पहुंच सकते हैं, जब अहिंसा को मानें. गांधी जी के अनुसार --" यही कारण है कि अहिंसा का उपासक सदा शरीर के बन्धन से मुक्ति पाना चाहता है।[40]" गांधी जी ने जीवन्मुक्ति को संभव नहीं माना है, उनके अनुसार जब तक देह है तब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती. वे विदेहमुक्ति के सिद्धान्त को मानते हैं. मुक्ति तभी मिलती है, जब देह का नाश हो जाता है. गांधी जी कहते हैं,--" मैं प्रतिक्षण अहिंसा की अमित शक्ति और मनुष्य की अल्पता को अधिकाधिक स्पष्टता से देखता हूं। वन में रहने वाला, अपनी अपरिमित दया के बावजूद भी हिंसा से पूर्ण तथा मुक्त नहीं हो सकता। प्रत्येक श्वास के साथ-साथ वह कुछ न कुछ हिंसा करता है। शरीर स्वयं हिंसा का घर है। इस कारण मोक्ष और नित्य आनन्द शरीर से पूर्ण मुक्ति पाने में ही है।[41]" गांधीजी पुनः कहते हैं,--" जब तक शरीर है तब तक कोई पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता

है, क्योंकि यह आदर्श अवस्था तब तक असंभावित है, जब तक कि अहंकार को जीत नहीं लिया जाता और जब तक मनुष्य पिंड के बन्धनों में जकड़ा है, तब तक अहंकार से छुटकारा नहीं मिल सकता।[42] विदेह मुक्ति देहपात के अनन्तर ही होती है, पर यह सब जीवों को नहीं मिलती, ब्राह्मी स्थिति या स्थितप्रज्ञ की स्थिति मिल जाने पर आदमी मोह में नहीं पड़ता और इस हालत में रहते हुए वह मर जाये, तो ब्रह्म- निर्वाण को मोक्ष पाता है, गांधी जी ने कहा है, --" यदि मेरी कोई प्रबल इच्छा है, तो वह महज़ ईश्वर तक पहुंचना है, सम्भव होतो एक ही छलांग में, और अपने को उसमें तल्लीन कर देना है।[43]" गांधी जी के अनुसार प्रयत्न करने से धीरज के साथ साधना करते रहने से क्रमशः मुक्ति की प्राप्ति सम्भव है, भगवद्गीता में भी कहा गया है कि " लगन से प्रयत्न करता हुआ योगी पाप से छुटकर अनेक जन्मों से विशुद्ध होता हुआ परमगति को पाता है।[44]"

हम लोगों ने देखा है कि गांधी दर्शन का मूल उद्देश्य आत्म-बोध या हिंसा से मुक्ति पाना है, यद्यपि यह व्यक्तिगत चीज लगती है, किन्तु यह व्यक्तिगत लक्ष्य मानव का नहीं हो सकता, मानव एक सामाजिक प्राणी है, गांधी जी ने सर्वमुक्ति की बात कही है, अद्वैत वेदान्त या अन्य भारतीय दर्शन व्यक्तिगत मुक्ति को मानते हैं, महायान बौद्ध सम्प्रदाय की मान्यता है कि बुद्ध ने निर्वाण की देहरी पर यह प्रण किया था कि वह उस निर्वाण से तब तक संसारी प्राणियों के उद्धार के लिए लौटता रहेगा, जब तक कि पृथ्वी पर एक भी ऐसा व्यक्ति है, जो मुक्त नहीं हुआ, महान आत्माएं भी तब तक पूर्ण नहीं होतीं, जब तक अन्य आत्माएं भी वह पूर्णता न प्राप्त कर लें, उन्होंने सर्वमुक्ति की बात कही है, आधुनिक युग के दार्शनिक अरविन्द और राधाकृष्णन ने व्यक्तिगत मुक्ति की बात मानते हुए सामूहिक मुक्ति की परिकल्पना की है, उनका कहना है कि अगर एक भी व्यक्ति बन्धन में हो तो मानव की मुक्ति का कोई अर्थ नहीं है, श्री अरविन्द तो यह भी

मानते हैं कि पूर्ण प्रकृति में मानव की अपूर्णता या मुक्ति सम्भव नहीं है. इस कारण प्रकृति को भी विकास-क्रम में पूर्णता प्राप्त करनी होगी. तब मानव तथा प्रकृति दोनों का विकास होता है और एक ऐसा स्थल आता है, जब पूर्णता की प्राप्ति होती है. श्री अरविन्द तथा राधाकृष्णन् की तरह गांधी जी भी सर्वमुक्ति चाहते हैं. समाज से हटकर, जंगल में तपस्या तथा मठ में निर्वाण की खोज करना गांधी को मान्य नहीं है. जो व्यक्ति अपने भाई-बंधुओं से, समाज से कट कर जाता है, उसका अस्तित्व नहीं के बराबर है. मनुष्य तो समाज का अंग है, उससे विलग नहीं रह सकता. गांधी जी के अनुसार संसार में रहते हुए उसमें कार्य करने और प्राणीमात्र के प्रति प्रेमभाव रखने में सच्ची आध्यात्मिकता है. इसप्रकार महात्मागांधी का जीवन के प्रति जो आध्यात्मिक दृष्टिकोण (मुक्तिमार्ग) है वह उनको समाज-विमुख न बनाकर समाज-सेवक बनाता है.

गांधी जी का विचार है कि यदि एक भी व्यक्ति की आत्मा उन्नत होताहै तो सारे संसार की आत्मा का कुछ-न-कुछ उन्नयन होता है और यदि एक भी व्यक्ति गिरता है तो सारा संसार भी कुछ-न-कुछ गिरता है. ऐसा कोई भी सद्गुण नहीं है, जिसका उद्देश्य किसी किसी व्यक्ति के कल्याण तक सीमित हो और इसके विपरीत ऐसा कोई भी नैतिक अपराध नहीं है, जो प्रत्यक्ष अथवा अप्रत्यक्ष रूप से अपराधी के अतिरिक्त अन्य अनेक लोगों को प्रभावित न करता हो. इसलिए किसी व्यक्ति का अच्छा-बुरा होना उसी की जिम्मेदारी नहीं, सारे समाज बल्कि संसार की जिम्मेदारी है. इससे एक बात और ध्वनित होती है कि सारी मनुष्य जाति ईश्वर से अपना अद्वैत प्राप्त करने की दिशा में बढ़ रही है, और जो एक व्यक्ति पा सकता है, वही समाज का समाज प्राप्त कर सकता है. सब की आत्मा एक है, इसीलिए समान विकास की संभावनायें सब जगह हैं. इस प्रकार गांधी जी का मोक्ष व्यक्तिगत नहीं है. सत्य तो यह है कि ऐसाव्यक्तिगत मोक्ष गांधी जी के लिए असंभव है. सभी जीवों में समानता,

तादात्म्यता एवं एकता अहिंसा के लिए आवश्यक उपाधि है. एक का दोष सारे समाज को प्रभावित करता है, और इस प्रकार मनुष्य हिंसा से मुक्ति नहीं पा सकता. मानव तब तक मुक्ति नहीं पा सकता, जब तक कि एक भी व्यक्ति हिंसा में फंसा हो.

आत्मा के परमात्मा से मिलन को मोक्ष कहा जाता है. गांधी जी शताब्दियों से चली आ रही इस परम्परा को समाप्त करने की प्रतीक्षा करते हैं. आध्यात्मिक जीवन का ध्येय केवल आत्मा का ईश्वर से तादात्म्य होना ही नहीं है, बल्कि सभी जीवों के साथ होना चाहिए. गांधी जी ने आध्यात्मिक तथा व्यावहारिक, शाश्वत तथा अशाश्वत के बीच की खाई को पाटने का प्रयत्न किया है.

-0-

सन्दर्भ

(१) वासांसि जीर्णानि यथा विहाय
नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि ।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही ।।
-- गीता ।२२। पृ०४६

(२) नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः ।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ।।
-- भगवद्गीता ।२३। पृ०४६-४७

(३) तेन्दुलकर, डी०जी० : महात्मा, भाग २, पृ०४२६

(४) वही, पृ० ४२६

(५) दिल्ली डायरी, पृ०२८

(६) जेनेसिस । २७ । और

राधाकृष्णन् : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० १०२

(७) प्रोवर्ब्स , २७ ।

(८) कन्फ़ेशन्स १० ३२ वीं
(९) इंटलेक्चुअल सिस्टम , , ६२
(१०) छान्दोग्य उपनिषद्, ६-२-२ ।

(११) गांधी जी : धर्मनीति, पृ० १६६

(१२) हरिजन, २३-३-४०, पृ० ५५

(१३) "Indeed we frequently find it put forward as a reason against belief in God, who is good that the misery and sin of the world are inconsistent with the idea."
गैलवे : फिलासफी ऑफ़ रिलीजन, पृ० ५२४

(१४) हरिजन, २०-२-३७, पृ० ६

(१५) हिन्दू धर्म , पृ० १२१

(१६) यंग इंडिया, भाग १, पृ० २२५-२६

(१७) हरिजन, ६-६-४६, पृ० १७२

(१८) पन्द्रह अगस्त के बाद, पृ० २८

(१९) हिन्दू धर्म, पृ० ६६

(२०) हिन्दू धर्म, पृ० ६६

(२१) ब्रह्मचर्य, भाग १, पृ० १४१

(२२) गीतामाता, पृ० ५६१-५६२

(२३) बृहदारण्यक, ३ :२, १३

(२४) छांदोग्य ३: १४,१ और

बृहदारण्यक, ४ : ४,५

(२५) ईशोपनिषद्, २

(२६) राधाकृष्णन : धर्म और समाज, पृ० ८३-८४

(२७) गांधी जी : आत्मकथा, भाग१, पृ० ५६३

(२८) गांधी जी : गीतामाता, पृ० १५६

(२९) दि आइडिया आफ इमार्टेलिटी (१९२२), पृ० १९५-१९६

और राधाकृष्णन : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० २९६

(३०) बुद्धिज्म एंड क्रिश्चियनिटी, पृ० ३०६

और राधाकृष्णन : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० २९८

(३१) भागवद्गीता, परिच्छेद २, श्लोक ३०

(३२) कठोपनिषद्, २,१८

(३३) राधाकृष्णन् : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० ३००

(३४) वही, पृ० ३०१

(३५) वही, पृ० ३०२

(३६) वही, पृ० ३०१

(३७) यंग इंडिया, भाग२, पृ० १२०४

(३८) भगवद्गीता २,४४

(३९) <u>हरिजन</u> १८-८-४० और

गांधी जी : <u>सत्य ही ईश्वर है</u>, पृ० १३६

(४०) "And this is why, as Gandhi says a votary of ahimsa always prays for an ultimate deliverance from the bondage of the flesh."

एन्ड्रूज़, सी०एफ०, <u>महात्मागांधीज़ आइडियाज़</u>, पृ० १३८

(४१) गांधी जी : <u>हिन्दू धर्म</u>, पृ० १९५

(४२) गांधी के वाक्य रोनाल्ड डन्कन कृत सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ महात्मागांधी, पृ० २३६

(४३) शुक्ला, चन्द्रशंकर : <u>गांधीज़ व्यू ऑफ लाइफ़</u>, पृ० ६१

(४४) भगवद्गीता, ६।४५

उपसंहार

उपसंहार

गांधी एक धार्मिक दार्शनिक के रूप में

महात्मा गांधी के धर्म-दर्शन की सांगोपांग व्याख्या के उपरान्त हम कह सकते हैं कि उनका आधुनिक धर्म-दार्शनिकों में महत्वपूर्ण स्थान है. कुछ आलोचकों ने उन्हें दार्शनिक मानने से इनकार किया है. वस्तुत: गांधी धर्म-दर्शन के प्रणेता माने जा सकते हैं. यद्यपि उन्होंने किसी वाद का प्रतिपादन नहीं किया, परन्तु उन्होंने धार्मिक पहलुओं का दार्शनिक विवेचना प्रस्तुत की है. गांधी जी कहते हैं कि वे न किसी वाद के प्रवर्तक बनना चाहते हैं, और न किसी नये धर्म के गुरु. उन्होंने अपने को सत्य के एक छोटे से साधक और सत्य के अनुशीलन में लगे हुए एक आतुर अन्वेषक के रूप में माना है. उन्होंने यह कभी दावा नहीं किया कि वे जो बात कह रहे हैं, वही सत्य का अन्तिम स्वरूप है, और न उन्होंने कभी यह कहा कि सत्य के सम्बन्ध में उनका कहना ही अन्तिम निर्णय है. उन्होंने गांधीवाद के रूप में उसकी व्याख्या करने के लिए किसी प्रामाणिक ग्रन्थ की रचना भी नहीं की. यद्यपि जीवनपर्यन्त एक पारदर्शी विचारक, लेखक और धर्मवेत्ता के रूप में न जाने कितने पृष्ठ उन्होंने लिख डाले. गांधी जी की दृष्टि के पीछे स्पष्ट रूप से निश्चित दार्शनिक विचारधारा है. जीवन और जगत तथा मानव-इतिहास को देखने के लिए उनका एक निश्चित दृष्टिकोण है, जिसका ठोस दार्शनिक आधार है. इसी अर्थ में मैंने उनको

एक धार्मिक दार्शनिक माना है.

आधुनिक भारतीय दार्शनिकों ने गांधी को दार्शनिक मानते हुए उनके दर्शन की व्याख्या की है. डा० राधाकृष्णन् ने गांधी को दार्शनिक ही नहीं, वरन् पैगम्बर भी मान लिया. वे कहते हैं, -- " विनष्टप्राय अतीत के एकमात्र प्रतीक थे (गांधी) उस नवीन संसार के पैगम्बर भी हैं, जो पैदा होने के लिए प्रयत्न कर रहा है।" पुन: राधाकृष्णन् कहते हैं, -- " वे (गांधी) उन अवतारों में से हैं, जो मानव जाति के तारक हैं।" डा० राधाकृष्णन् की इन युक्तियों में शायद सत्यांश अंशत: नहीं है. हम सामान्यत: अवतारी मनुष्य को ईश्वर समझ लेते हैं. गांधी ने ईश्वर होने से इन्कार किया, उन्होंने यह भी स्वीकार किया है कि सत्य को छोड़कर उनको ईश्वर कहीं दिखलाई नहीं पड़ा. वे अपने को जीवनमुक्त भी नहीं मानते. उनका मत विदेह मुक्ति है, अत: शायद डा० राधाकृष्णन् की युक्तियों का सरल भाषा में यह अर्थ है कि गांधी का दर्शन भावी संसार का दर्शन हो. यदि यह ठीक है तो इसमें बहुत कुछ सच्चाई है. गांधी का दर्शन दर्शन के सर्वमान्य बुद्धिवादी तत्वों का ही विवेचन और उसपर आचरण करना है. अत: यदि कभी संसार को हिंसा से मुक्ति मिली तो वह गांधी के ऐसे अहिंसक दर्शन को ही अपना कर मुक्त हो सकता है. इस अर्थ में गांधी भावी संसार के ही नहीं, वरन् हिंसा-ग्रस्त संसार के दार्शनिक हैं. डा० रामचन्द्र दत्तात्रेय रानडे ने गांधी को कोरा दार्शनिक ही नहीं, वरन् संत तथा भक्त मानते हुए सिद्ध किया है कि गांधी का धर्म दार्शनिक था और उनका दर्शन धार्मिक था.

सभी महान संतों की भांति गांधी के भी ईश्वर के बारे में अपने विचार हैं, नैतिक तथा आध्यात्मिक गुणों का उनका अपना सिद्धान्त है, उनकी अपनी आत्मा की आवाज तथा सब के ऊपर अपनी आध्यात्मिक

युक्तियाँ हैं. इस कारण डा० रानडे ने ठीक ही कहा है कि ईश्वर विषयक उनके विचार दार्शनिकों के भी अध्ययन के योग्य हैं.[4] अमेरिका के कुछ जिज्ञासुओं को गांधी का दर्शन समझाते हुए धीरेन्द्रमोहन दत्त ने भी महात्मा गांधी का दर्शन नामक एक ग्रन्थ लिखा, जिसमें उन्होंने गांधी के दार्शनिक सिद्धान्तों की तुलना पश्चिम के महान दार्शनिकों के सिद्धान्तों से करते हुए उनके दर्शन की युक्तियुक्त व्याख्या की है. अपने ग्रन्थ भारत का प्रत्ययवादी विचार (आइडियलिस्टिक थाट आफ इण्डिया) में डा० राजू ने भी गांधी के कतिपय दार्शनिक सिद्धान्तों की विवेचना की है. यद्यपि वे गांधी को शास्त्रीय दार्शनिक नहीं मानते.[5]

आधुनिक पाश्चात्य दार्शनिकों में से कई लोगों ने गांधी को सच्चे अर्थ में दार्शनिक माना है एवं उनके एक-दो सिद्धान्तों पर टीका - टिप्पणी करते हुए विवेचन किया है. इनमें से हाकिंग, व्हाइटहेड, जोड तथा एल्डुअस हक्सले मुख्य हैं. लुई फिशर, जौन्स आदि ने भी महात्मा गांधी पर विशेष ढंग से लिखा है.

विद्वानों ने गांधी को धार्मिक दार्शनिक, नैतिक दार्शनिक, सामाजिक दार्शनिक तथा राजनैतिक दार्शनिक के रूप में स्थापित करने की चेष्टा की है. महात्मा गांधी एक तत्वज्ञानी एवं ज्ञान मीमांसक भी थे, किंतु मेरे विचार में महात्मा गांधी की मौलिकता धर्मदर्शन के क्षेत्र में बेजोड़ है. मैंने उन्हें आधुनिक धार्मिक दार्शनिक के रूप में स्थापित करने का प्रयत्न किया है तथा धार्मिक दार्शनिकों के बीच उनका महत्वपूर्ण स्थान स्थापित किया है.

यद्यपि उनके विचारों का दार्शनिक आधार है, तथापि उन्होंने किसी नये प्रकार के दर्शन की रचना नहीं की है. ईश्वर की सत्ता में विश्वास करने वाले भारतीय आस्तिक के ऊपर जिस प्रकार के दार्शनिक अपनी छाप डालते हैं, वैसी ही छाप गांधी जी के विचारों पर पड़ी है. वे भारत के

मूलभूत कुछ दार्शनिक तत्वों में अपनी आस्था प्रकट करके अग्रसर होते हैं और उसी से उनकी सारी विचारधारा प्रवाहित होती है. किसी गम्भीर रहस्यवाद में न पड़कर वे यह मान लेते हैं कि शिवमय, सत्यमय, सुन्दरमय ईश्वर सृष्टि का मूल है और उसने सृष्टि की रचना किसी प्रयोजन से की है. गांधी जी ऐसे देश में पैदा हुए, जिसने चैतन्य आत्मा को अक्षुण्ण और अमर सत्ता स्वीकार की है. वे उस देश में पैदा हुए, जिसमें जीवन, जगत्, सृष्टि और प्रकृति के मूल में एकमात्र अनीश्वर चेतना का दर्शन किया गया है और सारी सृष्टि की प्रक्रिया को भी सप्रयोजन स्वीकार किया गया है. गांधी जी ने यद्यपि इस प्रकार के दर्शन की कोई व्याख्या अथवा उसकी गूढ़ता के विषय में कहीं एक स्थान पर विशुद्ध और व्यवस्थित रूप से कुछ लिखा नहीं है, पर जीवनपर्यन्त लिखते रहने वाले गांधी जी के विचारों का अध्ययन करने पर उनकी उपर्युक्त दृष्टि का आभास मिल जाता है.

धर्म दर्शन को गांधी की देन

धर्मदर्शन में गांधी की मौलिक देन का जहाँ तक प्रश्न है, गांधी जी स्वयं कहते हैं,--" मैं कोई नया सत्य प्रदर्शित नहीं करता । मैं सत्य को जिस रूप में जानता हूं, उस रूप में उसका पालन करने और उस पर प्रकाश डालने का प्रयास करता हूं । मैं बहुत पुराने सत्यों पर नया प्रकाश डालने का दावा अवश्य करता हूं "[6] गांधी जी के पहले अहिंसा ऋषियों और सन्यासियों की विशेषता मानी जाती थी. अहिंसा में अभी की वह परिपूर्णता, प्रयोग की वह व्यापकता और वह उत्कृष्ट प्रभावशालता न थी, जो गांधी जी के निरन्तर प्रयास के फलस्वरूप आज उसे प्राप्त है. गांधी जी ने यह दिखाया है कि अहिंसा का उपयोग जीवन की प्रत्येक परिस्थिति में हो सकता है. उन्होंने आज के परिवर्तित जीवन के शब्दों में अहिंसा की नई

व्याख्या की है. उनके दर्शन में अहिंसा का विकास हुआ है और उसे नवजीवन मिला है. जहाँ तक मानव जाति का रक्षा और विकास-जीवन के नियम का अहिंसा पर आधारित होने का सम्बन्ध है, सामाजिक और राजनैतिक दर्शन के लिए आधुनिक संसार में अहिंसा के अधिकतम प्रामाणिक व्याख्याता गांधी जी की देन जितनी बहुमूल्य है, उतनी अन्य किसी विचारक की नहीं.

मेरे विचार में महात्मा गांधी का धर्म-दर्शन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण योगदान है. सर्वप्रथम उनका धर्म ईश्वरवादी मात्र नहीं है, जिसमें ईश्वर की सत्ता मान ली जाती है तथा मानव को ईश्वर पर निर्भर मात्र बताया जाता है. ईसाई मत ईश्वरवादी है. परन्तु गांधी का धर्म नैतिक धर्म है. इस तरह नैतिकता को धर्म से परे या उसमें अन्तर्निहित मात्र नहीं बताकर बल्कि उन्होंने धर्म को नैतिक धर्म कहा है. उनके अनुसार नैतिकता से बढ़कर कोई धर्म नाम की चीज़ नहीं है.

सत्य का अर्थ सामान्यतः सच बोलना ही समझा जाता है, किन्तु गांधी जी ने सत्य शब्द का प्रयोग बृहद् अर्थ में किया है. विचार में, वाणी में, और आचार में सत्य को जो सम्पूर्णतया समझ लेता है, उसे जगत् में दूसरा कुछ भी जानने को नहीं रहता, क्योंकि सारा ज्ञान उसी में समाया हुआ है. और जो उसमें न समाये वह सत्य नहीं है, ज्ञान भी नहीं है. गांधी जी कहते हैं कि सत्य के लिए यदि हमें किसी का विरोध करना पड़े तब भी सत्य को नहीं छोड़ना चाहिए. जिसने उस सत्य को जान लिया उसके लिए और कुछ जानना बाकी नहीं रह जाता. सत्य में प्रेम की प्राप्ति होती है, सत्य में मृदुता मिलती है. सत्य से ही धर्म बढ़ता है.

गांधी जी ने एक नया वाक्य ईश्वर सत्य है की जगह सत्य ही ईश्वर दिया है. गांधी जी कहते हैं कि ईश्वर ही सत्य है, ऐसा

कहने में एक दोष उत्पन्न होता है कि ईश्वर और कुछ भी है, किन्तु सत्य ही ईश्वर है, ऐसा कहने में दूसरे सब नाम छूट जाते हैं, केवल सत्य का ही ध्यान रहता है. गांधी जी ने सत्य को ही ईश्वर माना है और साथ ही सत्य को अहिंसा से भी सम्बन्धित बताया है. गांधी जी के अनुसार ईश्वर धार्मिक प्रत्यय है, परन्तु सत्य मूलत: नैतिक प्रत्यय है. इस तरह अनीश्वर - वादियों को भी गांधी जी ने धार्मिक क्षेत्र में रखा है, जो नैतिकता को मानते हैं. इस प्रकार उनका वाक्य सत्य ही ईश्वर है, एक मौलिक देन है.

गांधी जी ने धर्म को सरलरूप में सर्वसाधारण के सामने रखने की चेष्टा की है. मनुष्य का स्वार्थ धर्म के साथ मिलकर धर्म को कलुषित बना देता है. गांधी जी ने धर्म के बाह्य आडम्बर का परित्याग कर उसके सार तत्व को समझने पर बल दिया है. गांधी जी धर्म के कलुषित रूप एवं उससे समाज की हानि के प्रति सजग हैं. इस कारण गांधी जी ने धर्म का आधार नैतिकता को माना है. गांधी जी का ऐसा मत है कि जो धर्म नैतिकता से विरक्त और व्यावहारिकता से परे है, उसे धर्म की उपाधि नहीं दी जा सकती. धार्मिक मनुष्य के प्रत्येक कर्म का स्रोत उसका धर्म होता है. धर्म का अर्थ ईश्वर के साथ बन्धन है. इस प्रकार गांधी-दर्शन का केन्द्र-बिन्दु धर्म-विचार है. साधारण तया लोग धर्म का अर्थ ईसाई धर्म, हिन्दू धर्म आदि धर्मों से मानते हैं, किन्तु गांधी ने धर्म का अर्थ हिन्दू धर्म, ईसाई धर्म या इस्लाम से नहीं, वरन् उसे एक वृहद् अर्थ में लिया है. उनके अनुसार धर्म अपने से परे प्रतीक एवं आध्यात्मिक शक्ति में विश्वास है. उनका धर्म सम्बन्धी विचार साम्प्रदायिकता या संकीर्णता से ऊपर उठा हुआ है. गांधी जी ने धर्म को मात्र वेद, उपनिषद्, गीता एवं धर्मग्रन्थों का अध्ययन नहीं माना है. धर्म का मतलब नहीं है कि सिर्फ परमार्थ की ओर अग्रसर हो और जगत

को मिथ्या करार दे. गांधी जी के अनुसार धर्म का अर्थ विश्व से अलग होना नहीं है. गांधी का धर्म आत्मा तथा ईश्वर का विज्ञान है. धर्म का अर्थ है मानव का उसके रचयिता के साथ समीकरण स्थापित करना, धर्म का अर्थ आत्मा तथा परमात्मा को पहिचानना, अनुभव करना, ईश्वर का साक्षात्कार करना है. यह मानव का मानव से सम्बन्ध तथा मानव का ईश्वर से तादात्म्य स्थापित करता है. गांधी जी के अनुसार धर्म वह रीति या नियम है, जो विश्व को संचालित एवं धारण करता है. गांधी जी के अनुसार धर्म को जानने के लिए ऊंची शिक्षा प्राप्त करना या बड़े-बड़े धर्म-ग्रन्थों का अध्ययन करना अनिवार्य नहीं है, जैसा कि लोग समझते हैं. गांधी जी के अनुसार जिस समय जैसा हृदय कहे, वही उस समय का धर्म है. हर व्यक्ति को जो चीज हृदयगम्य हो गई है, वह उसके लिए धर्म है. धर्म बुद्धिगम्य वस्तु नहीं है, हृदयगम्य है. इसलिए धर्म मूर्ख लोगों के लिए भी है.

देह और आत्मा के सम्बन्ध में गांधी जी का कहना है कि प्रत्येक देह का आधार आत्मा है. देह तो अनेक होते हैं, पर उन सब का आत्मा एक ही है. गांधी जी ने आत्मा को अमर तथा देह को नाशवान बताया है. आत्मा का न मृत्यु होता है और न वियोग, फिर भी दोनों में घनिष्ठ सम्बन्ध है. गांधी जी अपनी आत्मा के अस्तित्व का सम्पूर्ण ज्ञान सामाजिक कार्य करते-करते जानते थे. यह उनके दर्शन की अपनी विशेषता है.

गांधी जी ने कर्म के नियम को नैतिक धारावाहिकता का नियम या नैतिक कारणत्व का नियम कहा है. यह मनुष्य के विकास को अनुशासित करने वाला नियम है. गांधी जी ने निष्काम भाव से कर्म करने पर जोर दिया है. उनके अनुसार कर्म करने का यदि कोई प्रयोजन है तो वह आत्मशुद्धि, लोकसंग्रह एवं ईश्वर भक्ति ही है. कर्मों में निकृष्टता, श्रेष्ठता नहीं होती. सब कर्म बराबर होते हैं. यह नहीं सोचना चाहिए कि अमुक कर्म

आत्म-शुद्धि के लिए तो अमुक लोक-संग्रह के लिए है. सभी कर्म दोनों प्रयोजनों से किए जाने चाहिए. इनमें से किसी प्रयोजन को छोड़ देने से सच्ची निष्कामता, सच्ची अनासक्ति नहीं आयेगी. गांधी जी के अनुसार मनुष्य को वर्णाश्रम धर्म, रचनात्मक कार्यक्रम और सत्याग्रह आन्दोलन-- ये कर्म करना चाहिए. हिन्दू धर्म के चार वर्णों को गांधी जी ने माना है. उनके अनुसार प्रत्येक व्यक्ति का कर्तव्य है कि वह अपना वर्णीय पेशा करे. इसका यह अर्थ नहीं है कि गांधी जाति-पांति को मानते थे. वे तो उसको समूल नाश करने के पक्ष में थे. कर्म से कोई जाति नहीं बन सकता. कर्म से कोई छोटा या बड़ा नहीं हो सकता. इसी प्रकार गांधी जी ने ब्रह्मचर्य, गृहस्थ, वानप्रस्थ और सन्यास इन चार आश्रमों को माना है. गृहस्थ के लिए उन्होंने अनिवार्य नित्य कर्म दिया, जैसे चर्खा यज्ञ. वानप्रस्थ आश्रम उन लोगों के लिए है, जो गृहस्थ आश्रम छोड़कर ब्रह्म की खोज में जंगल जाया करते थे. गांधी जी ने इसको नया रूप दिया. उन्होंने ब्रह्म की खोज में गृहस्थ आश्रम को छोड़कर समाज में रहकर सामाजिक और राष्ट्रीय कर्म करने की व्यवस्था की. सन्यास आश्रम को भी गांधी जी ने नया अर्थ दिया. वे वेशभूषा, दण्ड-कमण्डल को सन्यास का अंग नहीं मानते. सन्यासी वह है, जो पूर्ण अनासक्त है, निष्काम है, तथापि अपना नित्यकर्म करता है. उसका ध्यान सदा ब्रह्म पर रहता है. समाज और राष्ट्र की सेवा के लिए गांधी जी ने रचनात्मक कार्यक्रम को देश के सामने रखा. इस प्रकार उनके कर्म मार्ग का आवश्यक अंग समाज-सेवा है.

अशुभ की समस्या के बारे में भी गांधी की अपनी मौलिकता है. हिंसा को उन्होंने अशुभ माना है, अहिंसा को शुभ माना है. हिंसा ही बन्धन का कारण है और हिंसा से मुक्ति ही मोक्ष है.

मोक्ष को गांधी जी सत्य-प्राप्ति, अहिंसा-प्राप्ति, ईश्वर-दर्शन, हरि-दर्शन, आत्मज्ञान, आत्म-साक्षात्कार, परमपद कहते हैं. गांधीजी

एक नये युग में अवतरित हुए हैं. उन्होंने मोक्ष का अर्थ पाप, अविद्या या दुःख या अज्ञान के अर्थ में न लेकर अन्याय या बुराई जो हिंसा के रूप में है, उससे मुक्ति के अर्थ में लिया है. उनके अनुसार मानव का मोक्ष हिंसा से मुक्ति पाना है. जब व्यक्ति हिंसा से मुक्ति पाता है, तब सत्य का बोध होता है. मोक्ष प्राप्ति का ही दूसरा नाम गांधी जी सत्य की खोज करना समझते हैं. गांधी जी ने जीवन्मुक्ति को सम्भव नहीं माना है. उनके अनुसार जब तक देह है, तब तक मुक्ति की प्राप्ति नहीं हो सकती. वे विदेहमुक्ति के सिद्धान्त को मानते हैं. मुक्ति तभी मिलती है, जब देह का नाश हो जाता है. क्योंकि जब तक शरीर है, तब तक कोई पूर्णता को प्राप्त नहीं कर सकता, क्योंकि यह आदर्श अवस्था तब तक असम्भावित है, जब तक कि अहंकार को जीत नहीं लिया जाता और जब तक मनुष्य पिण्ड के बन्धनों में जकड़ा है, तब तक अहंकार से छुटकारा नहीं मिल सकता. इस प्रकार गांधी-दर्शन का मूल उद्देश्य आत्मबोध या हिंसा से मुक्ति पाना है.

गांधी का मोक्ष-विचार आधुनिक भारतीय दार्शनिक श्री अरविन्द तथा राधाकृष्णन् के विचारों से बहुत मेल खाता है. शंकराचार्य एवं अन्य प्राचीन भारतीय दार्शनिकों ने मोक्ष के सन्दर्भ में व्यक्तिवादी विचार प्रस्तुत किया है. इसका तात्पर्य यह है कि एक व्यक्ति अपने प्रयासों के द्वारा या ईश्वर की कृपा के कारण मोक्ष पा सकता है, परन्तु श्री अरविन्द एवं राधाकृष्णन् की तरह गांधी भी इस बात को मानते हैं कि यदि एक भी व्यक्ति पृथ्वी पर बन्धन में है तो मोक्ष का अर्थ ही कुछ नहीं है. मानव-समुदाय की मुक्ति की बात गांधी ने कही है. सर्वमुक्ति गांधी-दर्शन की बहुत ही अमूल्य देन है.

शंकराचार्य निर्गुण ब्रह्म को ही एकमात्र सत्य मानते हैं. सगुण ब्रह्म को शंकराचार्य ने ईश्वर बताया, परन्तु उसकी स्वतन्त्र सत्ता नहीं बताई है. रामानुज का ब्रह्म सगुण है. उनका ब्रह्म उपासना का विषय है तथा

गुणों से युक्त है. इसमें ज्ञान, ऐश्वर्य, बल, शक्ति तथा तेज आदि गुण हैं. महात्मा गांधी ने शंकराचार्य के निर्गुण ब्रह्म तथा रामानुज के सगुण ब्रह्म में एक प्रकार से समन्वय स्थापित किया. ईश्वर को उन्होंने सर्वव्यापी तथा अनुभवगम्य माना है. विश्व को शंकराचार्य की तरह माया गांधी ने नहीं बताया, बल्कि भारतीय आधुनिक दार्शनिक श्री अरविन्द, टैगोर तथा राधाकृष्णन् की तरह मायावाद को नकारा और विश्व को सत्य बताई.

कुछ आलोचकों का मत है कि गांधी ने वेद, उपनिषद् तथा गीता और रामायण की ही बातों को सरलरूप में प्रस्तुत किया है. उनकी अपनी मौलिक देन धर्म-दर्शन, समाज-दर्शन या राजनीति-दर्शन में कुछ भी नहीं है. मैं उन आलोचकों की बात मान लेता हूं कि गांधी ने नये प्रत्ययों की कल्पना एवं नये सिद्धान्तों की सर्जना नहीं की है. मौलिकता का अर्थ नूतन प्रत्ययों को गढ़ने और सिद्धान्तों को प्रस्तुत करने मात्र में नहीं है, बल्कि किसी भी प्रत्यय एवं सिद्धांत को व्यावहारिक रूप देने में भी मौलिकता है. गांधी ने सत्य, अहिंसा और सत्याग्रह जैसे प्राचीन प्रत्ययों को एक नया व्यावहारिक अर्थ दिया. गांधी को व्यावहारिक दार्शनिक भी माना जा सकता है. फिर उनका आदर्शवाद कोरा आदर्श एवं सिद्धान्त नहीं है, बल्कि जीवन के व्यावहारिक पक्षों से जुड़ा हुआ दर्शन है.

इस प्रकार हम कह सकते हैं कि महात्मा गांधी का धर्म-दर्शन सर्वांगीण दृष्टि प्रस्तुत करता है. बुद्धि और अन्तः अनुभूति, सगुण और निर्गुण ब्रह्म, विश्व तथा ईश्वर में समन्वय स्थापित करके महात्मा गांधी ने एक सर्वांगीण दर्शन प्रस्तुत किया है. धर्म को व्यक्तिगत अनुभूति न मानकर लोक-कल्याण एवं समाज-कल्याण से युक्त किया.

-0-

सहायक ग्रन्थ-सूची

सहायक ग्रन्थ-सूची

गांधी द्वारा लिखित पुस्तकें

(१) गांधी, महात्मा : प्रार्थना प्रवचन, भाग१ और २, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली.

(२) ,, : गीतामाता, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली.

(३) ,, : पन्द्रह अगस्त के बाद , सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली

(४) ,, : धर्मनीति, सस्ता साहित्य मंडल.

(५) ,, : दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह का इतिहास, सस्ता साहित्य मण्डल.

(६) ,, : मेरे समकालीन , सस्ता साहित्य मण्डल, दिल्ली

(७) ,, : आत्मकथा, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

(८) ,, : हिन्दू धर्म, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद

(९) ,, : रामनाम, नवजीवन प्रकाशन मंदिर

(१०) ,, : सत्य ही ईश्वर है, नवजीवन प्रकाशन मंदिर.

(११) ,, : मेरा ईश्वर, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद

(१२) ,, : मेरा धर्म, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद

(१३) ,, : बापू के पत्र मीरा के नाम, नवजीवन प्रकाशन मंदिर

(१४) गांधी, महात्मा : क्रिश्चियन मिशन, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद.

(१५) ,, : नीति:धर्म:दर्शन, उत्तरप्रदेश गांधी-स्मारक-निधि, सेवापुरी, वाराणसी, १९६८

(१६) ,, : एन आटोबायग्राफी ऑर दि स्टोरी ऑफ माइ एक्सपेरिमेण्ट्स विद ट्रुथ, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद । १९५८.

(१७) ,, : फ्राम यरवदा मन्दिर, नवजीवन, अहमदाबाद, १९४५

(१८) ,, : ऑल मैन आर ब्रदर्स, लाइफ एण्ड थॉट ऑफ महात्मा गांधी एज टोल्ड इन हिज़ ओन वर्ड्स नवजीवन, अहमदाबाद, १९६० ।

(१९) ,, : दि कलेक्टेड वर्क्स ऑफ महात्मागांधी, दि पब्लिशिंग डिवीजन, गवर्नमेण्ट आफ इंडिया

(२०) ,, : आश्रम आब्जरवेंसेज इन एक्शन, नवजीवन, अहमदाबाद, १९५५.

(२१) ,, : देहली डायरी, नवजीवन, अहमदाबाद, १९४८

(२२) ,, : डिस्कोर्सेज ऑन दि गीता, नवजीवन, अहमदाबाद १९६०

(२३) ,, : माइ नॉन-वायलेन्स, नवजीवन, अहमदाबाद, १९६०

(२४) ,, : दि अनसीन पावर, नवजीवन, अहमदाबाद

(२५) ,, : कंटमप्रेरी इंडियन फिलासफी, एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, १९५२.

(२६) ,, : ऑल रिलीजन्स आर ट्रू, भारतीय विद्या भवन बम्बई, १९६२.

(२७) गांधी, महात्मा : इन सर्च ऑफ दि सुप्रीम, ३ भाग, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद

(२८) ,, : कंक्वेस्ट ऑफ सेल्फ, ठेकर, बम्बई, १९४६

(२९) ,, : एथिकल रिलीजन, एस० गणेशन, मद्रास, १९३०

गांधी पर लिखित पुस्तकें

(३०) अग्रवाल, श्रीमन्नारायण : दि गांधियन प्लान, नवजीवन प्रकाशन मंदिर, अहमदाबाद

(३१) ,, : आश्रम भजनावलि (हिन्दी) नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, १९६१.

(३२) आलपोर्ट, जी० डब्ल्यू० : दि इनडिविजुअल एंड हिज़ रिलीजन, दि मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, १९३०.

(३३) इमरसन, आर० डब्ल्यू० : एसेज़ (फर्स्ट एण्ड सेकण्ड सिरीज़), १९५० ऑक्सफोर्ड (दि वर्ल्ड्स क्लासिक्स), १९५०

(३४) ईटन, जीनीटा : गांधी फाइटर विदाउट ए स्वोर्ड, न्यूयार्क, १९५०

(३५) एडवर्ड, डी० एम० : फिलासफी ऑफ रिलीजन, प्रोग्रेसिव पब्लिशर्स, कलकत्ता १९५३

(३६) एण्ड्रूज़, सी० एफ० : महात्मा गांधीज़ आइडियाज़, दि मैकमिलन कम्पनी, न्यूयार्क, १९३० ।

(३७) ,, : महात्मा गांधी : हिज़ ओन स्टोरी, एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, १९३०.

(३८) ,, : महात्मा गांधी एट वर्क, एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, १९३१.

(३९) एथाले, डी० बी० : लाइफ ऑफ महात्मागांधी, स्वदेशी पब्लिशिंग कम्पनी, पूना, १९२३.

(४०) कैटलिन, जार्ज : इन दि पाथ ऑफ महात्मागांधी, मैकडोनाल्ड, लन्दन, १९४८.

(४१) कैयर्ड, एडवर्ड : इण्ट्रोडक्शन टू द फिलासफी ऑफ रिलीजन
जेम्स, ग्लासगो, १९२०.

(४२) कमिन्ग, सेवसे एंड लिन्सकाट, राबर्ट एन० (संपादक) : दि वर्ल्डस ग्रेट थिंकर्स मैन एंड दि स्टेट : दि पॉलिटिकल फिलासफर्स
रैनडम हाउस, न्यूयार्क, १९४७.

(४४) कृपलानी, जे०बी० : गांधियन थॉट, गांधी स्मारक निधि, नई दिल्ली,
१९४९.

(४५) ,, : दि गांधियन वे, वोरा एण्ड कंपनी, बम्बई, १९४५

(४६) कृपलानी, के०आर० : गांधी, टैगोर एण्ड नेहरू, हिन्द किताब्स, बम्बई
१९४७

(४७) कृष्णमूर्ति, वाय०जी० : गांधीज्म विल सरवाइव, पुस्तक भंडार, पटना,
१९४९

(४८) कृष्णदास : सेवन मन्थ्स विद महात्मा गांधी, २ भाग,
एस०गणेशन, मद्रास, १९२८, बिहार, १९५८

(४९) कालेलकर काका : गांधी जी का जीवन दर्शन, नवजीवन प्रकाशन
मन्दिर, अहमदाबाद, १९७०

(५०) कीथ, आर्थर बेरीडेल, अनुवादक सूर्यकान्त : वैदिक धर्म एवं दर्शन,
प्रकाशक मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, वाराणसी,
पटना. १९६३

(५१) किंग, विन्सटन एल० : बुद्धिज्म एण्ड क्रिश्चियनिटि सम ब्रिजेस आफ अण्डरस्टैंडिंग, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड,
लन्दन, १९६३.

(५२) गैंगल, एस०सी० : दि गांधियन वे टू वर्ल्ड पीस, वोरा एंड कंपनी,
बम्बई, १९६०.

(५३) गोरा : एन एथीस्ट विद गांधी, नवजीवन, अहमदाबाद
१९५१.

(५४) गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया : गांधीयन आउटलुक एंड टैकनिक्स, मिनिस्ट्री आफ एजुकेशन, दिल्ली, १९५३.

(५५) गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया : कॉरसपोण्डेन्स विद् मिस्टर गांधी, नई दिल्ली, १६४४

(५६) गुप्ता, रामचन्द्र : गांधियन फिलासफी ए मैरोज़, गुप्ता पब्लिशिंग हाउस, आगरा, १६५८

(५७) गुप्त, गौरीशंकर : बापू और उनकी दिनचर्या, राष्ट्रपिता प्रकाशन, वाराणसी

(५८) गेलवे : दि फिलासफी आफ रिलाजन, टी० एण्ड टी० क्लर्क, ३८, जार्ज स्ट्रीट, एडिनबर्ग, १६१४, १६५६.

(५६) घोष, प्रफुल्लचन्द्र : महात्मा गांधी, मित्र प्रकाशन, प्राइवेट लिमिटेड, इलाहाबाद.

(६०) घोष, पी०सी० : महात्मा गांधी, एज आइ सॉ हिम, एस० चन्द एण्ड कम्पनी, रामनगर, नई दिल्ली, १६६८.

(६१) चन्दर, जगपरवेश (संपादक) : टीचिंग्स आफ महात्मा गांधी, इण्डियन प्रिंटिंग वर्क्स, लाहौर, १६४५

(६२) चक्रवर्ती, अमिया : महात्मा गांधी एंड दि माडर्न वर्ल्ड, बुक हाउस, कलकत्ता, १६४५.

(६३) चटर्जी, एस० एण्ड दत्ता, डी० : एन इण्ट्रोडक्शन टू इंडियन फिलासफी, यूनिवर्सिटी ऑफ कलकत्ता, १६५०

(६४) चौधरी, रामनारायण : बापू एज आइ सॉ हिम, नवजीवन प्रकाशन मन्दिर, अहमदाबाद, १६५६

(६५) जार्ज, एस० के० : गांधीज़ चैलेन्ज टू क्रिश्चयनिटी, एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, १६३६.

(६६) जोन्स, ई०स्टेनले : महात्मागांधी : एन इन्टरप्रिटेशन, हॉडर एण्ड स्टॉफटन, लन्दन, १९४८.

(६७) जोन्स, एम०ई० : गांधी लिव्ज़, फिलेडेलफिया, डेविड मैके कंपनी, १९४८.

(६८) जोशी, गोपद (संपादक), अनुवादक शाहने एम०डी० : महात्मा बापू, थेकर एंड कम्पनी लिमिटेड, बम्बई, १९६८

(६९) जैन, दर्शनाचार्य गुलाबचन्द्र (प्रकाशक) : १ बापू सूरज के दोस्त २ बापू की दस अंगुलियां, मदनमहल जनरल स्टोर्स, राइट टाउन जबलपुर.

(७०) जेम्स, विलियम : ह्यूमन इमारटेलिटी, बोस्टन हाउफ़टन, मिफिन एण्ड कम्पनी, १८९८.

(७१) टैगोर, रवीन्द्रनाथ : महात्मा जी एण्ड दि डिप्रेस्ड ह्यूमेनिटी, विश्व भारती, कलकत्ता, १९३०

(७२) टामस, हैनरी तथा टामस, डी०एल० : लिविंग बायग्राफीज़ ऑफ़ रिलीजस लीडर्स, पर्मा ब्याइण्ट्स प्रकाशन, न्यूयार्क.

(७३) डायरी ऑफ़ महादेव देसाई, भाग १ और २, नवजीवन, अहमदाबाद १९५३

(७४) डोक, जोसेफ़ जे० : एम०के० गांधी, ए०बी० सर्वसेवा संघ, वाराणसी, १९५९.

(७५) डनकन, रोनेल्ड (सेलेक्टेड एण्ड इण्ट्रोड्यूज़्ड बाय) : सेलेक्टेड राइटिंग्स ऑफ़ महात्मागांधी, फेबर एंड फेबर लिमिटेड, लन्दन.

(७६) तेन्दुलकर, डी०जी० : महात्मा लाइफ ऑफ़ मोहनदास करमचन्द गांधी, भाग १८, बम्बई १९५१-१९५४, दिल्ली १९६०-१९६३

(७७) दत्ता, डी०एम० : दि फिलासफी ऑफ़ महात्मा गांधी
यूनिवर्सिटी ऑफ़ कलकत्ता, १९६८

(७८) देसाई, महादेव : दि गास्पेल ऑफ़ सेल्फलेस एक्शन ऑर दि गीता
एकार्डिंग टू गांधी, नवजीवन, अहमदाबाद, १९५६

(७९) दिवाकर, आर०आर० : गांधीजीज़ लाइफ़, थॉट एण्ड फिलासफी,
भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६३.

(८०) डा०देवराज : संस्कृति का दार्शनिक विवेचन, प्रकाशन ब्यूरो,
सूचना विभाग, उत्तरप्रदेश, १९५७.

(८१) देसाई, महादेव : दि गीता एकार्डिंग टू गांधी

(८२) धावन, गोपीनाथ : सर्वोदय तत्व दर्शन, नवजीवन प्रकाशन मंदिर
अहमदाबाद

(८३) धेवर, यू०एन० : गांधियन थॉट, कुरुक्षेत्र युनिवर्सिटी, कुरुक्षेत्र

(८४) धावन, जी०एन० : दि पॉलीटिकल फिलासफी ऑफ़ महात्मागांधी
दि पापुलर बुक डिपो, बम्बई, १९४६

(८५) नाग, डा०कालीदास : गांधी एण्ड टाल्सटाय, पुस्तक भंडार, पटना, १९५०

(८६) नंदा, बी०आर० : महात्मागांधी, ए बिबलियोग्राफी, जार्ज एलेन
एण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन, १९५९.

(८७) नेहरू, जवाहरलाल : फ्रीडम फ्राम फियर, गांधी स्मारक निधि,
नई दिल्ली, १९६०.

(८८) नेहरू जवाहरलाल : महात्मागांधी, सिगनेट प्रेस, कलकत्ता, १९४९

(८९) निकम, एन०के० : गांधीज डिस्कवरी ऑफ रिलीजन: ए फिलासाफिकल स्टडी, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९६३

(९०) पटेल, एम०एस० : दि एजुकेशन फिलासफी ऑफ महात्मा गांधी, नवजीवन, अहमदाबाद, १९५६.

(९१) पोलक, एच०एस०एल० ब्रेल्सफोर्ड, एच०एन०लारेन्स, लार्ड पेथिक : महात्मागांधी ओधम्स प्रेस लिमिटेड, लन्दन, १९४९.

(९२) पोलक, मिली ग्रहम : मि० गांधी, द मैन, वोरा एण्ड कंपनी, बम्बई १९४९, लन्दन, १९३१.

(९३) पावर, पाल एफ० : गांधी ऑन वर्ल्ड एफेयर्स, दि पेरिनमियल प्रेस बम्बई, १९६१.

(९४) प्रभु, आर०के० यू०आर०राव (संग्राहक) : दि माइण्ड ऑफ महात्मा गांधी, आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, बम्बई, १९४५.

(९५) प्रसाद, महादेव : सोशल फिलासफी ऑफ महात्मागांधी, विश्वविद्यालय प्रकाशन, गोरखपुर, १९५८.

(९६) प्रसाद, राजेन्द्र : लीगेसी ऑफ गांधी जी, शिवलाल अग्रवाल एण्ड

(९७) प्रसाद, डा० राजेन्द्र : रानडे का दर्शन, दर्शन परिषद्, इलाहाबाद विश्वविद्यालय, १९५८.

(९८) प्यारेलाल : महात्मागांधी, दि लास्ट फेज़, दो भाग, नवजीवन, अहमदाबाद, १९५६.

(९९) प्यारेलाल : गांधियन टेकनिक्स इन दि माडर्न वर्ल्ड, नवजीवन, अहमदाबाद, १९५३.

(१००) प्यारेलाल : थोरो, टालस्टाय एण्ड गांधी, बेनसन, कलकत्ता, १९५८

(१०१) प्रिंगल पेटीसन, ए० सेथ : दि आइडिया ऑफ गाड, आक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस, न्यूयार्क, १९२०

(१०२) पाण्डेय, संगमलाल : गांधी का दर्शन, गर्ग ब्रदर्स, पो०ना० ६६, १ कटरा रोड, प्रयाग, १९५७.

(१०३) पैटरसन, आर०एल० : एन इण्ट्रोडक्शन टु द फिलासफी आॅफ रिलीजन हेनरी हाल्ट एण्ड कम्पनी, न्यूयार्क, १९५८

(१०४) पैरिन्डर, जिओफ्फरे : उपनिषद् गीता एण्ड बाइबिल, फेबर व एण्ड फेबर, लन्दन, १९६२.

(१०५) बोस, एन०के० : सेलेक्शन्स फ्राम गांधी, नवजीवन, अहमदाबाद, १९४८

(१०६) बोस, आर०एन० : गांधियन टेकनीक एण्ड ट्रेडीशन, रिसर्च डिवीजन, आॅल इंडिया इन्स्टिट्यूट आॅफ सोशल वेलफेयर एण्ड बिजनेस मैनेजमेण्ट, कलकत्ता

(१०७) बार, एफ०मरे : कनवरसेशन एंड करेसपोण्डेन्स विद महात्मागांधी बम्बई, १९४९

(१०८) बोस, एन०के० : स्टडीज इन गांधीज्म, इंडियन एसो पब्लिशिंग लिमिटेड, कलकत्ता, १९४७

(१०९) बोस, एन०के० : माइ डेज विद गांधी, निशाना, कलकत्ता, १९५३

(११०) ब्राइटमैन, ई०एस० : ए फिलासफी आॅफ रिलीजन, ऐंगलवुड क्लिफ न्यूजर्सी / प्रेन्टिस हाल एण्ड सन लिमिटेड, लन्दन, न्यूयार्क, विएना

(१११) बिड़ला, घनश्यामदास : बापू, सस्ता साहित्य मंडल, नई दिल्ली, १९४०

(११२) भट्ट, मोहनलाल (संपादक) : गांधी ग्रन्थमाला, राष्ट्रभाषा प्रचार समिति वर्धा

(११३) मलिक, बा०के० : गांधी-ए-प्रोफेसी हिन्द किताब लिमिटेड
बम्बई, १९४८

(११४) मालवीय, उमेश्वरप्रसाद : पाश्चात्य दर्शन का संक्षिप्त इतिहास,
रामनारायणलाल बेनीमाधव, प्रकाशक तथा
पुस्तकविक्रेता, इलाहाबाद-२, १९६१

(११५) मुंशी, के०एम० एण्ड दिवाकर, आर०आर०(जनरल एडीटर्स) :
राधाकृष्णन रीडर एन एन्थालाजी, भारतीय विद्या भवन
चौपाटी, बम्बई, १९६९

(११६). मशरूवाला, किशोरलाल : प्रेक्टीकल नायलेन्स, नवजीवन प्रकाशन,
अहमदाबाद

(११७) मोहनराव, यू०एस० : महात्मा गांधी का संदेश, प्रकाशन विभाग,
सूचना और प्रसारण मंत्रालय, भारत सरकार
१९६९.

(११८) मैत्रा, एस०के० : दि एथिक्स ऑफ हिन्दूज़, युनिवर्सिटी आफ
कलकत्ता, १९५६.

(११९) मैकटेगार्ट, जे०एम०ई० : सम डॉगमाज़ ऑफ रिलीज़न, एडवर्ड अर्नोल्ड
लन्दन, १९०६.

(१२०) मुकर्जी, हिरेन : गांधी जी, ए स्टडी, प्युपिल पब्लिशिंग हाउस
नई दिल्ली, १९६०.

(१२१) मिश्र, बलदेवप्रसाद : गांधी गाथा, रविशंकर, विश्वविद्यालय, रायपुर
१९६९.

(१२२) मीरा बहन(संग्राहक) : गांधी विचार सार, नवजीवन प्रकाशन मंदिर
अहमदाबाद, १९५२.

(१२३) यशपाल : शोषक श्रेणी के प्रपंच, गांधीवाद की शव परीक्षा, विप्लव-कार्यालय, लखनऊ, १९५२

(१२४) राधाकृष्णन, एस० (संपादक) : महात्मा गांधी- एसेज़ एण्ड रिफ्लेक्शन्स ऑन हिज़ लाइफ एण्ड वर्क, जार्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन, १९३९

(१२५) राधाकृष्णन एस० : कंटम्प्रेरी इंडियन फिलासफी, एलेन एण्ड अनविन, लन्दन, १९३६-१९४० .

(१२६) राधाकृष्णन , एस० : धर्म और समाज, राजपाल एण्ड संस, दिल्ली १९६७.

(१२७) ,, : धर्म तुलनात्मक दृष्टि में , राजपाल एण्ड संस, दिल्ली, १९६६.

(१२८) ,, : गांधी अभिनन्दन ग्रन्थ, सस्ता साहित्य प्रकाशन, नई दिल्ली, १९५५.

(१२९) ,, : जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, राजकमल प्रकाशन, दिल्ली, १९६२

(१३०) ,, : ग्रेट इंडियन्स, हिन्द किताब , बम्बई, १९५२

(१३१) ,, : रिकवरी ऑफ फेथ, एलेन एंड अनविन, लंदन, १९५६

(१३२) ,, (सं०) : महात्मा गांधी १०० इयर्स, गांधी पीस फाउण्डेशन, नई दिल्ली, १९६८.

(१३३) राधाकृष्णन्, डा० : दि रेन ऑफ़ रिलीजन इन कंटमप्रेरी,

मैकमिलन एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९२०

(१३४) रे, बी०जी० : गांधियन एथिक्स, नवजीवन, अहमदाबाद, १९५०

(१३५) रोलैन्ड, रोमैन : महात्मा गांधी (अनु०ग्रंथ), शिवलाल अग्रवाल

एण्ड कम्पनी लिमिटेड, आगरा

(१३६) रानडे, डा० रामचन्द्र दत्तात्रेय : दि कान्सेप्शन ऑफ़ स्प्रिचुअल लाइफ

इन महात्मा गांधी एण्ड हिन्दी सेण्ट्स

गुजरात विद्या सभा, अहमदाबाद

(१३७) रोमे रोलां : महात्मा गांधी, जार्ज एलेन एण्ड अनविन,

लन्दन.

(१३८) राजू, डा० पी०टी० : आइडियलिस्टिक थॉट ऑफ़ इण्डिया

जार्ज एलेन एण्ड अनविन, लन्दन.

(१३९) रे, बिनयगोपाल : कंटमप्रेरी इंडियन फिलासफर्स, किताबिस्तान,

इलाहाबाद, १९४७.

(१४०) लेस्टर, मुरियल : गांधी वर्ल्ड सिटिजन, किताब महल, इलाहाबाद

(१४१) ल्यूबा, जेम्स एच० : दि बिलीफ़ इन गॉड एण्ड इमारटेलिटी, दि

ओपेन कोर्ट पब्लिशिंग कंपनी, शिकागो, १९२१

(१४२) वर्मा, वी०पी० : दि पॉलिटिकल फिलासफी ऑफ़ महात्मा

गांधी एण्ड सर्वोदय, लक्ष्मीनारायण अग्रवाल,

एज्युकेशन पब्लिशिंग, आगरा, १९६५.

(१४३) विनोबा : गीता प्रवचन, सस्ता साहित्य मण्डल, नई दिल्ली

(१४४) शहानी, रंजी : मि० गांधी, दि मैकमिलन कंपनी, न्यूयार्क, १९६१

(१४५) शर्मा, बी० स्वामीनाथन : दि सैन्टिन्यल्स आफ गांधीज़्म, शक्ति कार्यालय, मद्रास, १९४३.

(१४६) शुक्ला, चन्द्रशेखर : कनवर्सेशन ऑफ़ गांधी जी, वोरा एण्ड कम्पनी, बम्बई, १९४९.

(१४७) शुक्ला चन्द्रशेखर : गांधीज़ व्यू ऑफ़ लाइफ़, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, १९५६.

(१४८) शास्त्री, महेन्द्र कुमार(संपादक) : गांधी परिसंवाद, सूचना तथा प्रकाशन संचालनालय, मध्यप्रदेश द्वारा राज्य की गांधी शताब्दी समिति के लिए प्रकाशित.

(१४९) शास्त्री, कमलापति त्रिपाठी : बापू और भारत, सरस्वती मंदिर, जतनबर, वाराणसी, १९४८.

(१५०) शाह, कान्तिभाई : गांधी जैसा देखा-समझा विनोबा ने, सर्व सेवा संघ प्रकाशन, राजघाट, वाराणसी, १९७०.

(१५१) शर्मा, डा० सा०डी० : ए क्रिटिकल सर्वे ऑफ़ इंडियन फिलासफी, राइटर एण्ड कम्पनी, लन्दन, १९६०.

(१५२) शिल्प, पी०ए०(संपादक) : फिलासफी ऑफ़ सर्वपल्ली राधाकृष्णन, ट्युडर पब्लिशिंग कम्पनी, न्यूयार्क, १९५२

(१५३) शीन, विनसेण्ट : महात्मा गांधी, ए ग्रेट लाइफ इन ब्राफ

पब्लिकेशन्स डिवीजन, नई दिल्ली, १९६८

(१५४) शीधरानी, कृष्णलाल : दि महात्मा एण्ड दि वर्ल्ड, ड्यूल, स्लोन एण्ड पियर्स, न्यूयार्क

(१५५) सीतारमैय्या, बी० पट्टाभि : गांधी और गांधीवाद, दो भाग,

किताबिस्तान, इलाहाबाद, १९४३, ४४

(१५६) सेन, एन०बी० : ग्लोरियस थॉट्स ऑफ़ गांधी, न्यु बुक

सोसायटी ऑफ़ इण्डिया, पो०बा०नं० २५०, नई दिल्ली, १९६५.

(१५७) सिन्हा, हरेन्द्रप्रसाद : धर्मदर्शन की रूपरेखा, बुकलैंड प्राइवेट लिमिटेड,

कलकत्ता, पटना, इलाहाबाद, १९६२.

(१५८) सेन, एन०बी० (संपादक) : विट एंड विज़डम ऑफ़ महात्मा गांधी,

न्यु बुक सोसायटी, नई दिल्ली, १९६०

(१५९) डा० पूर्णानन्द : सात महामानव, मेहरचंद लक्ष्मणदास,

संस्कृत हिन्दी पुस्तक विक्रेता, लाहौर.

(१६०) होल्म्स, जे०एच० : मा० गांधी, हारपर एण्ड ब्रदर्स, न्यूयार्क,

१९५३.

(१६१) हैल्थ, कर्ल : गांधी, एलेन अनविन, लन्दन, १९४४

(१६२) हैफ्डिंग, हैरल्ड : दि फिलासफी ऑफ़ रिलीजन, अनु० बी०ई० मेयर, दि मैकमिलन, कम्पनी, न्यूयार्क, १९०६

(१६३) हुसैन, एबिद० एम० : दि वे ऑफ़ गांधी एंड नेहरु, एशिया पब्लिशिंग हाउस, आगरा, १९५८

(१६४) हिरियाना, एम० : आउटलाइन्स ऑफ़ इंडियन फिलासफी, जॉर्ज एलेन एण्ड अनविन लिमिटेड, लन्दन, १९५६